# श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य की संस्कृत-रचनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन

राजस्थान विश्वविद्यालय

की

पी-एच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निदेशक
डॉ. श्यामलाल शर्मा
प्राध्यापक (संस्कृत)
राजकीय कला महाविद्यालय
अलवर (राजस्थान)

शोधकर्त्री
कु. उर्मिल गुलाटी 'दिव्या'

राजकीय कला महाविद्यालय
अलवर (राज.)
1989

श्री गुरुदेव



अनन्त श्री विभूषित (ब्रह्मलीन)
स्वामी श्री अमृतवाग्भवाचार्य जी महाराज
(सं. १९६० से २०३९)

# श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य की संस्कृत-रचनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन

**राजस्थान विश्वविद्यालय**

की

पी-एच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निदेशक
डॉ. श्यामलाल शर्मा
प्राध्यापक (संस्कृत)
राजकीय कला महाविद्यालय
अलवर (राजस्थान)

शोधकर्मी
कु. उर्मिल गुलाटी 'दिव्या'

**राजकीय कला महाविद्यालय**
अलवर (राज.)
1989

## प्राक्कथनम्

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते ।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥

-- महाकवि भवभूति

लौकिक साधु मनुष्यों के शब्द अर्थ के अनुसार चलते हैं किन्तु ऋषियों की वाणी के पीछे अर्थ दौड़ा करता है । संस्कृत वाङ्•मय ऋषियों व साधकों की साधना से परिपूर्ण है । पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति के लिए निर्मित यह वाङ्•मय परम-मोक्ष प्रदान करता है । "ब्रह्म" को इसी कारण "कवि" कहा जाता है । "अक्षर" साधना ही मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है । इसी कारण "सा विद्या या विमुक्तये" की बात उपनिषदों में कही गई है । इस प्रकार के मोक्ष प्रदाता साहित्य एवं भाषा के प्रति रूचि की जाग्रति संस्कारों की प्रबुद्धता पर निर्भर करती है ।

संस्कृत वाङ्•मय के प्रति मेरी रूचि आत्मगत संस्कारों के कारण ही हुई, ऐसा मैं मानती हूं । अल्पायु से ही संस्कृत वाङ्•मय के आदर्श जीवन-मूल्यों के प्रति मेरा रूझान रहा है । अधिस्नातक कक्षा में अध्ययनरत मुझे श्रीमदमृत-वाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान, जयपुर ने स्नातक परीक्षा के संस्कृत विषय में उच्चतम अंक प्राप्ति के कारण पांच सौ एक रूपये के पुरस्कार से सम्मानित किया तथा श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य की कतिपय प्रसिद्ध रचनाएं भी अध्ययनार्थ भेंट की । परीक्षा की तैयारी के साथ-साथ समय निकाल कर मैं उनका अध्ययन करती रही । स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् मेरा विचार शोधकार्य करने का हुआ ।

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य के परम स्नेहभाजक श्रद्धेय डॉ० रामरतन शास्त्री से मैंने आचार्यश्री की रचनाओं पर शोधकार्य करने का विचार-विमर्श किया । डॉ० शास्त्री ने आचार्यश्री के साधक जीवन का परिचय देते हुए मुझे इस शोधकार्य में प्रवृत्त किया ।

राजकीय कला महाविद्यालय, अलवर के संस्कृत विभाग में कार्यरत प्राध्यापक डॉ० श्यामलाल शर्मा की कृपा से मेरा पंजीकरण भी आसानी से हो गया । मैंने सतत लगन के साथ अपने अध्ययन और लेखन में तल्लीन होकर यह कार्य सम्पन्न किया है ।

इस शोधकार्य की सम्पन्नता का कारण मैं गुरूजनों के प्रति सत्त्व-भाव को ही मानती हूं । परमसाधक एवं सिद्ध पुरूष सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य की गूढ़ रचनाओं के विषय में लिखना मेरे जैसी अल्प बुद्धि वाली छात्रा के लिए अत्यन्त कठिन कार्य है, किन्तु आचार्यश्री की कृपा तथा गुरूजनों के मार्ग-निर्देशन से ही यह कार्य सुलभ हो सका है ।

कार्य की सफलतापूर्वक सम्पन्नता के लिए श्रद्धेय गुरूवर्य डॉ० श्यामलाल शर्मा के निरन्तर सहयोग के प्रति मैं अत्यन्त आभारी हूं । उनके सशक्त सुझावों ने मुझे इस कार्य में सतत गति प्रदान की । मान्यवर डॉ० गंगाधर भट्ट के प्रति भी मैं अत्यन्त आभारी हूं उन्होंने समय-समय पर मुझे अपने प्रौढ़ अनुभवों का लाभ प्रदान किया जिससे शोध की नवीनतम तकनीक से मैं परिचित हो सकी ।

"श्रीपीठसैद्ध-दर्शन शोध-संस्थान जम्मू" के निदेशक तथा आचार्यश्री की रचनाओं के समस्त रहस्यों का प्रतिपादन करने वाले डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित के प्रति भी अपना आभार व्यक्त किए बिना नहीं रह सकती । उनका परम सहयोग मुझे इस कार्य की सम्पन्नता में मिला । समय-समय पर पत्र-व्यवहार से मैं अपनी कठिनाइयों का समाधान उनसे करती रही हूं । श्री प्रोफेसर बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते से प्राप्त आचार्यश्री की वंश-परम्परा सम्बन्धी जानकारियों के लिए भी मैं आभारी हूं ।

मैं डॉ० रामरतन शास्त्री के प्रति अत्यन्त आभारी हूँ उन्होंने आचार्यश्री के समस्त ग्रन्थों का आद्योपान्त अध्ययन कराया और अत्यंत गूढ़ विषयों में भी मेरी गति सुगम की । दार्शनिक तत्त्वों की विवेचना में तो मुझे उनके दार्शनिक ज्ञान का पूरा-पूरा सहयोग मिला ।

श्री राधाकृष्ण वरकल शोध-संस्थान के व्यवस्थापक श्री रत्नलाल अग्रवाल के प्रति भी मैं आभारी हूँ उनके सहयोग से मुझे आचार्यश्री के हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हो सके । इस संस्थान ने मुझे सहयोग राशि के रूप में पाँच सौ एक रुपये भी भेंट किए । श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध-संस्थान, जयपुर के संस्थापक श्री दुर्गादित्त जी के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ, उनकी कृपा से मुझे आचार्यश्री के समस्त ग्रन्थ बिना मूल्य चुकाये प्राप्त हो सके तथा श्री स्वाध्याय पत्रिका के सभी अंकों की प्रतियाँ भी उपलब्ध हो सकीं । टंकण कार्य में आर्थिक सहयोग के लिए भी मैं उनकी आभारी हूँ ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में नौ अध्याय तथा परिशिष्ट भाग है । प्रथम अध्याय में कवि के व्यक्तित्व को दर्शाया गया है । वंश-परिचय, शिक्षा, दीक्षा, आध्यात्मिक साधना तथा साहित्यिक साधना ही इस अध्याय का क्षेत्र है । द्वितीय अध्याय में कवि का कृतित्व बतलाया है । उनकी समस्त रचनाओं का संक्षिप्त परिचय भी यहाँ दिया गया है । रचनाओं को दार्शनिक, राष्ट्रवादी, धार्मिक, नीति-विषय तथा विविध कृतियों के रूप में वर्गीकृत किया गया है । तृतीय अध्याय में दार्शनिक रचनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन किया गया है । चतुर्थ अध्याय राष्ट्रवादी रचनाओं के समालोचनात्मक अध्ययन हेतु रखा है और पंचम अध्याय धार्मिक रचनाओं के समालोचनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित है । इसमें शिवस्तोत्र, देवीस्तोत्र, अन्य देव स्तोत्र तथा सिद्धपुरुषस्तोत्र ये चार विभाग किए गए हैं । षष्ठ अध्याय में नीतिविषयक रचनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन

और सप्तम अध्याय में विविध रचनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । अष्टम अध्याय में रचनाओं का काव्यशास्त्रीय अध्ययन और नवम अध्याय उपसंहार का है जिसमें कोकिल कवि की राजनैतिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा दार्शनिक देन का वर्णन है । अन्त में परिशिष्ट भाग दिया है, जिसमें कवि की हस्तलिखित कृतियों की प्रतियां तथा शिष्यों की प्रशस्तियां और संस्मरण रखे गए हैं ।

-----

## विषय - सूची

पृ०सं०

षष्ठ अध्याय - नीतिविषयक रचनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन

श्रीसप्तपदीहृदयम् - चारूसन्देश: - श्रीसूक्तिलहरी - वैद्यानप्रति

सप्तम अध्याय - विविध रचनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन

श्रीवरवलवंशचरितम् - श्रीमदमृतसूक्तिपंचाशिका - श्रीस्वाध्याय-महिम्नस्तोत्रम् - श्रीपितृप्रत्युक्ति - श्रीआत्मचरितम्

अष्टम अध्याय - रचनाओं का काव्यशास्त्रीय अध्ययन

कला पक्ष -- गुण - रीति - मार्ग -- पदलालित्य - शब्दशक्ति - अलंकार-सौन्दर्य - छन्द योजना ।

भावपक्ष - भक्तिरस - वीर रस - शृंगार रस

नवम अध्याय -- उपसंहार

राजनैतिक देन - साहित्यिक देन - सांस्कृतिक देन - दार्शनिक देन ।

परिशिष्ट -

संस्मरण

हस्तलिखित पुस्तकों की फोटोस्टेट प्रति

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची ।

# प्रथम-अध्याय

## कवि का व्यक्तित्व

1. वंश-परिचय
2. जन्म-समय व स्थान
3. दीक्षा
4. शिक्षा
5. विवाह
6. गृह-त्याग
7. आध्यात्मिक साधना
   (क) उपास्य देव
   (ख) पारलौकिक उपलब्धियाँ
   (ग) सिद्ध पुरुषों के दर्शन
8. साहित्यिक साधना
   (क) कृतियाँ
   (ख) शोध-संस्थान
9. देह-विसर्जन

लोकसंसार परमेश्वर की क्रियात्मक प्रक्रियाओं का कार्यस्थल है । सनातन धर्म की परम्परा के अनुसार यहां धर्म की स्थापना हेतु परमेश्वर अनेक प्राणियों के स्वरूपों में अवतार लेते रहते हैं । यदा-कदा परमेश्वर की परमेश्वरिता से युक्त महापुरुष भी इस संसार में प्राणियों को कष्टों से मुक्ति दिलाने के लिए जन्म लेते रहते हैं और अपने श्रेष्ठ एवं अनुकरणीय आचरणों से समस्त मानव जाति का कल्याण करते हैं । इन महान् विभूतियों में कतिपय विभूतियां मानव योनिक से श्रेष्ठ योनियों की भी होती है यथा देव, गन्धर्व, किन्नर आदि । ये विभूतियां अपने लोक से या तो गुरुजन की अवज्ञा के कारण शापमुक्ति के लिए भूलोक पर अवतरित होती हैं अथवा किसी भक्त की भावना से प्रतिबद्ध होकर मानवरूप धारण करती हैं । उनके अपने श्रेष्ठ संस्कार उन्हें इस संसार-सागर में भी कमलवत् रखते हैं । वे अपनी श्रेष्ठ कर्त्तव्यनिष्ठा और विश्वोद्धार की मंगलमयी भावना से अनुप्रेरित होकर इस विश्व को श्रेष्ठ मार्ग का दिग्दर्शन कराते हैं । ऐसी ही एक महान् विभूति विद्याधर लोक से इस पृथ्वी पर अवतरित हुई और अपने तपोनिष्ठ साधनामय जीवन से, सम्पर्क में आने वाले अनेक भक्तों का कल्याण करती हुई ब्रह्मलीन हो गई । इसी महान् विभूति श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य ने स्वयं अपने त्रिविध जन्मों के विषय में लिखा है --

"सोऽहं विद्याधरनिवसनात्प्राप्य मानुष्यमेत-
च्छापाद्भ्रष्टो निजगुरुपदाद्गुर्ववज्ञाजदोषात् ।
राजा भूत्वा प्रथमजनने विप्रबालस्ततो द्वि-
स्तुर्ये जन्मन्यपि पुनरहो ! विप्रभावं गतोऽस्मि ।।"[1]

------------------------

1. श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य स्मृति-ग्रन्थ -
कविपुण्डरीक सम्पूर्णदत्त मिश्र द्वारा लिखित सत्संग का सुख शीर्षक लेख से उद्धृत, पृ० 34.

विद्याधर लोकनिवासी - ये तपोनिष्ठ देव इस पृथ्वी पर "वरकले वंश" के प्रतिष्ठित ब्राह्मण श्रीकृष्ण वरकले के यहां जन्म लेकर अपनी साधना से मानव जाति का कल्याण करते रहे । गृहत्याग के पश्चात् वे सर्वतन्त्र स्वतंत्र श्रीमदभृत-वाग्भवाचार्य के नाम से प्रसिद्ध होकर जनकल्याणार्थ विपुल साहित्य का सृजन करते रहे तथा अपने सम्पर्क में आने वाले भक्तगणों को उपासना के श्रेष्ठ मार्ग दिखलाते रहे । उनका मंझले कद का दैदीप्यमान गौरवर्ण, उस पर धवल श्वेत सरल वस्त्र, लम्बी सफेद दाढ़ी और बाल सहज ही अपने ओर आकर्षित कर लिया करते थे । वे इस युग में एक श्रेष्ठ तपस्वी ऋषि प्रतीत होते थे । अलौकिक तेज से उनके दैदीप्यमान मुखमण्डल के चारों ओर आत्मज्ञान का प्रकाश छाया रहता था । वैदिक व लौकिक संस्कृत वाङ्मय के वे प्रकाण्ड पण्डित थे । धर्म व दर्शन में उनकी अबाध गति थी । तान्त्रिक वाङ्मय के अध्येता ही न होकर वे परमसाधक भी थे । उन्हें सर्वतन्त्र स्वतन्त्र की उपाधि से विभूषित किया गया था । दार्शनिक, राजनैतिक, धार्मिक और साहित्यिक सभी विषयों पर उनका साहित्य संस्कृत वाङ्मय में अपना विशिष्ट स्थान रखता है ।

वंश-परिचय -

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य का जन्म वरकलवंश में हुआ था । इस वरकल वंश के पूर्वज विदर्भ के रहने वाले थे । 13वीं शताब्दी में सन्त ज्ञानेश्वर के समय से ही महाराष्ट्र ब्राह्मणों का काशी में आना शुरु हुआ था और इस पुण्यभूमि के आकर्षण से आकृष्ट होकर वे यहीं बसने लगे । इन्हीं ब्राह्मण परिवारों में कृष्ण यजुर्वेद के आपस्तम्ब सूत्र के अनुयायी "बरकले वंश" का ब्राह्मण परिवार भी था । आचार्य महोदय ने अपने वंश का परिचय देते हुए "वरकलवंशचरितम्" काव्य में स्वयं लिखा है --

अयं वंशः काश्यां वरकल उपाख्यः सुविदितो
विदर्भादायातो व्युशतकतो प्याादिसमये ।

समुत्पन्ना यस्मिन्नमलमतिमन्तः कविवराः
समृद्धिं प्राप्नोतु त्रिपुरजपिशम्भोः करुणया ॥। । ।।[1]

उक्त काव्य के आधार पर वरकलवंश का इतिहास एवं जीवन-परिचय इस प्रकार है -

पूज्यपाद आचार्य महोदय के प्रपितामह श्री रामकृष्ण भट्ट काशी में सर्वोत्तम पण्डित के रूप में प्रसिद्ध थे, वे भागवती कथा करते रहते थे तथा उसी से अपना जीवन-निर्वाह करते। उन्होंने कभी भी कहीं नौकरी नहीं की। धन का लोभ उन्हें किंचित मात्र भी नहीं हुआ, वे सन्तोषीवृत्ति से रहते थे। उनकी पत्नी का नाम लक्ष्मी था। आचार्य पाद ने उनके तपोनिष्ठ जीवन की झांकी प्रस्तुत करते हुए लिखा है --

पुण्यश्लोको निःस्पृहो रामकृष्णो
वाराणस्यां पण्डितानां वरिष्ठः।
लक्ष्मीनामन्या धर्मपत्न्या समेतो
गेहे तिष्ठन् शम्भुपादौ सिषेवे ।।"[2]

श्री रामकृष्ण भट्ट वरकलकुल दीपक थे।[3] उनकी शैव दर्शन में अगाध

---

1. वरकलवंशचरितम्, 13-47.
2. वही, 8-70.
3. "स्मरहरनगरीस्थे विप्रवृन्दे ति मान्यो
वरकलकुलदीपः शैवशास्त्रप्रवीणः।
स्वगुरुसमुपदिष्टां योगयुक्तिं वितन्वन्
समजनि परशम्भोः पूर्णपाकं कृपायाः ।।"

-- वही, 7-47.

गति थी । उनके दो छोटे भाइयों की अल्प आयु में ही मृत्यु हो गई । तीसरे छोटे भाई वामन थे । वामन की संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापक के पद पर नियुक्ति हुई । इस शुभ अवसर पर एक उत्सव मनाया गया । उसमें धतूरे के बीजों सहित भांग को उबाल कर घोटा छाना गया । इसके पीने से कई पण्डित रोगी हो गये, कई मरे और वामनशास्त्री रातों-रात अंधे हो गए । केवल एक रामकृष्ण ही बच गए । उन्होंने भांग के गिलास को मुख के पास लाकर वस्त्रों के अन्दर उडेल देते हुए भंगपान का अभिनय मात्र किया था । इस मर्मान्तिक घटना का श्री रामकृष्ण शास्त्री के मन पर बहुत प्रभाव पड़ा, जिसके कारण उनका मन वैराग्य की ओर प्रवृत्त हो उठा । आचार्य प्रवर ने "वरकलवंशचरितम्" काव्य के ग्यारहवें सर्ग में श्लोक संख्या बाईस से छब्बीस तक इस घटना का विस्तृत वर्णन किया है । रामकृष्ण भट्ट के पूर्वज श्री गोपालभट्ट भी बड़े भारी विद्वान् थे । उनके पितामह सिद्ध पदवी को प्राप्त हुए थे । सम्भवतः चिरंजीवी सिद्ध के रूप में विचरण करते रहे । 83 वर्ष की आयु में वे सन्यासी बने थे । इन्हीं रामकृष्ण भट्ट के दो पुत्र हुए । बड़े भट्ट गंगाधर के नाम से प्रसिद्ध थे । काशी के पण्डितों में वे सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित थे । दक्षिण देश में भीपण्डितसभा मे उन्होंने सर्वोच्च पद प्राप्त किया था । वे भक्त भी थे और विरक्त भी । अल्पावस्था में ही उनकी पत्नी का देहान्त हो गया था । तदनन्तर उन्होंने विवाह नहीं किया । उनके छोटे भाई वैद्यनाथ शास्त्री थे, जो अनेक विद्याओं में निष्णात पण्डित थे । वे अल्पायु में ही शिवधाम सिधार गये । श्री भट्ट गंगाधर ने ही उनकी सन्तानों की देखभाल की । वे इसी से बहुत संतुष्ट रहते थे । श्री वैद्यनाथ शास्त्री के पुत्र श्रीकृष्ण शास्त्री हुए । श्रीकृष्ण शास्त्री उच्चकोटि के विद्वान् थे । उनका अनेक भाषाओं पर पूर्ण अधिकार था । वैदुष्य और सम्पन्नता दोनों ही असीमित रूप से उन्हें प्राप्त थीं । वे राजपुत्रों के अभिभावक व अध्यापक भी रहे । बाद में वल्लभ-सम्प्रदाय के महन्त देवकीनन्दन के यहां भागवत की कथा कहा करते थे । तत्पश्चात् बनारस के शासक ने इन्हें गृहमन्त्री नियुक्त किया । परन्तु उस पद को संभालने के मुहूर्त से कुछ समय पहले ही वे अत्यंत रोगग्रस्त हो गये । अन्तकाल समीप आने की संभावना से आतुर होकर उन्होंने संन्यासदीक्षा ली और कुछ दिनों में ही चित्त समाधानपूर्वक छोटी ही

आयु में शरीर छोड़ दिया । उस समय आचार्यपाद की आयु केवल बारह वर्ष की थी । "वरकलवंशचरितम्" में आचार्य महोदय ने श्रीकृष्ण शास्त्री के देहावसान के विषय में लिखा है --

"वरकलकुलज श्रीकृष्णशास्त्री पिता मे
सपदि विधुतः स्वान् पुत्रदारान् विहाय ।
अविगतविधुवेदाब्दोऽपि सन्न्यस्य तूर्णं
सुरवरनुतकाश्यां शम्भु सायुज्यमाप ।। । ।।

जन्मसमय -
--------

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य का जन्म आषाढ शुक्ल दशमी संवत् 1960 विक्रमी को हुआ । जन्म समय से पूर्व ही आपकी माता श्रीमती राधादेवी अपने पितृगृह प्रयाग में ही थी । आपका मातुलकुल "वेरुलकर" के नाम से विख्यात था । इनके मातुल अच्छे वैदिक विद्वान् थे । पिता महापरमशिव भक्त थे, अतः उन्होंने प्रथम सन्तान का उच्चारण नाम वैद्यनाथ रखा । बालक वैद्यनाथ अपने शैशवकाल से ही कुछ विचित्रताओं को लेकर जन्मे थे । सम्भवतः इनके पूर्वपुरुषों की विशिष्ट साधना का फल इनके अन्तःस्तल को प्रेरित करता रहता था । उनके कथनानुसार उनके कोई प्राचीन पुरुष जो सिद्धावस्था को प्राप्त कर चुके थे (सम्भवतः श्रीरामकृष्ण भट्ट) उन्हें स्वप्नादि में दर्शन देते थे ।

बालक वैद्यनाथ जब तीन वर्ष के थे तभी उनकी पूजनीया मातृश्री श्रीमती राधादेवी का देहांत हो गया । मां के अभाव में बालक के लालन-पालन का भार पितृश्री पर ही आ गया । कुछ समय तक तो वे इस भार को वहन करते रहे, किंतु बाद में उन्होंने दूसरा विवाह कर लिया । उनकी दूसरी पत्नी का नाम श्रीमती रुक्मिणी देवी था । श्रीमती रुक्मिणी देवी ने बालक को पूर्ण मातृस्नेह देकर लालन-पालन किया । माता रुक्मिणी देवी से एक पुत्ररत्न हुआ, जिसका नाम रामचन्द्र वरकले रखा गया । श्रीरामचन्द्र वरकले भी आपस्तम्ब शाखा के वैदिक विद्वान् थे । इनकी मृत्यु भी अल्पायु में ही हो गई ।

दीक्षा -
----

बालक वैद्यनाथ को "श्रीविद्या" की मंत्र दीक्षा उनके पितृश्री पण्डित कृष्ण शास्त्री ने प्रदान की थी । दीक्षित होने के समय से ही देवी "श्रीबाला त्रिपुर सुन्दरी" की उपासना वैद्यनाथ के जीवन का अंग बन गई । उनके उपनयन संस्कार के समय महामहिम श्री गंगाधर शास्त्री भी उपस्थित थे, तथा उन्होंने बालक को आशीर्वाद भी दिया । उपनयन संस्कार के पश्चात् कुछ समय तक उन्होंने अपनी शाखा आपस्तम्ब का अध्ययन भी किया । देवी "श्रीबाला त्रिपुर सुंदरी" के स्तोत्र का पाठ दैनिक उपासना के अतिरिक्त अपनी समस्याओं के समाधान के लिए भी करना उनको लाभप्रद होता था । महामुनि दुर्वासा विरचित देवी 'त्रिपुरास्तोत्र' का तन्मयता से पाठ करते समय महामुनि दुर्वासा स्वयं प्रसन्न हो उठे और उन्होंने प्रकट होकर अत्युत्कृष्ट शाम्भव योग-दीक्षा प्रदान की, जिसकी निरन्तर साधना से इनको अपरोक्ष सत्ता में प्रवेश सुलभ हो गया तथा अनेक दिव्यात्माएं स्वतः ही मार्ग-प्रदर्शन करने लगीं । उस समय उनकी आयु तो अधिक नहीं थी, किन्तु साधनाजनित प्रौढ़त्व उनमें स्पष्ट झलकता था ।

शिक्षा -
----

बालक वैद्यनाथ शैशव से ही तीव्र-बुद्धि-सम्पन्न थे । जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार से इनकी प्रज्ञा अतिशीघ्र अनेक शास्त्रों में अवगाहन करती थी । इनका व्याकरण का अध्ययन महामहोपाध्याय पं॰ नित्यानंद पंत पर्वतीय जी के पास चलता था । श्री पर्वतीय जी श्री गंगाधर शास्त्री एवं बालशास्त्री जी की परम्परा के विद्वान् थे । वे बिना ग्रन्थ देखे गहन धर्मशास्त्रीय निर्णय तत्काल कर देते थे जो सर्वमान्य हुआ करते थे । श्री वैद्यनाथ शास्त्री की रुचि साहित्य, छन्दःशास्त्र तथा काव्य-रचना की ओर बहुत अधिक थी । इस संबंध में वे प्रायः महामहोपाध्याय नारायण शास्त्री खिस्ते जी के पास प्रायः प्रतिदिन होने वाली बैठक में सम्मिलित होते थे । उस समय अनेक प्रकार की काव्यशैलियों का ऊहापोह चलता रहता था । श्री खिस्ते साहब ने उस समवयस्क मित्रमंडली के साथ एक "पिक" काव्य की

शृंखला चलाई, जिसकी प्रथम रचना "पिकाभ्यर्थनम्" स्वयं श्री खिस्तेजी ने रची । उस समय श्री वैद्यनाथ शास्त्री अल्पवयस्क थे उन्होंने भी एक "पिकप्रत्युत्तरम्" लिखा था ।

वैद्यनाथ शास्त्री संस्कृत कॉलेज के छात्र थे, वहाँ पर वे "साधोलाल रिसर्च स्कॉलरशिप" नामक अनुसन्धान वृत्ति के अन्तर्गत कार्य करते थे । उनकी व्याकरणादि शास्त्रों में तो गहन रुचि तथा अबाध गति थी किन्तु धर्मशास्त्र की ओर प्रवृत्ति कम थी । अपने गुरुजन की तथा श्री नारायण शास्त्री खिस्ते जी के परामर्श से वे धर्मशास्त्राचार्य की परीक्षा प्रतिवर्ष देने लगे । उस समय आचार्य परीक्षा छह खण्डों में होती थी । इन्हें प्रतिवर्ष छात्रवृत्ति एवं "सुवर्णपदक" मिलता था, जो धर्मशास्त्र के लिए किसी उदारचेता ने प्रदान किया था । अध्ययन के साथ अनुसंधान, ग्रंथ-सम्पादन, काव्यरचना भी इनकी निरन्तर चलती रहती थी ।

उस समय सुप्रसिद्ध मनीषी महामहोपाध्याय स्वर्गीय गोपीनाथ कविराज संस्कृत कॉलेज के प्रिंसिपल थे । श्री वैद्यनाथ शास्त्री उनके कृपाभाजन थे । विद्या संबंधी संशयों के निवारणार्थ यदा-कदा कर उन्हें दिव्यात्माओं के दर्शन भी उपलब्ध थे ।

विवाह -

स्वर्गीय महामहोपाध्याय श्री नारायणशास्त्री खिस्ते जी के दूर के एक बन्धु थे - श्री राजाराम आकूत । श्री आकूत जी अत्यंत सज्जन थे तथा उस काल में उन्होंने बी-एस·सी· की परीक्षा प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की थी । देशप्रेम व राष्ट्रीय जागरण की भावना से संप्रेरित होकर वे स्वाधीनता आन्दोलन तथा क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आये । परिणामस्वरूप इतनी उच्च एवं विशिष्ट योग्यता के परिणामस्वरूप भी उन्हें सरकारी नौकरी नहीं मिल पाई । तब महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय जी की कृपा से "सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज" में विज्ञान अध्यापक के रूप में नियुक्त किये गये । इन्हीं आकूत जी की ज्येष्ठ कन्या शीलवती के साथ श्री वैद्यनाथ शास्त्री का विवाह सम्पन्न हुआ । शीलवती अपने व्यक्तिगत जीवन में अत्यंत पवित्र एवं साध्वी थीं । विवाह बड़े ही उत्साहमय

वातावरण में सम्पन्न हुआ । योग्य संबंध के कारण बन्धु-बान्धव अत्यन्त प्रसन्न थे । विवाह के समय श्री वैद्यनाथ शास्त्री की आयु 24 वर्ष की थी । इस आयु तक साधना ने उनकी लौकिक एषणायें समाप्त कर दी थीं तथा उनके लौकिक संकल्प-सूत्र भी अन्तर्मुखी होकर समाप्त हो चुके थे । फिर भी ईश्वरेच्छा मानकर ही वे विवाह सूत्र में बंध ही गये थे । तत्कालीन ब्राह्मणों की परम्परा के अनुसार नववधू शीलवती बरात के साथ विदा नहीं की गई और द्विरागमन होने का उन्हें सौभाग्य ही नहीं मिला ।

गृह-त्याग -
--------

विवाह सम्पन्न होने के पश्चात् श्री वैद्यनाथ शास्त्री इस बंधन से उद्विग्न से रहने लगे । वे स्वयं अपने हृदय में प्रभु से मार्ग-दर्शन हेतु आकुलतापूर्वक प्रार्थना करते रहते थे । उनके उद्विग्न मन ने तीर्थाटन करने का निश्चय किया ताकि शांतचित्त से कुछ निर्णय कर सकें । एक दिन वे चुपचाप गृहत्याग कर चले गये । हरिद्वार जाकर उन्होंने शांतचित्त से साधना की और परिवार के पालन-पोषण के भार की भावना से वे घर की ओर लौटने का निश्चय करने लगे तो सहसा रोगग्रस्त हो गये । रोग्रस्त होने की इन अनेक घटनाओं ने उन्हें घर न लौटने का दैवी-सन्देश समझा । उन्हीं दिनों एक दिन गंगा-स्नान करते हुए तैर कर बहुत दूर धारा में वे बह गये । बीच में एक ऐसी मंझधार में फंसे जहां से निकलना अत्यंत कठिन था । साक्षात् मृत्यु को देखकर हताश व व्याकुल होकर वे हृदय से भगवान् से प्रार्थना करने लगे -"भगवान् मुझे बचालो । मैं सारा जीवन तुम्हें ही अर्पित कर दूंगा ।" इसी बीच एक लहर का ऐसा धक्का उन्हें लगा कि वे किनारे पर आ गये । अपने संकल्प पर विचार करके उन्होंने शेष जीवन को प्रभु-अर्पण करने का संकल्प लिया और वे 25 वर्ष की आयु में घर छोड़कर परिव्राजक बन गये ।

उनके इस प्रकार अचानक निर्णय से बन्धुजन भीषण कष्ट का अनुभव करके इधर-उधर छान-बीन में लग गये, किन्तु उनका कहीं भी पता नहीं मिला ।

शोकाकुल इष्टजन अपना धैर्य धारण करके निरन्तर खोजबीन करते रहे । अंत में कुछ दिनों के अथक प्रयत्न के बाद उन्हें कुछ पता मिला, वे उनके पीछे लगे । यह जानकर कि इष्टजन उनकी तलाश में हैं वे अपना स्थान बदल देते थे । उनके जीवित रहने से कुटुम्बियों को कुछ आश्वासन अवश्य रहा ।

प्रभु-समर्पण के दृढ़ निश्चय से वे कठोर तप में लगे गये । महर्षि दुर्वासा से जिस शाम्भवी योग मुद्रा का ज्ञान हुआ था उसी का आश्रय लेकर श्रीविद्या की उपासना में तल्लीन हो गये । इस प्रकार एक लम्बी कालावधि बीतती गयी । माँ भगवती की प्रेरणा से ही उन्हें अचानक अपनी पत्नी की स्मृति हो आई । स्त्रीरूप स्थिता माँ भगवती के इस भक्त ने अपनी पत्नी को एक संदेश लिखा । यह सन्देश इनके मध्य सम्पर्क का मूल बांध कर आया और उन्होंने परिवार से कुछ सम्पर्क करना प्रारंभ किया । किन्तु यह सम्पर्क एक वीतरागी महात्मा की तरह कुछ ही समय का होता था ।

श्री वैद्यनाथ शास्त्री के इस प्रकार गृह-त्याग से उनकी पत्नी को बहुत आघात लगा । उसने तो नवयौवन की देहली पर पैर रखते हुए अपने गार्हस्थ जीवन का मनोरम स्वप्न देखा था । समाज की नाना प्रकार की उपेक्षा अवमानना को विष के समान निगलते हुए उस देवी ने कठोरतम तप में अपना यौवन लगा दिया । कृच्छचान्द्रायण सदृश अनेक कठोर व्रत, निरन्तर जप, तप, भगवत्परायणता ही उसके जीवन का लक्ष्य बन गया था । उनके इस कठोर तप से ही आचार्यपाद का हृदय उस तपोनिष्ठा के प्रति मृदु हो गया और वे स्वयं उनसे मिलने काशी आये ।

अपने गृहत्याग के संबंध में आचार्यपाद ने स्वयं यत्र-तत्र अपनी रचनाओं में चर्चा की है । पूर्णत: संन्यास लेने के बाद उन्होंने अपना नाम परिवर्तन किया । वैद्यनाथ से वे अमृतवाग्भवाचार्य हो गये । "वै" वाणी के देवता को कहते हैं, अत: उन्होंने वाग्भव शब्द के साथ वैद्यनाथ भगवान् शिव के कल्याणकारी स्वरूप अमृत को पूर्वपद बनाते हुए "अमृतवाग्भव" नाम रखा । समस्त तांत्रिक वाङ्मय में उनकी अबाध गति होने के कारण आचार्यत्व की पदवी से सुशोभित थे । इस प्रकार वे अमृतवाग्भवाचार्य के नाम से सर्वत्र माने जाते रहे ।

आध्यात्मिक साधना -

आचार्यपाद का जन्म जिस वंश में हुआ वह परम्परा से ही आध्यात्मिक वंश था । उनके किसी पूर्वज की अनुकम्पा इन्हें शैशवकाल से ही प्राप्त थी । एकांत और शांति उन्हें अत्यंत प्रिय थी । अपने बचपन की झांकी प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि परिवार की परम्परानुसार प्रतिदिन सायंकाल मन्दिर में बैठना तथा शिवमहिम्न स्तोत्र का पाठ करना आवश्यक था । शिवरक्षा, रामरक्षा, गंगालहरी, तथा पंचस्तवी के कतिपय श्लोकों को कण्ठस्थ करके प्रतिदिन प्रार्थना मे बोलना पड़ता था । बालसुलभ चापल्य न्यून मात्रा में था । एकान्त में बैठकर लम्बे-लम्बे निःश्वास लेकर कुछ उदास चित्त रहा करता था । उपनयन संस्कार के पश्चात् "श्रीपंचस्तवी" के "लघुस्तव" का पाठ करना दैनिकचर्या बन गया था । "पंचस्तव" के निम्नलिखित श्लोक को पढ़ने से एक विलक्षण अज्ञात व्याकुलता हो जाया करती थी । एकान्त में पढ़ने पर रोना आने लगता था । रोते-रोते सिसकियां भरने लगती थीं । श्लोक इस प्रकार है --

कल्पद्रुमप्रसवकल्पित चित्रपूजा-
मुद्दीपित प्रियतमामदुरक्तगीतम् ।
नित्यं भवानि! भवतीमुपवीणयन्ति
विद्याधराः कनकशैलगुहागृहेषु ।। ।"[1]

इस श्लोक के अर्थ मनन से उनका आध्यात्म जीवन झंकृत हो उठता और वे निश्चेष्ट हो जाते । महामाया की अनुपम कृपा का ही प्रथम चरण था, जिसने बालक वैद्यनाथ के हृदय में आध्यात्मिक भावों को जागृत किया । गृहत्याग के बाद से उनकी आध्यात्मिक साधना उत्तरोत्तर विकास के पथ पर आगे बढ़ती गई, जिसके फलस्वरूप वे सर्वतन्त्र स्वतंत्र हो गये । समस्त तन्त्र शास्त्रों में उनकी स्वतंत्र गति हो गई ।

---

1. श्री पंचस्तवी.

उपास्यदेव -

आचार्यपाद की दीक्षा "श्रीचक्रविद्या" परम्परा में हुई थी, अत: उनकी उपास्यदेवी माँ भगवती त्रिपुरबाला सुन्दरी ही थी। उन्हीं भगवती से उन्होंने जन्म-जन्मान्तर के कर्म-बन्धनों एवं शापमुक्त होकर पुन: विद्याधरलोक में जाने की बार-बार प्रार्थना की है।[1] अपने जीवन में उन्हें माँ भगवती व भगवान् शंकर के दर्शन भी हुए। जिनका वर्णन अपने काव्यों में उन्होंने बड़ी ही श्रद्धा के साथ किया है। भगवान् परमशिव की आराधना में स्वत: प्रस्फुटित श्लोक "प्रभो। शम्भो। दीनं विहितशरणम्" तो मंत्र बन गया है। यह परशिव प्रार्थना अनेक प्राणियों के कष्टों का अद्यतन हरण करती आ रही है। इस प्रकार शिव और शक्ति के अद्वैत स्वरूप की उपासना ही उनका मूल मन्त्र था।[2]

उपासना की उपलब्धियाँ -

संसार में प्राणी मात्र को अपनी योनियों के परिप्रेक्ष्य में अनेक उपलब्धियाँ होती हैं। मनुष्य समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ है। "नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्" अर्थात् मनुष्य से बढ़कर श्रेष्ठ कोई नहीं। यहाँ तक कि देवता भी मनुष्यरूप को धारण कर इस लोक में सर्वथा विचरण करते रहते हैं। मनुष्य साधना व उपासना से अनेक लौकिक व पारलौकिक उपलब्धियाँ प्राप्त करता है। आध्यात्मिक साधना से प्राप्त उपलब्धियों की सहकारी उपलब्धियाँ लौकिक हैं जो व्यक्ति को देवसम बना देती हैं। श्रीअमृतवाग्भवाचार्य महाराज को भी अनेक पारलौकिक उपलब्धियाँ प्राप्त हुई। उन्होंने साधना की तल्लीनता में सम्पृक्त होकर अपने

~~जन्म-जन्मों~~

1. भ्रामं भ्रामं विविधजननीगर्भगेहान्तरेषु,
श्रान्त: श्रान्तस्तव पदयुगं प्राप्य विश्रान्तिहेतो:।
शान्तस्वान्तश्चरणपतित: प्रार्थये त्वां नितान्तम्,
मातर्मा त: परमनुभवं जन्मनो देहि महनम्॥ - श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, श्लोक 1, पृ0 1.

2. श्रीपरशिव प्रार्थना, श्लोक 1-11, पृ0 9-10.

पांच जन्मों का बोध प्राप्त कर लिया था । जिसका वर्णन वे स्वरचित छन्द में किया करते थे । वह यह है --

"सो हं विद्याधरनिवसनात्प्राप्य मानुष्यमेत-
च्छापाद्भ्रष्टो निजगुरुपदाद्गुर्ववज्ञाजदोषात् ।
राजा भूत्वा प्रथमजनने विप्रबालस्ततो द्वि-
स्तुर्ये जन्मन्यपि पुनरहो । विप्रभावं गतोऽस्मि ।।"[1]

(मैं विद्याधर लोक से आकर मनुष्य बना हूं । विद्याधर लोक में मैंने अपने गुरु की अवज्ञा की थी । उन्होंने मुझे शाप दिया और इसकारण मुझे वहाँ अपने महत्त्वपूर्ण पद से भ्रष्ट होकर धरती पर आना पड़ा । वहाँ से आते ही पहले मैं यहाँ राजा बना । फिर दो जन्मों में ब्राह्मण बालक बना । अब चौथे जन्म में भी मैं यहां ब्राह्मण (अमृतवाग्भवाचार्य) के रूप में विद्यमान हूँ । पांचवें जन्म में उन्हें उत्तरप्रदेश के हरदोई में जन्म लेना था किन्तु मां भगवती की उपासना से उनका जन्म टल गया । अपने शरीरान्त के पश्चात् वे पुन: विद्याधरलोक के निवासी हो गये ।)

इस प्रकार आचार्यपाद को उपासना से अपने जन्म-जन्मान्तरों की गाथाएँ स्मरण हो आई थी, जिसके कारण वे इस संसार में कमलवत् जीवननिर्वाह कर अपने लोक (विद्याधरलोक) को प्राप्त हो गये ।

सिद्ध पुरुषों के दर्शन -

आचार्यपाद को अपने बचपन से ही कुछ अलौकिक दिव्यात्माओं के दर्शन होते रहे हैं । जिनका क्रमिक विवरण इस प्रकार है -- (1) बहुत छोटी आयु पांच वर्ष दस मास के होंगे कि उन्हें स्वप्न में एक बड़ी-बड़ी दाढी व मूंछों वाले वृद्ध के दर्शन हुए । उस वृद्ध ने उनसे महिम्न का पाठ सुना । सुनकर बहुत आनन्दित

---

1. श्रीमदमृतवाग्भवाचार्यस्मृतिग्रन्थ - सत्संग का सुख, कविपुण्डरीक सम्पूर्णदत्त मिश्र, पृ0 34.

भी हुए । यह घटना "क्रमु" नदी के किनारे पर घटित हुई । उस बूढ़े ने उन्हें खूब-खूब चूमा । (2) सोलह वर्ष की आयु में भगवान् दुर्वासा ने स्वयं प्रकट होकर शाम्भवी योग मुद्रा का अभ्यास कराया । (3) कुल्लू प्रदेश की सुलतानपुरी स्थान की एक धर्मशाला में ज्वरपीड़ित आचार्य को तीन महापुरुषों ने दर्शन दिये । उनमें से एक त्रिशूलधारी ने पिपासाकुल उन्हें अपने कमण्डलु से जल पिलाया और त्र्यम्बक मन्त्र का उपदेश दिया । अपने सामने ही उस मन्त्र का कई बार उच्चारण भी कराया । मन्त्र के हृदयांगम होने पर वे तीनों अन्तर्ध्यान हो गये । यह घटना विक्रम सं० 1988 में श्मशानेश्वर के समीप घटित हुई ।[1] (4) विक्रम सं० 1985 में माघ मास की अमावस्या के दिन हिमालय पर्वत की उपत्यका में तीन स्त्रियों सहित एक बांसुरी बजाने वाले व्यक्ति ने उन्हें भूलेहुए मार्ग का सही मार्ग दिखाया और तुरन्त बिजली की तरह अदृश्य हो गये ।[2] (5) वि०सं० 1986 में श्रावण शुक्ल पक्ष चतुर्दशी सोमवार को अमरनाथ की गुफा में दिव्यातिदिव्य ज्योर्तिलिंग के दर्शन पाये ।[3] (6) वि०सं० 1986 आश्विन शुक्ल पक्ष नवमी को शारदादेवी के मंदिर के आंगन में शारदादेवी के साक्षात् दर्शन हुए ।[4] (7) वि०सं० 1986 में कार्तिक्य शुक्ल पक्ष की दशमी को कश्मीर देश के बारामुला स्थान पर रात के समय अपने ही परमेश्वर स्वरूप की अनुभूति से आत्मानंद की अनुभूति हुई ।[5] (8) वि०सं० 1987 में भाद्रपद मास में श्रीनगर में शारिका भगवती के आंगन में एक कश्मीर शिवजी नाम के सिद्ध पुरुष के दर्शन हुए जिसने "मायाकुण्डलिनी" का दार्शनिक और साधनात्मक रहस्य बताया ।[6] (9) वि०सं० 1990 में वैशाख मास में नालागढ़ की एक धर्मसभा

---

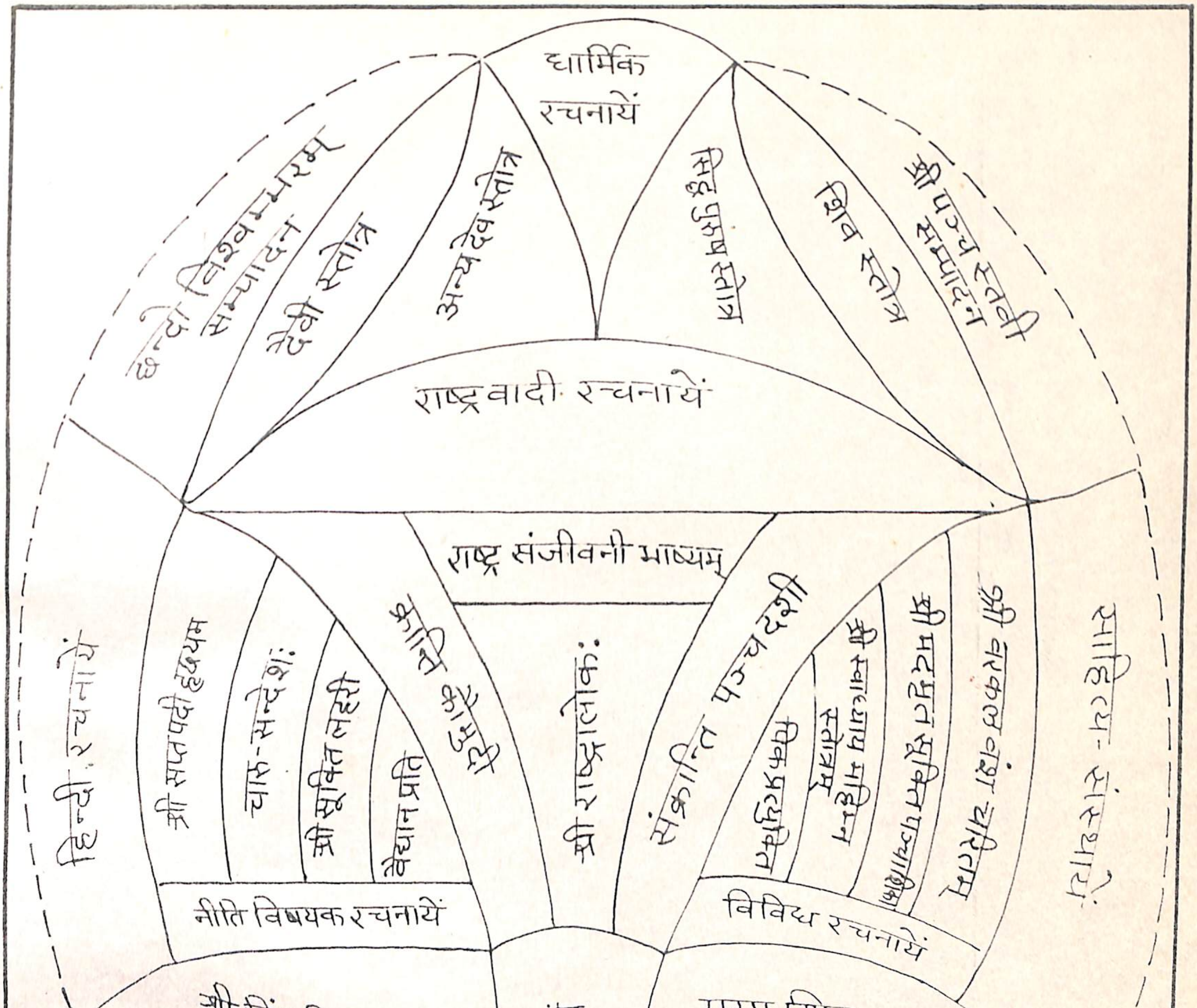
1. श्रीसंजीवनीदर्शनम्, श्लोक 1-47, पृ० 5-23.
2. श्रीदैशिकदर्शनम्, दिव्यदर्शनप्रकरण, श्लोक 2-4, पृ० 78-79.
3. वही, श्लोक 5-12, पृ० 79-81.
4. वही, श्लोक 13-15, पृ० 81-82.
5. वही, श्लोक 16-19, पृ० 82-83.
6. वही, श्लोक 24-26, पृ० 84-85.

में "प्रभो शम्भो" इत्यादि परमशिव श्लोक को सिद्ध मन्त्र की संज्ञा देने हेतु एक दिव्य पुरुष के दर्शन हुए ।[1] (10) वि०सं० 1991 में रोपड़ (पंजाब) नामक नगर में मार्गशीर्ष मास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को जब रोग से अत्यंत पीड़ित होकर अपने शरीर को गंगा में समर्पित करने का भाव आया तो किसी दिव्य पुरुष ने प्रतिज्ञा कराई कि "मैं अपने शरीर को स्वयं नहीं गिराऊंगा"[2] । (11) सं० 2003 में आश्विन मास में ऋषिकुच्छन नामक पर्वत पर विद्यमान होकर आकाश के विस्मयकारी रूप का दर्शन किया ।[3] (12) विक्रम सं० 2004 में आषाढ मास में कनखल नामक तीर्थ पर श्रीदक्षेश्वर के समीप बिरलाघाट पर पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा निर्मित श्रीगंगालहरी नामक स्तोत्र का मधुर स्वर से पाठ करते हुए दिव्यरूपिणी गंगा भगवती के दर्शन हुए । पाठ रुक जाने पर वह अदृश्य हो जाती और पुन: पाठ प्रारंभ करने पर दर्शन देती ।[4] (13) विक्रम सं० 2014 में माघ मास में दिल्ली के बुद्ध मंदिर के पास बैठे हुए अतिसूक्ष्म तंतु वाले परमदिव्य विशालकाय मण्डल को देखा । यह मण्डल शैव और शाक्त त्रिकोणों में विस्तृत था ।[5] (14) वि०सं० 2039 में शरद ऋतु में दिल्ली निवासी श्री देशराज शर्मा के मोती बाग नाम की बस्ती में अपने इष्ट देवतात्मक बालात्रिपुर सुन्दरी के दर्शन हुए । बालिका स्वरूपा उस भगवती के एक पायजेब को भूमि पर गिरने से बचाकर ज्यों ही पहनाने का उपक्रम किया, वे उछल कर अदृश्य हो गई ।[6]

इस प्रकार अनेक दिव्य घटनाओं से आचार्यपाद का पवित्र जीवन परिपूर्ण है । ये घटनाएं सिद्ध करती हैं कि आचार्य परमसिद्ध पुरुष थे । दिव्य आत्मा थे । वे पूर्णरूपेण तपोनिष्ठ ब्रह्मर्षि थे ।

---

1. श्रीदेशिकदर्शनम्, दिव्यदर्शनप्रकरण, श्लोक 32-35, पृ० 86-87.
2. वही, श्लोक 36-43, पृ० 87-89.
3. वही, श्लोक 44-47, पृ० 89-90.
4. वही, श्लोक 48-56, पृ० 90-92.
5. वही, श्लोक 57-63, पृ० 92-99.
6. वही, खिलमाह्निकम्, श्लोक 1-8, पृ० 99-100.




श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य-काव्य-सृष्टि

साहित्यिक साधना -

श्रीआचार्यपाद अपने विद्यार्थीकाल से ही रचनात्मक कार्यों में रुचि लेते थे। तत्कालीन परम विद्वान् महामहोपाध्याय श्री नारायणशास्त्री खिस्ते जी के यहां पर काव्य रचनाकारों की बैठक हुआ करती थी। श्री वैद्यनाथ शास्त्री भी उसमें भाग लेते थे। उनकी रुचि साहित्य, छन्दःशास्त्र तथा काव्यरचना की ओर बलवती थी। उन्होंने उस समय "पिकप्रत्युत्तरम्" नामक काव्य की रचना की।

कृतियां -

आचार्य पाद द्वारा रचित ग्रन्थों की एक लंबी सूची है जिसे विषयक्रमानुसार इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है --

1· दार्शनिक ग्रन्थ -- 1) आत्मविलास, 2) श्रीविंशतिकाशास्त्रम्, 3) श्रीसिद्धमहारहस्यम्, 4) श्री परमशिवस्तोत्रम्।

2· राष्ट्रवादी ग्रन्थ-- 1) श्रीराष्ट्रालोक, 2) श्रीक्रान्तिकौमुदी, 3) श्रीसंक्रान्ति पंचदशी, 4) श्रीराष्ट्रसंजीवनभाष्यम् -श्रीराष्ट्रालोक पर विस्तृत व्याख्या·

3· धार्मिक ग्रन्थ - क) स्तोत्रकाव्य - 1) शिवस्तोत्र - परशिवाष्टक, परशिव प्रार्थना, त्रिगुणेश्वरशिवस्तोत्र, आपूपिकेश्वरस्तोत्र,

2) देवीस्तोत्र -- श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, श्रीदेव्यास्तोत्रम्, बालकं मां पाहि, महानुभव शक्तिस्तव:।

3) सिद्धपुरुषस्तोत्रम् -- श्रीपरशुरामस्तोत्र, श्रीअवधूताभिवादनम्, श्रीसंजीवनीदर्शनम्, श्रीदेशिकदर्शनम्,

4) अन्देवस्तोत्रम् -- श्रीपवनानन्दनाष्टकम्, श्रीमहागुरु श्रीकृष्णस्तोत्रम्, श्रीबालकृष्णदशकम्, श्रीरामाश्वघाटीचतुष्टय·

4) नीतिविषयक रचनाएं  1) श्रीसप्तपदीहृदयम्, 2) चारुसन्देशः, 3) सूक्ति लहरी, 4) वैधाद्य प्रति।

5) अन्य रचनाएं  1) वरकलवंशचरितम्, 2) आत्मचरितम्, 3) माधववर्णनम् 4) छन्दोविश्वम्भरम्, 5) स्वाध्यायमहिमस्तोत्रम्, 6) पिकप्रत्युक्ति, और 7) श्रीमदमृतसूक्तिपंचाशिका।

इस प्रकार कुल 35 रचनाएं हैं। इन सभी रचनाओं का वर्ण्य विषय शोध-प्रबंध के द्वितीय अध्याय में दिया गया है।

शोध-संस्थान -

आचार्यपाद ने साहित्यिक सेवाओं के लिए कई शोध संस्थानों की स्थापना की (1)सर्वप्रथम उन्होंने संवत् 1998 में हिमाचलप्रदेश के सोलन नामक स्थान पर श्री स्वाध्याय सदन की स्थापना की। श्री स्वाध्याय सदन ने त्रैमासिक पत्र श्री स्वाध्याय का प्रकाशन प्रारंभ किया। इस पत्र के संस्थापक वे स्वयं थे और सम्पादक श्री पण्डित हरदेव शर्मा त्रिवेदी ज्योतिषाचार्य रहे। यह पत्र 16 वर्ष तक निरन्तर प्रकाशित होता रहा। सदन की अन्य प्रवृत्तियों में वाचनालय, शिक्षणालय आदि भी थे (2) श्रीपीठम् षड्दर्शनशोध संस्थानम् की स्थापना कश्मीर में की गई। जो अब जम्मू में स्थापित हो गया है। कश्मीर शैव दर्शन के परम विद्वान् पण्डित बलजिन्नाथ जी आजकल इसमें निदेशक के रूप में कार्य कर रहे हैं। यह संस्थान शैव और शाक्त परम्परा के जिज्ञासु छात्रों को शोध-कार्य भी कराता है। (3) श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान, जयपुर में स्थापित है। इसके व्यवस्थापक पंडित दुर्गादत्त जी हैं जो कि आचार्य पद के श्रेष्ठतम शिष्यों में से हैं। यह संस्थान संस्कृत के मेधावी छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान करता है। प्रतिवर्ष स्थान-स्थान पर संस्कृत की प्रतियोगिताएं कराता है और पुरस्कार देता है। इसके अतिरिक्त आचार्यपाद के व्यक्तित्व व कृतित्व से

सम्बन्धित रचना कार्य भी कराता है । इस सम्य आचार्यपाद के श्री राष्ट्रालोक पर लिखित श्रीराष्ट्रसंजीवनीभाष्य का अनुवाद एवं प्रकाशन का कार्य किया जा रहा है । (4) श्री विद्वद्वरकल्प श्री राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान, नई दिल्ली में स्थापित है । इसके व्यवस्थापक श्री रत्नलाल ~~जैन~~ अग्रवाल हैं । यह संस्थान प्रतिवर्ष संस्कृत के उत्कृष्ट एवं तपोनिष्ठ विद्वानों का सम्मान करता है । इसके अतिरिक्त संस्थान शोधकार्य के लिए भी प्रस्तावित योजना बना रहा है । आचार्यपाद की पुण्य स्मृति दिवस पर प्रतिवर्ष आकर्षक आयोजन एवं भंडारे की व्यवस्था भी की जाती है ।

इस प्रकार वर्तमान में तीन शोध-संस्थान आचार्यपाद की साहित्यिक सेवाओं के प्रमाणस्वरूप आज पूर्णतः सक्रिय हैं ।

देह-विसर्जन -

पूज्यपाद आचार्यश्री ने अपनी इहलोक लीला बुधवार कार्तिक शुक्ल, अक्षय नवमी सं0 2039 वि0 दिनांक 24 नवंबर 1982 को संवरण की । इस समय उनकी आयु का 80वां वर्ष चल रहा था । दूसरे दिन 25 नवंबर 1982 को उनके पार्थिव शरीर को शिष्यों, भक्तों एवं प्रेमियों द्वारा श्रद्धापूर्वक हरिद्वार जाकर नीलधारा में प्रवाहित कर दिया गया ।

---

# द्वितीय-अध्याय

## कवि का कृतित्व

1. कृतियों का वर्गीकरण
   (क) दार्शनिक कृतियाँ
   (ख) राष्ट्रवादी कृतियाँ
   (ग) धार्मिक कृतियाँ
   (घ) नीति-विषयक कृतियाँ
   (च) विविध कृतियाँ
2. कृतियों का सामान्य परिचय
   (क) रचना का समय
   (ख) रचना का स्थान
   (ग) रचना का प्रकाशन
   (घ) वर्ण्य-विषय

काव्यसृष्टि महती साधना है । इस तपश्चर्या में स्थित होकर साधक ब्रह्मलीन सदृश आनन्दातिरेक से अभिभूत हो जाता है । यहाँ पूर्णतः अद्वैत की अखण्ड धारा अविरल गति से प्रवाहित होकर साध्य और साधक के द्वैत को सर्वथा विस्मृत कर देती है । कवि को इसीलिए ब्रह्मा के समान माना गया है । कवि की सृष्टि को तो ब्रह्मा की सृष्टि से भी श्रेष्ठ बतलाया है । आचार्य मम्मट के मंगलवचनानुसार --

"नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।।"[1]

अर्थात् नियति के द्वारा निर्धारित नियमों से रहित, केवल आनन्दमात्रस्वभावा, अन्य किसी के अधीन न रहने वाली तथा नौ रसों के योग से मनोहारिणी काव्य-सृष्टि की रचना करने वाली कवि की वाणी (माँ सरस्वती) सर्वोत्कर्षशालिनी है । उस माँ भारती की सर्वत्र जयजयकार हो ।

इस प्रकार की रचना सृष्टि में तल्लीन कवि का साधक होना काव्य की दिव्यता में और वृद्धि करता है । आराधना से बुद्धि विशुद्ध होती है । विशुद्ध बुद्धि इहलोक से परे परलोक के दिव्य चिन्तन में निरन्तर संलग्न होकर आत्मा का आभास कराने में सहयोग देती है । आत्मा का व्यापक रूप परमात्मा है । परमात्मा प्राप्ति ही जन्म-जन्मान्तरों के बन्धन से मुक्ति दिलाकर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करती है । यही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है । दिव्य-शक्ति से संयुक्त

---

1. काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, प्र.उ. की प्रथम कारिका.

होकर जब साधक काव्य-रचना करता है तो वह रचना धर्मार्थकाममोक्ष प्रदायिनी होती है । आचार्य भामह ने अपने काव्य प्रयोजन को प्रस्तुत करते हुए लिखा है--

"धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ।।"[1]

अर्थात् उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों तथा समस्त कलाओं में निपुणता और कीर्ति एवं प्रीति अर्थात् आनन्द को उत्पन्न करने वाली होती है ।

इस प्रकार के काव्य-सृजक कतिपय ही हुए हैं जिन्होंने कीर्ति तथा प्रीति के अतिरिक्त पुरुषार्थ चतुष्टय, कला तथा व्यवहार आदि में निपुणता प्राप्ति हेतु काव्य रचना की है । आचार्य अमृतवाग्भव ऐसे ही महान् कवि हैं जो साधक की महती भूमि में साधना करते हुए भी लोककल्याण के लिए अपनी काव्य-रचना करते रहे । उनकी रचनाएं "अर्थकृते" से बहुत परे की हैं । स्वयं उन्होंने अपनी रचनाओं को भक्तों के कल्याण हेतु सृजित माना है ।[2] उनका काव्य शरीर सर्वदा अक्षुण्य बना रहेगा । आचार्य भामह ने लिखा है --

---

1. आचार्य भामह, काव्यालंकार, 1,2.

2. क॰ हिताया स्तिकलोकानां वर्णयामि समासतः ।
नत्वा तत्पादयुगलं तदवृत्तं विस्मयावहम् ।। ---
श्रीपरशिवप्रार्थना सिद्धमहामन्त्रप्राप्तीतिहासः श्लोक 2, पृ० 9.

ख॰ श्री सम्प्रदायोक्तनयक्रमेण सारत्यवेतोहरमात्मशम्भोः ।
ये प्रत्यभिज्ञारसमाप्तकामास्ते ग्रन्थमेनं परिशीलयन्तु: ।। -श्रीसिद्धमहारहस्यम्, सम्मतिः, पृ०2.

ग॰ श्रीमातुःकरुणार्थना स्तुतिरियं क्षेम्यामृतवाग्भवेन रचिता भूयात् सतां प्रीतये ।
--श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, श्लोक 74, पृ० 32.

घ॰ दृष्ट्वा राष्ट्रियपारतन्त्र्यनिगडच्छेदेन तोषावहो
राष्ट्रालोक उदारबुद्धि विषयः स्वातन्त्र्यदीक्षागुरुः ।
ये संसारसमुन्नतिं हृदयतो वाञ्छन्ति तेषां कृते
आचार्य मृतवाग्भवेन रचितो ग्रन्थो यमत्यद्भुतः ।।-श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 108, पृ०104.

च॰ श्रीसप्तपदीहृदयं प्रणीय शास्त्रानुकूलमर्थनः ।
वाञ्छति विश्वोद्धारं श्रीमदमृतवाग्भवाचार्यः ।।-श्रीसप्तपदीहृदयम्, श्लोक 23, पृ० 59.

"उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम् ।
आस्त एव निरातंकं कान्तंकाव्यमयं वपुः ।।"[1]

अर्थात् उत्तम काव्यों की रचना करने वाले महाकवियों के दिवंगत हो जाने के बाद भी उनका सुन्दर काव्य-शरीर "यावच्चन्द्रदिवाकरौ" अक्षुण्य बना रहता है ।

दुःख, शोक, अभावादि से संतप्त कितने ही भक्तजन आचार्य महोदय की रचनाओं का पाठ करके त्रिविध ताप से मुक्त होते हुए देखे गये हैं । उनकी परशिव प्रार्थना "प्रभो । शम्भोदीनं विहितशरण··" से तो असंख्य नरनारियों को मनोवांछित फलों की प्राप्ति हुई है ।

श्री आचार्यपाद ने अपनी अमृतवाणी को स्वयं लिपिबद्ध करके संस्कृत वाङ्मय के प्रति अटूट श्रद्धा प्रकट की है । उनके द्वारा रचित विविध विषयों पर 34 रचनाएं प्राप्त हैं । इनमें कुछ मुद्रित हैं और कुछ अमुद्रित । अपने जीवनकाल में जो शोध-संस्थान उन्होंने स्थापित किये, वे अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार इन रचनाओं के मुद्रण का कार्य कर रहे हैं । आचार्य महोदय की कवित्वबीज रूप शक्ति का उदय विद्यार्थीकाल में ही हो गया । वैद्यनाथ शास्त्री के नाम से प्रख्यात ये महोदय समस्यापूर्ति तथा मुक्तककाव्य रचना किया करते थे । उनकी पिक प्रत्युक्ति उसी काल की साधना है । विषयक्रमानुसार उनकी रचनाओं को चार भागों में बांटा जा सकता है -- जो आगे पृष्ठ पर दर्शाया गया है ।

इस प्रकार आचार्य पाद ने विक्रम संवत 1985 से 2021 तक संस्कृत भाषा के माध्यम से सर्वजनसुखाय एवं सर्वजनहिताय अप्रतिम साहित्य देकर देववाणी के अक्षय भण्डार में स्तुत्य संवृद्धि की है । इन सभी रचनाओं का सामान्य परिचय इसी अध्याय में प्रस्तुत किया जायेगा ।

## रचनाओं का वर्गीकरण

| दार्शनिक रचनायें | राष्ट्रवादी रचनायें | धार्मिक रचनायें | नीतिविषयक रचनायें | विविध रचनायें |
|---|---|---|---|---|
| 1.श्री आत्म विलास: | 1.श्री राष्ट्रालोक: | | 1.श्री सप्तपदी हृदयम् | 1. वरकल वंश चरितम् |
| 2.श्री विंशति का शास्त्रम् | 2.श्री क्रान्ति कौमुदी | | 2.चारु सन्देश: | 2. श्रीमद्‌भूत सूक्ति पंचाशीका |
| 3.श्री सिद्ध महा-रहस्यम् | 3.श्री संक्रान्ति पन्चदशी | | 3.सूक्ति लहरी | 3. श्री स्वाध्याय महिम्न स्तोत्रम् |
| 4.श्री परम शिव स्तोत्रम् | 4.श्री राष्ट्र संजीवन भाषयम् | | 4.वैधान प्रति | 4. श्री पिक् प्रत्युक्ति |
| | | | | 5. श्री आत्मचरितम् |

| 1. शिव स्त्रोतम् | 2. देवी स्तोत्रम् | 3. अन्य देव स्तोत्रम् | 4. सिद्ध पुरुष स्तोत्रम् |
|---|---|---|---|
| क॥श्री परशिवाष्टकम् | क॥श्री मन्दाक्रान्ता स्तोत्रम् | क॥श्री पवननन्दनाष्टकम् | क॥श्री परशुराम स्तोत्रम |
| ख॥श्री परशिव प्रार्थना | ख॥श्री देव्या: स्तोत्रम् | ख॥श्री महागुरु श्रीकृष्ण स्तोत्रम् | ख॥श्री अवधूताभिवादनम् |
| ग॥श्री त्रिगुणेश्वर स्तोत्रम् | ग॥बालकं मां पाहि | ग॥श्री बालकृष्ण दशकम् | ग॥श्री संजीवनी दर्शनम् |
| घ॥श्री आपूपिकेश्वर स्तोत्रम् | घ॥ श्री महानुभव शक्तिस्तव | घ॥ श्री रामाश्वघाटी चतुष्टयम् | घ॥श्री देशिक दर्शनम् |

### छन्द - शास्त्रम्

श्री छन्दोविश्वम्भरम्

### सम्पादन कार्य

1. श्री ललिता सहस्रम्
2. श्री पन्चस्तवी

दार्शनिक रचनाएं -

1) श्रीआत्मविलास

रचना का समय --

इस ग्रन्थ का निर्माण कार्य सं0 1987 विक्रमी में श्रावण शुक्ल पक्ष चतुर्दशी शुक्रवार को पूर्ण हुआ ।

2. रचना का स्थान -

काश्मीर प्रदेश के ध्वाल ग्रामवासी कण्ठभट्ट नामक एक ब्राह्मण की प्रार्थना पर प्रकृत ग्रन्थ की रचना की । ज्येष्ठ मास, शुक्ल पक्ष, नवमी मंगलवार को इसकी सुन्दरी नामक व्याख्या भी आचार्य महोदय ने लभुराम के द्वारा लिखवाई ।

3. रचना का आकार -

विषय-वस्तु की दृष्टि से इसमें छः प्रकरण हैं । जिनमें कुल 127 श्लोक हैं । इसमें प्र थम प्रकरण मंगलाचरण के 22 श्लोक हैं तथा शेष पांच प्रकरण -- सच्चिदानन्द स्वरूप निरूपणम्, स्वातन्त्र्य निरूपणम्, महाक्रिया निरूपणम्, नैर्मल्यानिरूपणम्, पूर्वकर्तृत्व निरूपणम् में प्रत्येक में 25-25 श्लोक तथा अंतिम प्रकरण में 9 + 3 = 12 श्लोक हैं ।

4. वर्ण्यविषय -

ग्रन्थकार आचार्य महोदय को भगवान् दुर्वासा मुनीश्वर की अपार कृपा से जो राजयोग की दीक्षा प्राप्त हुई, उसी के अभ्यास में निरन्तर तल्लीन आचार्य - प्रवर ने इस ग्रन्थ की रचना की ।

प्रथम प्रकरण मंगलाचरणात्मक है, परन्तु साथ ही साथ सारे ग्रंथ के संक्षिप्त सार का निर्देश भी इसमें किया गया है ।

दूसरे प्रकरण में परमतत्त्व की सच्चिदानंद रूपता का प्रतिपादन तर्क-वितर्क की युक्तियों से अच्छी प्रकार से किया गया है ।

तीसरे प्रकरण में परमेश्वर के परिपूर्ण स्वातन्त्र्य का तथा स्वातन्त्र्य की महिमा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है ।

चौथे प्रकरण में विद्या और अविद्या की लीलाओं के द्वारा विलास करती हुई परमेश्वर की स्वभावभूता महाविद्या के स्वरूप पर पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का भली-भांति यथातथ्य प्रतिपादन किया गया है ।

पांचवे प्रकरण में आपेक्षिक निर्मलता और सांसारिक समलता का आभासन कराने वाली नित्य क्रीडनशीला पारमेश्वरी परिपूर्ण निर्मलता के स्वरूप और स्वभाव का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है ।

छठे प्रकरण में सीमित कर्त्तृत्व और आपेक्षिक अकर्तृत्व का निरूपण करते हुए परमेश्वर के उस परिपूर्ण कर्तृत्व का स्पष्टीकरण किया गया है, जिसके लीलाविलास ही उन आपेक्षिक कर्तृत्व और अकर्तृत्व का आभासन नाट्यकला के अभिनय की तरह हुआ करता है ।

इन सभी प्रकरणों में निचली कोटि के अधिकारियों के लिए उपयुक्त स्थूलदर्शी दर्शनों के सिद्धांतों का युक्तियुक्त विश्लेषण, परीक्षण और आलोचन तथा समालोचन आदि किया गया है ।

अंतिम प्रकरण में ग्रन्थकार ने अपना परिचय देते हुए ग्रंथ निर्माण के और व्याख्या रचना के इतिहास का वर्णन किया है ।

इस ग्रन्थरत्न की सर्वोत्कृष्ट महिमा यह है कि इसके वर्णन में कल्पनाओं का आश्रय न लेकर साक्षात् अनुभूत वस्तु तत्त्व का स्पष्टीकरण सूक्ष्मतम तर्कशैली में प्रस्तुत किया है ।

यह ग्रन्थ विद्वानों का अत्यंत प्रियभाजन है ।

"श्रीविंशतिकाशास्त्रम्"

१. रचना का समय -

इस ग्रंथ का निर्माण सं० 2008 विक्रमी में श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी तिथि को शुक्रवार के दिन किया गया ।

2· रचना का आकार -

इस ग्रंथ में कुल 23 श्लोक हैं। अंतिम तीन श्लोकों में ग्रन्थ का अभ्यास करने के अधिकारी, ग्रन्थ की रचना का समय तथा ग्रन्थ-निर्माण हेतु आग्रह का वर्णन किया है। शेष बीस श्लोक विषय का प्रतिपादन करते हैं।

3· वर्ण्य-विषय -

इस ग्रन्थ में विज्ञानस्वरूपिणी पारमेश्वरी अपरिमिता आत्मशक्ति का वर्णन किया है। इस शक्ति के द्वारा ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय का भाव तत्त्व प्रकाशित हो जाता है। इस भाव तत्त्व को प्रकाशित करने वाले आचार्य ब्रह्म-स्वरूप ही हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप आत्मशक्ति का स्फुरण होता है तथा बन्ध, निग्रह, मोक्ष, अनुग्रह के रूप में उसका लीला वैचित्र्य। यह जगत आत्मशक्ति के विमर्श का ही विस्तार है। सर्जन, रक्षण और संहारपूर्वक निग्रह और अनुग्रह करती हुई भी भगवती सदा अपने समरसानन्द स्वरूप में स्थित रहती है। उस स्वरूप के महान् अनुभव में निमग्न रहती है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति -- ये तीन अवस्थाएं आत्मशक्ति के द्वारा अपने स्वरूप में ही कल्पित हैं। इन्हीं अवस्थाओं में लोक का व्यवहार होता है। विश्वों का स्फुरण विवेकीजन के लिए लीलामात्र है। आनन्द धन और अद्वैतस्वरूप आत्मशक्ति के विमर्शरूप चमत्कार से विश्वलोकों का उदय होता है। परमात्मा ही इसका कर्त्ता है। वह कवि की भांति काव्य-जगत के अन्य रूपों में सर्वथा व्याप्त रहता है। परमात्मा का यह विश्व-काव्य दृश्य-काव्य है, जिसे रूपक अथवा नाटक भी कहते हैं। परमात्मा ही स्वयं दर्शक, अभिनेता आदि बनकर विश्व नाटक की सृष्टि करता है और स्वयं, उसके रस का आस्वादन करता है। प्रकाशरूप "बिन्दु" वाङ्मय का बीज है। बिन्दु का ही विस्तार रेखा और वर्ण हैं। वर्ण ही मिलकर पदों और वाक्यों की रचना करते हैं। उन्से ही ग्रन्थों का रूप बनता है। अतः समस्त वाङ्मय बिन्दु का ही विस्तार है। बिन्दु आत्मा का प्रकाश

है । बिन्दु परमात्मा के "अहं विमर्श" की संज्ञा है । बिन्दु का भाव अन्तर्मुख है । वह जिस शक्ति के द्वारा विश्वरूप अथवा वाङ्मय रूप धारण करता है उस शक्ति का नाम आगमों में "विसर्गशक्ति" है । "विसर्ग-शक्ति" परमात्मा की विचित्र और चमत्कारमयी सृजनात्मक शक्ति ही है । उसे "कला" भी कह सकते हैं । विश्व और वाङ्मय उस विसर्गशक्ति रूप कला की ही सुन्दर रचना है । अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों के द्वारा उस शब्द-रूप वाङ्मय में महान् अर्थ के रूप में शिव ही स्फुरित होता है । इन शक्तियों के वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य भावों के द्वारा परमात्मा प्रकाशित होता है । उसकी यह अभिव्यक्ति परवश न होकर स्वतंत्र है । क्रम, अक्रम और विक्रम न होकर स्वतंत्र है । क्रम, अक्रम और विक्रम इन तीनों ही प्रकार से विश्वकाव्य में परमात्मा के रस की अभिव्यक्ति होती है । वह परमशिव आत्मानंदरूपणी तथा अमृतरूपिणी बिन्दु और विसर्ग की महिमा से अति समृद्ध बनी हुई अपनी परम रमणीय शक्ति ललिता नामक कला के लालित्य में निमग्न रहता है । ऐसे शिव और शक्ति परमानन्द स्वरूप का जो साधक अन्तर्मुख आत्मबोध के रूप में स्थिर रहेगा वह स्वयं आनन्द से परिपूर्ण हो जायेगा । उसमें न आसक्ति रहेगी और न ममता तथा वह शांत भाव को प्राप्त होगा । कोई कामना शेष न रहने के कारण वह यदृच्छा भाव से जीवन व्यतीत करेगा ।

"श्रीसिद्धमहारहस्यम्"

प्रकाशक -- श्रीपीठ सैद्ध-दर्शन, शोध संस्थान, जम्मू, वि०सं० 2040.

1. रचना का समय -

इस कृति की रचना विक्रम सं० 2020 में चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि को बुधवार के दिन सम्पन्न हुई ।

2. रचना का आकार -

यह कृति आठ आह्निकों में विभाजित है । इसमें कुल 162 कारिकाएं हैं ।

4. वर्ण्य-विषय -

इस कृति में सिद्धों की परमाद्वैत शैव-दर्शन विद्या के अनेकों रहस्यमय दार्शनिक सिद्धांतों को नवीन और अद्भुत ढंग से प्रकाशित किया गया है । इसका प्रथम आह्निक उपोद्घात है जिसमें ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय को अत्यंत संक्षिप्त रूप से व्यक्त किया है । दूसरा आह्निक मंगलाचरण है । इसमें इष्टदेव, गुरुवर्ग तथा उपास्य देववर्ग को प्रणाम करते हुए शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन किया है । तीसरे आह्निक में सिद्धदर्शन के अनेक मूल सिद्धांतों पर पराद्वैतमयी दार्शनिक दृष्टि के अनुसार प्रकाश डाला है । मूल तत्त्व न तो शक्ति है और न शिव । वस्तुत: मूल तत्त्व समस्त परमेश्वरी शक्तियों का एक घन स्वरूप है तथा सभी नामों और रूपों से उत्तीर्ण है । शक्ति उसका सारभूत तत्त्व है । इस कृति में आचार्य महोदय ने इस तत्त्व को बतलाने के लिए एक नवीन शब्द का निर्माण किया जिसे "शाक:" कहा गया है । यह शब्द शक् धातु से बना है । जिसका तात्पर्य है "शकनं शाक:" अर्थात् परिपूर्ण सामर्थ्य । यह शब्द एक ओर दिव्य सामर्थ्य को प्रकट करता है तो दूसरी ओर अपने पुल्लिंग भाव परमेश्वरात्मक परतत्त्व का बोध कराता है ।

तृतीय आह्निक में प्रपंच के विविध आकारों की अपेक्षा से विविध आयामों में इस "शाक" नामक मूलभूत परतत्त्व के स्वभाव का वर्णन किया है । प्रपंच के सभी पदार्थ वर्ग वस्तुत: शाकरूप ही है क्योंकि "शाक" नामक परतत्त्व ही अपने लीलाविलास के द्वारा उन सभी पदार्थ वर्गों के रूप में प्रकट हो सकता है । यह "सकना" ही शक् धातु का अर्थ होता है । यही एक घन रूप परतत्त्व है जो अकेला ही समस्त प्रपंच का बीज है, आधार है और सर्वोत्कृष्ट सार है । परमेश्वर की स्वभावभूत शाकरूपता से ही इसका आभास होता है । यही आभासन लीला ही उसकी परमेश्वरता है ।

चौथे आह्निक में अपने प्रधान गुरु और प्रधान उपास्य देवता का पुनः स्मरण किया गया है । उन्हीं के अनुग्रह से ग्रन्थकार को शैवदर्शन के सूक्ष्मतर सिद्धांतों अनायास ही उद्बुद्ध हो गये और उनके वास्तविक स्वरूपों का ज्ञान उनके तन्त्रतम में जाग उठा ।

पांचवें आह्निक में "शाक" नामक मूलतत्त्व के लीलात्मक वैभव का वर्णन किया गया है । छठे आह्निक में शैव सिद्धों में प्रचलित अनेक योग प्रक्रियायों पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है । अंतिम श्लोकों में महामुनि भगवान् दुर्वासा द्वारा सिखाई गई शाम्भवी योग विद्या का निरूपण किया है । इसी विद्या के निरंतर अभ्यास से उन्हें शैवदर्शन का परम अद्वैत सिद्धांत अनायास ही साक्षात् हो उठा । इसके लिए आनुषांगिक फल भी प्राप्त हुए । अनेक दिव्य पुरुषों के दर्शन भी होते रहे ।

सातवें आह्निक में उन्हीं दिव्य दर्शनों का वर्णन किया है -

1) विक्रम सम्वत् 1985 में माघ मास की अमावस्या के दिन मार्ग से भटक जाने पर हिमालय पर्वत की एक उपत्यका में तीन स्त्रियों सहित एक पुरुष को बांसुरी बजाते देखा तथा भटके हुए मार्ग से सही मार्ग को बतलाकर अदृश्य हो जाना ।

2) वि० सं० 1986 में श्रावण शुक्ल पक्ष की दिवा चतुर्दशी सोमवार के दिन अमरनाथ जी की गुफा के भीतर आकाश और पृथ्वी पर्यन्त व्याप्त एक दिव्यादि दिव्य ज्योतिर्लिंग का दर्शन होना ।

3) वि०सं० 1986 में आश्विन शुक्ल पक्ष की नवमी के दिन भगवती शारदा माता के दर्शन करना ।

4) वि०सं० 1986 में कार्तिक शुक्ल पक्ष की दशमी को कश्मीर देश में बारामूला स्थान पर अपने ही भीतर अपने वर्तमान जन्म के इस शरीर को देखना ।

5) अनेक बार परशिवात्मक "संकना" के रूपों में आभास होना ।

6) वि०सं० 1991 में रोपड़ (पंजाब) में मार्गशीर्ष मास के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी को ज्वर से पीड़ित होने के कारण अपने शरीर को गिराने के निश्चय से एक दिव्य पुरुष द्वारा उपदेश देकर कर्म-फल-भोग के लिए प्रेरणा देना ।

7) वि०सं० 2004 में आषाढ़ मास में कनखल नामक तीर्थ पर श्री गंगालहरी स्तोत्र का पाठ करते हुए देवी गंगा का साक्षात् दर्शन करना ।

8) वि०सं० 2014 में माघ मास में दिल्ली में बुद्ध मंदिर के पास चार अद्भुत नाद और गति वाले मण्डलों को देखना । ये शैव और शाक्त त्रिकोणों के आकार में फैले हुए थे ।

आठवां आह्निक उपसंहार का है । इसमें श्रीविद्या के सम्प्रदाय का शिवरूप प्राप्ति का साधन इस सिद्ध महारहस्य को बतलाया है तथा अपने गुरुवर्य महर्षि दुर्वासा के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है जिनकी कृपा से उन्हें यह सब कुछ प्राप्त हुआ है ।

श्रीपरमशिवस्तोत्रम् -

1. कृति का समय - इस कृति की रचना वि०सं० 1983 में आश्विन महीने के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को गुरुवार के दिन हुई ।

2. स्थान - यह रचना कवि ने अपने घर वाराणसी में रची । उस समय आचार्यपाद को वैद्यनाथ शास्त्री के नाम से जाना जाता था ।

3. आकार -- इस स्तोत्र में कुल 45 श्लोक हैं ।

4. वर्ण्य विषय -

स्तोत्र के प्रथम दो श्लोकों में अपने सद्गुरु भगवान् दुर्वासा मुनीश्वर की आराधना की है । सद्गुरु की कृपा से परमेश्वर के विलास का ज्ञान होता है । आचार्य पाद ने अपने सद्गुरु की कृपा से परमशिव के विलास श्री का आभास किया

है । परमशिव का एक नाम वैद्यनाथ भी है । कवि का नाम भी वैद्यनाथ ही था, अतः अपने नाम संबोधन के साथ ही अपने ही स्वरूप में उन्हें परमशिव के दर्शन हुए हैं ।

परमेश्वर बहिर्मुखता अभिव्यक्त करने के लिए लीलाविलास करता है इसे ही क्रीड़ा कहते हैं । इसके पांच अंग हैं -- सृष्टि, स्थिति, संहार, विधान और अनुग्रह । अपनी लीला-विलास से अनन्त रूपों में स्वयमेव प्रकट होना ही सृष्टि है । युगयुगान्तरों और कल्पों तथा महाकल्पों तक इस सृष्टि को चलाते रहने के कृत्य को स्थिति कृत्य कहते हैं । समय-समय पर परमेश्वर द्वारा कार्य तत्त्वों का अपने-अपने कारण तत्त्वों में विलय करना संहार कहलाता है । अल्पज्ञ तथा अल्प-शक्ति सम्पन्न साधारण से साधारण जीव से लेकर उच्चस्तरीय प्राणी के रूप में चौरासी लाख योनियों के अन्तर्गत घूमता हुआ परमेश्वर का स्वरूप तिरोधान होता है इसे ही विधान कहते हैं । इन योनियों में भ्रमण करते हुए अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान करवाने की क्रीड़ा अनुग्रह कृत्य कहलाती है ।

इन पांच अंगों से युक्त पारमेश्वरी लीला के भीतर परमेश्वर जिन-जिन असंख्य रूपों में प्रकट होता रहता है उनके छत्तीस वर्ग सिद्ध-दर्शन विधा ने निश्चित किए हैं । ये छत्तीस वर्ग छत्तीस तत्त्व कहलाते हैं । इन छत्तीस तत्त्वों से परिपूर्ण परमेश्वर ही परमशिव कहलाता है ।

छत्तीस तत्त्वों में सर्वप्रथम स्थूल पंचमहाभूत आते हैं । वे हैं -- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश । इनकी अभिव्यक्ति पांच स्थूल तत्त्वों से होती है, उन्हें पंच तन्मात्र तत्त्व कहते हैं । ये हैं -- गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द । ये दस प्रमेय तत्त्व कहलाते हैं । इनका आविर्भाव तमोगुण प्रधान अहंकार से होता है । इनके उपर रजोगुण प्रधान अहंकार में से प्रकट होने वाले पांच कर्मेन्द्रिय स्थान हैं । वे हैं -- उपस्थ, पायु, पाद, हस्त और वाणी । इन पांच कर्मेन्द्रियों के द्वारा आनन्द की अनुभूति, मलत्याग, गमन, ग्रहण और भाषण

की क्रियाएं होती हैं। इनके ऊपर पांच ज्ञानेन्द्रियों का स्थान है। उनकी सृष्टि सत्वगुण प्रधान अहंकार से होती है। ये तत्त्व हैं -- घ्राण, रसना, नेत्र, त्वचा और कर्ण। ये ज्ञानेन्द्रियां क्रमशः गन्ध, स्वाद, रूप, स्पर्श और शब्द के ज्ञान-प्राप्ति का साधन बनती हैं। इन सभी इन्द्रियों का स्वामी मन है। वह भी अहंकार से ही उत्पन्न होता है। उसका काम है - वस्तु के विषय में नामों और रूपों की कल्पना करना। इन तत्त्वों का ऐसा क्रम सांख्यशास्त्र और काश्मीर शैवदर्शन में भी समान रूप से मिलता है। पूज्यपाद आचार्य श्री ने सिद्ध-विद्या के अनुसार कुछ परिवर्तन कर - इन पंच तन्मात्रों का स्थान दस इन्द्रियों से ऊपर और मन से नीचे माना है। इस क्रमानुसार पहले पंच तन्मात्रों की सृष्टि होती है फिर ज्ञानेन्द्रियों की, तत्पश्चात् कर्मेन्द्रियों की और तदनन्तर पंचभूतों की। आचार्य महोदय के अनुसार मन और बुद्धि एक ही तत्त्व हैं। अन्तःकरण के विषय के प्रति उन्मुख बहिर्मुखी स्वरूप को मन तथा आत्मा के प्रति उन्मुख अन्तु अन्तर्मुखी स्वरूप को बुद्धि कहते हैं। विषयभूत वस्तु के अनेकों सम्भव नाम - रूपों की कल्पना करना मन का कार्य है और नामरूप का निश्चय करना बुद्धि का कार्य। कृत्रिम और कल्पित अहंभाव रूपी अभिमान ही अहंकार कहलाता है। इस अहंकार के उद्गम का स्रोत महत्तत्त्व है। यह एक समष्टि रूप बुद्धि तत्त्व होता है। बुद्धितत्त्व एक-एक प्राणी के निश्चय कराने वाले अपने-अपने बुद्धिरूपी अन्तःकरण का नाम है। महतत्त्व मूल प्रकृति का सत्त्वगुण प्रधान परिणाम है। तीन गुण (सत्त्व, रज, तम) की साम्यावस्था प्रकृति में 23 तत्त्व अज्ञात रूप से समाये रहते हैं। प्रकृति का वेदक व चेतन तत्त्व पुरुष तत्त्व है। इस प्रकार 25 तत्त्वों के अतिरिक्त ।। तत्त्वों की खोज सैद्ध-दर्शन के द्वारा की गई। परमशिव ही प्रतिविम्बवत् इन 36 तत्त्वों का प्रमाता है। उसकी क्रमिक अभिव्यक्ति इस प्रकार है --

पारमार्थिक सत्य तत्त्व "परमशिव अपने अन्दर" अहं" के रूप में विद्यमान विश्व को "इदं" के रूप में प्रतिबिम्बित करके प्रमाता के रूप में पुरुषतत्त्व तथा

तथा प्रमेय के रूप में प्रकृति तत्त्व बनकर प्रकट होता है । जिन्हें शिव तत्त्व और शक्तितत्त्व कहते हैं । "अहम् इदम्" के रूप में वह "सदाशिवतत्त्व" होता है । "इदम् अहम्" के रूप में "ईश्वरतत्त्व" और अभेदावस्था की स्थिति में "शुद्धविद्या तत्त्व" होता है । प्रकृति-पुरुष की भिन्नता का आभास कराने वाले लीलामय मायातत्त्व को "मलिनतत्त्व" कहते हैं । ये मायास्वरूप मलिन तत्त्व "कंचुक" कहलाते हैं जो छः हैं -- {1} माया का किंचित् ज्ञान सामर्थ्य "कला", {2} सीमित ज्ञान सामर्थ्य "अशुद्ध विद्या" {3} संकुचित ज्ञान सामर्थ्य "राग", {4} काल की सीमा में बंधे रहने की स्थिति "कालिक" {5} प्राणी की कला, अशुद्ध विद्या और राग के प्राकृतिक नियमों से संकुचित भाव "नियति" तथा, {6} स्वयं "माया" मिलकर छः कंचुक हैं । शुद्ध तत्त्व पाँच और छः कंचुक ये ग्यारह तत्त्व हुए । 25 तथा ।। मिलकर इन छत्तीस तत्त्वों को ही सिद्धजन एकमात्र परमेश्वर के रूप में देखते हैं ।

शैव दर्शन की इस परम-अद्वैत दृष्टि का आश्रय लेते हुए आचार्य महोदय ने प्रकृत स्तोत्र में छत्तीस तत्त्वों के रूप एक स्वात्मपरमेश्वर की स्तुति की है तथा साथ ही उन तत्त्वों के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है ।

## राष्ट्रवादी रचनाएं -

### श्रीराष्ट्रालोक -

रचना का समय -

इस ग्रन्थ की रचना वि०सं० 1990 में हुई ।

रचना का आकार -

मूल ग्रंथ में 108 कारिकाएं हैं । जिनमें राष्ट्रवाद के समस्त विषयों को विस्तार से वर्णित किया गया है ।

रचना का प्रकाशक -

श्रीस्वाध्याय सदन, सोलन (शिमला), वि0सं0 2005.

वर्ण्य-विषय -

श्रीराष्ट्रालोक "राष्ट्रवाद" को लक्ष्य कर रचा गया है । इस पर आचार्य-पाद ने "श्रीराष्ट्रसंजीवन" भाष्य भी लिखा है । यह ग्रन्थ संसार को व्यावहारिक स्वातंत्र्य की प्राप्ति का मार्ग दिखाता है और साथ ही पारमार्थिक स्वातंत्र्य की इच्छा को भी अंकुरित करता है । स्वातंत्र्य ही मोक्ष है । ग्रन्थ की मूल कथा-वस्तु इस प्रकार है --

प्रथम कारिका में स्वराष्ट्र को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चारों पुरुषार्थों का साधन तथा पूर्वजों का उत्पत्ति स्थान मान कर बारम्बार प्रणाम किया है ।

राष्ट्र की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि समान संस्कृति वाले लोगों की जितनी पितृ-पुण्य भूमि होती है, उतनी भूमि को घेर कर एक "राष्ट्र" कहा जाता है । पितृ-भूत्व तथा पुण्य-भूत्व के कारण ही राष्ट्र में अपनापन होता है । पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति कराने वाला स्वतंत्र-स्वराष्ट्र ही श्रेष्ठ कहलाता है । राष्ट्र का हितचिंतन ही मनुष्य की सच्ची राष्ट्र सेवा है । राष्ट्र पर बलिदान न देने वाले, मात्र अपना कल्याण चाहने वाले, राष्ट्रद्रोही मनुष्य राष्ट्र का अहित ही करते हैं । राष्ट्रशिक्षा से स्वयं व राष्ट्र दोनों को ही लाभ मिलता है । राष्ट्रीय ज्ञान सम्पन्न पुरुषों के सम्पर्क से दुःख नष्ट हो जाते हैं । परराष्ट्र संबंध, सेना और कोष सब प्रकार से जिस राष्ट्र में राष्ट्रियों के हाथ में होता है, वह राष्ट्र ही स्वतंत्र होता है ।

भाषा के संबंध में आचार्य महोदय का कहना है कि सर्वप्रथम अपनी मातृभाषा तदनन्तर राष्ट्रभाषा, तत्पश्चात धर्मग्रन्थ भाषा, तदनन्तर राष्ट्र को पोषण करने वाली अन्यान्य भाषाओं का अभ्यास करना चाहिए । प्रत्येक ग्राम में विद्यालय

स्थापित किये जाने चाहिए । सुन्दर रमणीक स्थान पर महाविद्यालय खोले जायें । बीस वर्ष तक प्रत्येक बालक को शिक्षा दी जावें । आठ वर्ष की आयु से ही उसके आरोग्य के संरक्षण हेतु कुशल वैद्यों से परामर्श किया जावे । अध्यापक योग्य तथा प्रौढ़ होने चाहिए । बालिकाओं को गृहस्थ संबंधी ज्ञान देना अनिवार्य है ।

राष्ट्र-बालकों को तीनों शक्तियों से सम्पन्न, शान्त, नम्र, नीति में विशेष निपुण, समदर्शी अपने रक्त का पोषण राष्ट्र-हित में समर्पित करने वाले तथा राष्ट्रभाषा व धर्म भाषा में निपुण बनाया जाये । राष्ट्र की उन्नति के लिए गांव-गांव में राष्ट्रभाषा व धर्म्य-भाषा के पुस्तकालय खोले जायें । वाचनालय तथा समाचार पत्र-पत्रिकाओं की व्यवस्था हो । नवीन साहित्य का सृजन हो । राष्ट्र-ज्ञान का प्रचार करने वाली सुन्दर परिषदों का निर्माण हो । विशेष पर्व और माहात्म्य पर देशभक्ति संबंधी गीत गाये जावें ।

राष्ट्र नेता को राष्ट्रभाषा तथा धर्म ग्रन्थों का ज्ञान होना चाहिए । श्रेष्ठ सभासदों से एक राष्ट्र-परिषद् बनाई जाये । राष्ट्र-परिषद् समुचित वृत्ति देकर श्रेष्ठ लोगों से राष्ट्र-कार्य कराये । भृति-प्रथा को नष्ट किया जावे । पंगु, अन्धे, बहिरे, अशक्त तथा रोगी जो भी राष्ट्रिय हों उन्हें वृत्ति दी जानी चाहिए । आत्म-चिन्तन, बुद्धिमान तथा राष्ट्रसेवा के अतिरिक्त किसी को भी भीख मांगने की अनुमति न दीजाये । यातायात हेतु सुगम निर्भय तथा दृढसेतु वाले मार्ग बनाये जायें । पशुओं को चारागाह तैयार किये जायें ।

राष्ट्र के संचालक राष्ट्रज्ञानी, दूरदर्शी, राष्ट्र के योगक्षेत्र की चिंता में कुशल तथा तत्त्वदर्शी होने चाहिए । कुबुद्धि, दुर्भग पुरुष राष्ट्र का नाश कर देते हैं । उत्कोच लेने वाले राष्ट्रद्रोही, व्यसनी, अभिमानी तथा राष्ट्र को भोग्य समझने वाले शासक अयोग्य होते हैं । सुख की इच्छा वाले तथा अभिमानी पण्डित निंदनीय होते हैं । परराष्ट्रों से मिलकर आपसी युद्ध कराने वाला पापी होता है, उसे राष्ट्र से निष्कासित कर देना चाहिए । राष्ट्र की सम्पूर्ण आय के दशमांश से

ही राष्ट्रकोष की वृद्धि की जानी चाहिए । राष्ट्र को प्रभावशाली बनाने हेतु राष्ट्रकाली, राष्ट्रलक्ष्मी तथा राष्ट्रसरस्वती - ये तीनों शक्तियां सेवनीय हैं । शान्तिपूर्ण क्रान्ति (संक्रान्ति) का ही पालन करना चाहिए । अशान्तिपूर्ण क्रान्ति का नहीं । स्वराष्ट्र को अपने रुधिर से तृप्त करने वाले सदैवसंक्रान्ति का पालन करने वाले लोग ही श्रेष्ठ है, वे ही धन्य हैं ।

## श्रीक्रान्तिकौमुदी -

### रचना का परिचय -

यह रचना अमुद्रित है । आचार्यपाद के एक विशेष बस्ते से श्री रत्नलाल जैन, दिल्ली के यहां से इसे प्राप्त किया गया ।

### रचना का समय -

यह रचना श्री राष्ट्रालोक के पश्चात् लिखी गई । इसके विषय प्रतिपादन से सम्बन्धित श्रीराष्ट्रालोक में श्लोक संख्या 88 से 91 तक में वर्णन मिलता है । इन्हीं चार श्लोकों को ध्यान में रखकर ही यह रचना रची गई है । श्रीसंक्रान्तिपंचदशी के "प्रस्तावना" में इस रचना के मंगलाचरण को स्वयं आचार्यपाद ने उद्धृत किया है । श्रीराष्ट्रालोक वि0सं0 1990 की रचना है और श्रीसंक्रान्तिपंचदशी वि0सं0 2003 की रचना है । श्रीक्रान्तिकौमुदी इन्हीं के मध्य की रचना सिद्ध होती है ।

### रचना का आकार -

यह रचना 6" x 9" के आकार के छः पृष्ठों में लिखी गई है । मंगलाचरण श्लोकबद्ध है । शेष रचना गद्य में लिखी गई है । छः पृष्ठों में 151 पंक्तियां हैं ।

### वर्ण्य-विषय -

क्रान्ति परशिव रूप में जसकृत के लिए होती है । वह सनातनी है । वह संसार का प्रतिपत्ति मूल है । क्रान्ति की आचार्यश्री ने कई प्रकार से इस रचना में व्याख्या की है । प्रत्येक व्याख्या के पीछे दार्शनिक पृष्ठभूमि है । व्यावहारिक पक्ष

का दार्शनिक पृष्ठभूमि से सामंजस्य करके क्रान्ति को विश्व शान्ति के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है। पूर्वा परस्यत्यागग्रह ही क्रान्ति है। परिचाल ही क्रान्ति है। अहम् अहोस्म आत्मविलास रूपिणी आर्या पराभैरवी ही भगवती क्रान्ति है। ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न सम्दृष्टि वाले तत्त्वदर्शी लोग इसे "निपुण" के रूप में निरूपित करते हैं। क्रान्ति के क्रम-अक्रम और विक्रम से उपासक सर्वदा कल्याण को प्राप्त होते हैं। वह दो प्रकार की है आर्या और अनार्या। सभी प्रकार से सभी के साथ भद्रता का अवलम्बन कराने वाली आर्या और सभी प्रकार से एक का कल्याण चाहने वाली अनार्या क्रान्ति कहलाती है। अनार्या अनार्यों द्वारा उपासनाएं होती हैं वह पारतन्त्र्य प्रदान करती है। स्वातन्त्र्य प्रदान कराने वाली आर्यों द्वारा उपासनीय आर्या कहलाती है।

श्रीसंक्रान्तिपंचदशी

रचना का समय -

इस काव्य की रचना वैशाख शुक्ला पंचमी चन्द्रवार विक्रम सं0 2003 को हुई।

रचना का आकार -

इस कृति में मात्र पन्द्रह श्लोक हैं।

प्रकाशक -

राजपण्डित श्री गोविंदमिश्र, वौकुर्जा, भरतपुर, वि0सं0 2027.

वर्ण्य-विषय -

इस लघु रचना में क्रान्ति के मूल आदर्शों को भली भांति उपस्थित किया गया है। संक्रान्ति संसार का कल्याण करती है।

संक्रान्ति शब्द सं + क्रान्ति से बना है। क्रान्ति का अर्थ है किसी परिवर्तन की अभिलाषा से हलचल का प्रादुर्भाव। इसके साथ सं + का संयोग सम्यक् का बोधक है। अत: संक्रान्ति का अर्थ होता है - वैध क्रान्ति। राष्ट्रहित इसी संक्रान्ति

के द्वारा साध्य हो सकता । संक्रान्ति के बिना मनुष्य धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता । संक्रान्ति देवी ही समस्त भुवनों की मूलाधार है । यही सर्वभूतहितकारिणी है । संक्रान्ति अतिगूढ रूप से जगद्गुरु एवं विश्ववन्द्य आर्यों की हृदय गुहा में छिपी रहती है । इस पर किसी का नियंत्रण नहीं । यह सर्वतन्त्र, स्वतंत्र और अतिनिर्मला है । सर्वप्रथम संक्रान्ति यज्ञरूप में प्रकट हुई । भगवती संक्रान्ति स्वातन्त्र्य की जन्मदात्री है तथा वह पारतन्त्र्य को समूल नष्ट कर देती है । यह वीरवृन्द वन्दनीय जागृति की जननी है । इस जागृति से अन्याय का अन्त और न्याय की व्यवस्था होती है ।

वीरों में वीरत्व का अविरल स्रोत तथा अविचल धैर्य संक्रान्ति से ही प्राप्त होता है । यह भय और कायरता को दूर करती है । यह कल्पलता है तथा समस्त भवभयों का शमन करने में समर्थ है । समस्त कामनाओं की पूर्ति तथा सर्वसम्पदाओं की रक्षा भी इसी के द्वारा हो सकती है । संक्रान्ति सत्पुरुषों की रक्षा के लिए अक्षय कवच है । दुष्टों का दमन करने के लिए अजेय, अस्त्र और कलिकाल के पातकों से समृद्ध दुष्टों को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए साक्षात् महिषासुरमर्दिनी, असुरनिकन्दिनी माँ दुर्गास्वरूप है ।

संक्रान्ति दारिद्र्य को नष्ट कर देती है । दुर्मनस्कता और दुर्भाग्य इसके सम्मुख भागे-भागे फिरते हैं । यह दुश्चिन्ता को नष्ट कर देती है । संक्रान्ति ही महान् दुर्भिक्ष का समूल शमन कर देती है । यह संसार से अज्ञान और पाखण्डों को समूल नष्ट करके संसार की कल्याणकारिणी बनती है ।

संसार में केवल संक्रान्ति ही सर्वप्रकार के कलिमलों को नष्ट करने में समर्थ है । इसीलिए सत्पुरुषों में श्रेष्ठ विमर्श, प्रज्ञान में तीव्र बुद्धि वाले शुभ कल्याणकारी नीति के पुन: पुन: प्रचारार्थ भगवती संक्रान्ति का ही आश्रय ग्रहण करते हैं । संसार में शान्ति स्थापना करने हेतु सहृदय तथा सुबुद्धि लोगों द्वारा सम्मानित और दुर्बुद्धियों को दुष्प्राप्य आर्यप्रिय स्वातंत्र्य केवल संक्रान्ति के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है । इसलिए स्वातन्त्र्य प्रिय सहृदय महानुभाव इसकी शरण में जाकर ही राष्ट्र-कल्याण कर सकते हैं ।

श्रीशिवस्तोत्रम् -

1· श्रीपरशिवाष्टकम् -

रचना का समय -

इस स्तोत्र की रचना वि०सं० 1986 में ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि को रविवार के दिन की गई ।

रचना का स्थान -

प्रकृत रचना गंगा के तट पर की गई ।

रचना का आकार -

इस स्तोत्र में कुल दस श्लोक हैं जिनमें से आठ स्तोत्रों में परमशिव की प्रार्थना की गई है ।

प्रकाशक -

विद्वद्वरकल श्रीराधाकृष्ण धार्मिक संस्थान, दिल्ली, वि०सं० 2040·

वर्ण्य-विषय -

परमशिव अपने भक्तों की पालना में भावयुक्त रहते हैं । वे भस्म की शुभ्र कान्ति से युक्त हैं । उनके ललाट पर द्वितीया का चन्द्र विराजमान है तथा बाईं ओर पार्वती जो उन्हीं के शरीर के अर्द्ध रूप बन गई हैं । परमशिव की भावना से संयुक्त होकर समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं तथा स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर भी निर्मल बन जाते हैं । समस्त वासनाएं दलित हो जाती हैं । शाम्भव योग मुद्रा में स्थित साधक पराशक्ति से युक्त परमशिव को भावपूर्वक ग्रहण करता है ।

"श्रीपरशिवप्रार्थना"

रचना का समय -

इस प्रार्थना की रचना वि०सं० 1990 वैशाख मास में की गई ।

रचना का स्थान -

रचनाकार ने यह रचना हिमाचल प्रदेश के नालागढ धर्मसभा भवन में रची ।

रचना का आकार -

रचना में एक परमशिव सिद्ध मन्त्र है । इस मंत्र के इतिहास में आचार्य महोदय ने 11 श्लोकों की और रचना की है ।

प्रकाशक -

रविशर्मा त्रिवेदी, जी-18, दिलशादकालोनी, शाहदरा, दिल्ली, वि०सं० 2035.

वर्ण्यविषय -

रचना में मूलत: एक श्रीसिद्ध महामन्त्र है । जिसमें सर्वशक्तिमान् भगवान् शंकर की महिमा का वर्णन किया गया है । भगवान् शिव समस्त संसार का कल्याण करने वाले हैं । जीवात्मा रूप भक्त उनके चरणों में दीन भाव से जाकर अपने उद्धार की कामना करते हैं । यह संसार विषयरूपी भयंकर विषधर सर्पों से परिपूर्ण है । भगवान् शिव की कृपा से ही इनसे बचा जा सकता है । परम-सदाशिव अपने भक्त को पुत्र की तरह आत्मीय बना लेते हैं । यदि भक्त अपने विशुद्ध मन से हाथ जोड़कर नतमस्तक होकर भगवान् की शरण में जाता है तो भगवान् उस दीन पुत्र को अपना प्रश्रय देकर समस्त पापों से मुक्त कर देते हैं ।

इस सिद्धमंत्र प्राप्ति की पृष्ठभूमि में रचनाकार ने वर्णन किया है --

सायंकाल को नित्य-कृत्य समाप्त करके प्रात:काल बनाये श्री शिव के प्रार्थना श्लोक "प्रभो । शम्भो ....... ." में अशुद्धि पर विचार ही कर रहा था कि अकस्मात एक ओर नीचे लटक रहा, पहले हुए, रोओं के गुच्छों से भरे हुए

छिद्र वाले बड़े-कान जिनके थे ऐसे पुरुष प्रकट हुए । उनका वर्ण पूर्ण चन्द्रमा की तरह चमकीला था । सम्पूर्ण शरीर में घुंघराले बाल भरे थे । आंखों की पुतलियां बिजली की चमक से भी अधिक चमकीली थी । ऐसे उन अज्ञात महापुरुष ने अपनी तर्जनी अंगुली को ऊंची उठाकर घुमाते हुए बड़ी गर्जना के साथ कहा --"यह श्लोक अशुद्ध नहीं है । इसमें कोई परिवर्तन नहीं करे" । ऐसा कहकर वे अदृश्य हो गये । अपौरुषेय होने के कारण यह मन्त्र सिद्ध महामंत्र हो गया है ।

"त्रिगुणेश्वरशिवस्तोत्रम्"
==================

रचना का समय -
-------------

इस स्तोत्र की रचना वि०सं० 2022 में हुई ।

रचना का स्थान -
-------------

यह रचना सरांय कालेखां दिल्ली में निर्मित शिव मन्दिर में नर्मदेश्वर शिवलिंग की प्रतिष्ठा करने के अवसर पर की गई थी ।

रचना का आकार -
---------------

इस स्तोत्र में दस श्लोक हैं ।

प्रकाशक -
-------

श्री विद्वद्वरकल श्रीराधाकृष्ण धार्मिक संस्थान, दिल्ली, वि०सं० 2040.

वर्ण्य विषय -
---------

यह शिवस्तोत्र समस्त सुख वैभवों को सम्पन्न कराने वाला है ।

भगवान् शिव के कपोल तल दर्पण के समान चिकने और चमकीले हैं, नासिका सुन्दर है, कण्ठ नीलवर्ण का है, बाहु अजगर के समान मोटे और विशाल है । वे पद्मासन में विद्यमान रहते थ हैं । हाथी की ताजा चमड़ी उनका वस्त्र है । माथे पर चन्द्रमा की कला और सर्पों का यज्ञोपवीत धारण किये हैं । वह त्रिगुणात्मक परम-शिव ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन तीनों कारणों से उत्तीर्ण है । ऐसे भगवान् शिव की कवि ने स्तुति की है ।

"आपूपिकेश्वरस्तोत्रम् "

रचना का समय -

इस स्तोत्र की रचना वि०सं० 2023 में की गई ।

रचना का स्थान -

हलवाईयों के संगठन ने भरतपुर में एक धर्मशाला का निर्माण किया और वहां शिवालय की प्रतिष्ठा कराई । इस स्तोत्र की रचना उसी अवसर पर की गई ।

प्र रचना का आकार -

प्रकृत रचना में पांच श्लोक हैं ।

प्रकाशक -

विद्वद्वरकल श्रीराधाकृष्ण धार्मिक संस्थान, दिल्ली, वि०सं० 2040.

वर्ण्य-विषय -

आपूपिक हलवाई को कहते हैं । जिनमें हलवाई लोगों के कल्याण हेतु भगवान् शिव से प्रार्थना की है । उनकी सुख-समृद्धि एवं कल्याण की निरंतर अभिलाषा की गई है ।

ख· देवीस्तोत्र -

।ॢ श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्र -

रचना का समय -

इस स्तोत्र की रचना वि०सं० 1988 में कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष दशमी तिथि सोमवार के दिन की गई ।

स्थान -

यह रचना काश्मीर मण्डल के अन्तर्गत स्थित बारामूला नामक नगर के भगवती शैलपुत्री के तीर्थ पर निवास करते हुए तैयार की गई ।

आकार -

इस स्तोत्र में कुल 74 श्लोक हैं जो मन्दाक्रान्ता छन्द में रचे गये हैं ।

प्रकाशक -

श्रीपीठ सैद्ध दर्शन शोध संस्थान, जम्मू, वि०सं० 2037·

वर्ण्य विषय -

यह एक अत्यंत मनोहारी देवी स्तोत्र है । इसमें सिद्धों की दर्शन विद्या के कुछ रहस्यों तथा माँ भगवती के रूप सौन्दर्य को अतीव शुद्ध मधुर भाषा के माध्यमसे चित्रित किया गया है । देवी जगदम्बा के वाङ्मय, कामराज और शाक्त बीजों का वर्णन तथा उनकी उपासना के रहस्यों का उद्घाटन अत्यंत कलात्मक कवित्व शक्ति के माध्यम से हुआ है । आचार्य महोदय ने श्री दुर्वासाकृत त्रिपुरामहिमस्तोत्र और ललिता स्तवरत्न तथा श्रीयुत जगद्गुरु शंकराचार्यकृत सौन्दर्यलहरी और कवि कालिदास-कृत कुमारसम्भव की स्मृति करके काव्य में सर्वत्र देवी स्वरूप की महिमा का मनोहारी वर्णन किया है । कई नवीन कल्पनाओं के द्वारा देवी के अंगों का वर्णन अत्यंत सरस हुआ है ।

कवि ने माँ भगवती से अत्यंत विनम्र स्वर के साथ विभिन्न योनियों में भ्रमित न होने की प्रार्थना करके अपने पापों से मुक्ति की अभिलाषा की गई है । भगवती की कृपा से ही चित्त और बुद्धि निर्मल होते हैं । करुण मूर्ति भगवती

देवी अपने दोनों हाथों से अभय मुद्रा और वरद मुद्रा प्रकट करके समस्त विघ्नों से मुक्त करती हैं । जो उनकी शरण में जाता है वह पापमुक्त हो जाता है । असुर और आसुरी संस्कार उसकी कृपा से सर्वथा नष्ट हो जाते हैं । शुभ्र कांति वाली, शुभ्रवसना भगवती की कृपा से काव्यसृजन की शक्ति प्राप्त होती है ।

प्रातःकालीन सूर्यमण्डल की आभा वाली रक्त वसना तथा रक्त रत्नों से सुसज्जित माँ भगवती की कृपा से कामराज बीज के उपासक अत्यंत सुन्दर स्वरूप वाले दिखलाई देने लगते हैं । महालक्ष्मी स्वरूपा भगवती की साधना से समस्त दरिद्रता दूर हो जाती है तथा वह उपासक धनाधिपति कुबेर से भी बढ़-चढ़कर ऐश्वर्यशाली बन जाते हैं ।

आद्याशक्ति माँ भगवती के शक्तिबीज की उपासना से साधक अनन्त शक्ति को प्राप्त करके विश्व का धारण व पोषण कर सकते हैं । अरुणकान्ति वाली देवी भक्तों के मन से अविद्यारूपी अज्ञान को समाप्त करके शुद्धविद्या रूपी ज्ञान का निरंतर प्रवाह करती है । अक्षमाला, पुस्तक, अभयमुद्रा और वरदमुद्रा को धारण करने वाली भगवती करोड़ों बाल सूर्यों की कांति को धारण करती है ।

स्तोत्र की समाप्ति पर स्तोत्र-पाठ का महात्म्य प्रकट करते हुए कवि ने लिखा है कि यह स्तोत्र समस्त दुःखों को दूर करेगा । जो सज्जन भक्तिपूर्वक इसका पाठ करेंगे वे इस जगत में कभी भी मन्ददर्शी अर्थात दीनता से आक्रान्त नहीं होंगे ।

"श्रीदेवीस्तोत्र"
============

रचना का समय -
-------------

इसका सर्वप्रथम प्रकाशन वि०सं० 2041 कार्तिक शुक्ला अक्षय नवमी को प्रकाशित "आचार्यश्री अमृतवाग्भव: दर्शन" में श्री मदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान, जयपुर के तत्त्वावधान में हुआ ।

प्रकाशक -

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान, जयपुर, वि0सं0 2041.

रचना का आकार -

इस रचना में कुल 8 स्तोत्र हैं ।

वर्ण्य-विषय -

इस कृति में आचार्यपाद ने भगवती मां से अपने कल्याण हेतु करुण-पुकार प्रस्तुत की है । अपने आपको अशरण तथा असहाय रूप में समर्पित करके अपनी रक्षा की प्रार्थना की गई है । उपेक्षित दृष्टि भाव से भयभीत होकर दयादृष्टि की आकांक्षा से अपने आपको पुत्र रूप में प्रकट कर करुण पूर्ण दृष्टिपात की अनुनय-विनय की है । मां भगवती समस्त पाप समूहों का नाश कर संसार के भय-भाव को दूर कर देती है । कवि समुदाय उनकी प्रार्थना से मंगलों से अलंकृत हो जाता है, अतः कवि को विश्वास है कि वह करुण-मूर्ति मां उसको अवश्य अपनायेगी । उसे जन्म-जन्मान्तरों के कष्टों से मुक्ति दिलाकर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करेगी ।

"बालकं मां पाहि"

रचना का समय -

इस स्तोत्र की रचना वि0सं0 1986 में की गई ।

रचना का स्थान -

यह रचना कश्मीर देश के साधु गंगा नामक तीर्थ पर निवास करते समय आचार्य महोदय ने की ।

रचना का आकार -

इस कृति में पांच श्लोक हैं ।

प्रकाशक -

विद्वद्वरकल श्रीराधाकृष्ण धार्मिक संस्थान, दिल्ली, वि0सं0 2040.

वर्ण्य-विषय -

अपने आपको आलम्बन हीन बालक मानकर त्रिविध दुःखों से छुटकारा पाने हेतु माँ भगवती से प्रार्थना की गई है ।

माता अपने चरित्र हीन पुत्र को भी नहीं छोड़ सकती । इस प्रकार अपने जन्म-जन्मान्तरों से छुटकारा पाने की प्रार्थना की गई है ।

"श्रीमहानुभवशक्तिस्तव:"

रचना का समय -

इस स्तव: की रचना वि०सं० 1992 के फाल्गुन-कृष्ण पक्ष, चतुर्दशी (शिव-रात्रि के दिन की गई ।

आकार -

इस रचना में कुल आठ स्तोत्र हैं ।

प्रकाशक -

श्री गोविन्द मिश्र, चौबुर्जा, भरतपुर, वि०सं० 2010.

वर्ण्य-विषय -

यह स्तोत्र महान् अनुभव की झलक को प्रस्तुत करता है । आचार्यपाद ने अपनी साधना में आत्मा का अनुभव किया । इस आनन्द के अनुभव को प्रस्तुत करना ही इस स्तोत्र की रचना का मूल आधार है । परमेश्वर पूर्ण चैतन्यस्वरूप है । उन्हें सत्-चित् और आनन्द कहा जाता है । चैतन्य की महिमा से ही परमेश्वर शांत होते हुए भी गतिशील जैसे है । वह पूर्णतया प्रकाशरूप है । वह प्रकाश सर्वत: और सर्वथा विमर्श से ओतप्रोत है । द्वैत की दशा में यदि किसी वस्तु का प्रकाश होता है तो साथ ही विमर्श भी होता है । अत: विमर्श की प्रतीति ही प्रकाश है और प्रकाश ही विमर्श । वस्तुत: परिपूर्ण प्रकाश विमर्श रूप ही परमेश्वर है । परमेश्वर

को कल्पना से प्रकाश रूप मानकर शिव और विमर्श रूप मानकर शक्ति कहते हैं। इस तरह शिव और शक्ति एक ही परमशिव के दो नाम है। केवल अविकल्प साक्षात्कार में ही उनकी शिवशक्तिरूपता का भास होता है।

शास्त्रों में परमेश्वर की विमर्शशक्ति को स्पन्द कहा गया है। जल से भरे पात्र के छलकने से पड़ी इधर-उधर की बूंदों के समान ही आनन्द से परिपूर्ण परमेश्वर इसी आनन्दरूपी स्पन्दशक्ति के कारण छलकते हैं। इस छलकने से वे पूर्ण होते हुए भी अपूर्ण जैसे प्रतीत होने लगते हैं परन्तु वे अपनी परिपूर्णता से च्युत नहीं होते। इसी तरह एक होते हुए भी अनेक जैसे प्रतीत होते हैं। एक ओर घट-पट आदि के रूप में ठहर कर अतीव संकुचित होकर ज्ञेय बन जाते हैं और दूसरी ओर से शरीर प्राण आदि बनकर संकुचित ज्ञाता बन जाते हैं। यह सब कुछ अपने पूर्ण स्वातंत्र्य के ही कारण करते हैं। परमेश्वर की इसी स्वातंत्र्य की क्रीडा का नाम संसार है। अतः यह संसार परमेश्वर से भिन्न कोई वस्तु नहीं। यह परमेश्वर का ही एक विचित्र रूप है, उसी की शक्ति का विकास है। यह शक्ति ही वस्तुतः परमेश्वर की परमेश्वरता है। परमेश्वर की शक्ति भी शिव की तरह परिपूर्ण है और एक है, परन्तु एक होती हुई भी भिन्न-भिन्न तत्त्वों में अनेक रूपों में प्रकट होती है। इस पंचभौतिक संसार के वैचित्र्य में तो इस पराशक्ति के अनन्त रूप देखने में आते हैं। जहां यह माया का रूप धारण करती है वहां भेद दशा का स्फुट विकास होता है। माया दशा तक उतरने में भी इसकी कई दशाएं प्रकट होती हैं। अद्वैत से द्वैताद्वैत और उससे द्वैत प्रकट होता है। द्वैताद्वैत को ही भेदाभेद दशा कहते हैं। भेदाभेद दशा में भी कई सीढ़ियां हैं। इन समस्त सीढ़ियों की दशा में भगवती शक्ति के भी भिन्न-भिन्न रूप प्रकट हो जाते हैं, जिनका साक्षात्कार योगियों को समाधि द्वारा होता है। भगवती शक्ति के इन्हीं रूपों में पांच रूप अधिक प्रधान हैं। ये हैं -- चित् शक्ति, निर्वृत्तिशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्ति। इन्हीं पांच शक्तियों का वर्णन आचार्य महोदय ने इस स्तोत्र में किया है।

स्तोत्र के प्रथम श्लोक में परमगुरुस्वरूप, शिवशक्तिमय परमेश्वर का वर्णन किया गया है। उस परमेश्वर ने ही पहले अपने स्वातंत्र्य की महिमा से समस्त ज्ञेय रूपों को प्रकट किया। वही परमगुरु अनुपम आत्म-आनन्द के अमृत से तृप्त कर रहे हैं। दूसरे श्लोक में चित् शक्ति का वर्णन है। चित् शक्ति नैसर्गिकी शक्ति है। सिद्धलोग श्री चक्र को ही भगवती का अनन्त वैचित्र्यपूर्ण स्वरूप मानकर उसकी उपासना करते हैं। श्रीचक्र के मध्य में जो बिन्दु होता है उसे शिवशक्तिमय परम-शिवस्वरूप माना जाता है। इस बिन्दु रूप शिव की शिवता का बीज ही चित्-शक्ति कहलाता है। तृतीय स्तोत्र में निर्वृति शक्ति का वर्णन है। निर्वृति शक्ति को ही शिवशक्ति कहते हैं। शिवतत्त्व में सम्पूर्ण विश्व परिपूर्ण अहं में ही विलीन होता रहता है। उस स्थिति में केवल आत्मा ही आत्मा प्रकाशित होती हैं। निर्वृत्ति का ही दूसरा नाम आनन्दशक्ति है। आनन्द शक्ति के उच्छलित क्रीड़ा के पांच प्रकार हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार, विधान और अनुग्रह। चतुर्थ स्तोत्र में इच्छा शक्ति का वर्णन है। इच्छाशक्ति चित्शक्ति का तीसरा रूप है। इस रूप में समस्त विश्व ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है परन्तु इससे भिन्न होकर प्रतीत नहीं होता। यह इच्छाशक्ति विश्वोत्तीर्ण विश्वमय रूप है। यह शिव की शक्ति है। इसके बिना शिव शव तुल्य ही रह जाता है। पंचम स्तोत्र में ज्ञानशक्ति का वर्णन है। जैसे अन्य समस्त शक्तियां परमेश्वर के ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में ठहरे हुए भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं वैसे ही ज्ञानशक्ति भी परमेश्वर का ही एक स्वरूप है। यही शक्ति समस्त श्रुति-स्मृति-आगम आदि शास्त्रों की मूल हैं। ज्ञानशक्ति के अधिष्ठाता भगवान् सदा शिव हैं। षष्ठ स्तोत्र में क्रिया-शक्ति का वर्णन है। क्रियाशक्ति कीट से लेकर ब्रह्मा जी तक समस्त जीव के हृदय में रहती हुई अनुभव में सदा आती रहती है। तथा हृदय में सदैव विद्यमान रहती है। स्थूल व सूक्ष्म शरीर की समस्त क्रियाएं इसी के द्वारा होती है। यह शरीर के विकास की भूमि है। सप्तम श्लोक में भगवती के पराशक्ति रूप की उपासना कुण्डलिनी रूप वर्णित है। सिद्ध लोग जब कुण्डलिनी के रूप में इसकी

उपासना करते हैं तो उन्हें यह करुणाशील भक्त वत्सलादेवी ललाट के मध्य में इन्द्रधनुष की जैसी कान्तिवाले, सहस्रार चक्र में चन्द्र की किरणों के समान शुभ्रवर्ण द्युति वाले और हृदय में भगवान् आदित्य की जैसी अरुण ज्योति वाले अपने स्वरूप का दर्शन देती है और सिर में स्थित चन्द्रमण्डल से टपकने वाले अमृत की बूंदों का आस्वाद लेती रहती है। अष्टम श्लोक में श्री चक्ररूपिणी देवी सर्वोत्तम रूप का वर्णन किया गया है। यह भगवती भी चक्र के मध्यम बिन्दु में स्थित रहती है। श्रीचक्र की त्रिकोण मण्डली ही उस विन्दुवासिनी भगवती की अमूल्य मणियों से बनी हुई मेखला है। वह सदा शिव को सर्वथा आनन्दित करती रहती है।

घ. अन्यदेवस्तोत्रम् -

1) श्रीपवननन्दनाष्टकम् -

रचना का समय -

इस स्तोत्र की रचना वि0सं0 1986 में ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी तिथि शुक्रवार को हुई।

रचना का स्थान -

हरिद्वार में पंजाब-सिन्ध क्षेत्र के भीतर विद्यमान गंगा तट पर श्री राम मन्दिर में की गई।

रचना का आकार -

प्रकृत स्तोत्र में दस श्लोक हैं। जिनमें से आठ में श्री हनुमत देव की प्रार्थना है तथा अंतिम दो में रचनाकाल व स्थान का वर्णन है।

प्रकाशक -

विद्वद्वरकल श्री राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान, दिल्ली, वि0सं0 2040.

वर्ण्य-विषय -

इस स्तोत्र में पवनपुत्र श्री हनुमान जी का गुणगान किया गया है । वायु-पुत्र श्री हनुमान जी को भयभीत प्राणियों का रक्षक तथा पापों का निवारणकर्ता माना है । वे पुण्यवानों को आसरा देते हैं तथा दुष्ट बुद्धि वाले दुर्जनों का नाश करते हैं । उनका दया का प्रसाद सदैव दीनों को प्राप्त होता रहता है । संकटों से छुटकारा दिलाने के लिए संसार में उनकी बहुत कीर्ति है । आचार्य महोदय ने स्वयं अपनी रक्षा के लिए उनसे उत्कृष्ट प्रार्थना की है ।

## "महागुरु श्रीकृष्णस्तोत्रम्"

रचना का समय -

इस स्तोत्र की रचना वि0सं0 1987 में चैत्र के शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि को शुक्रवार के दिन की गई ।

रचना का स्थान -

काश्मीर देश में अनन्तनाग के समीप स्थित काकोर्टनाग नामक स्थान पर हुई ।

रचना का आकार -

इसमें कुल तेरह श्लोक हैं । जिनमें से बारह में भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना की गई है और अंतिम तेरहवें श्लोक में रचना का समय व स्थान का वर्णन है ।

प्रकाशक -

विद्वद्वरकल श्री राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान, दिल्ली, वि0सं0 2040.

वर्ण्य-विषय -

आचार्य महोदय को जब कभी किसी विद्या के अभ्यास में कोई कठिनाई उपस्थित होती तो वे भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना करते थे । श्रीकृष्ण स्वप्न में दर्शन देकर उनकी कठिनाई को दूर करने का उपाय बतला देते थे या स्वयं उसे

दूर कर देते थे । इसलिए आचार्य महोदय श्रीकृष्ण को अपना गुरुराज मानते रहे । आचार्य महोदय के पितृश्री का नाम भी श्रीकृष्ण था तथा उनकी माता का नाम राधा देवी और सौतेली माँ का नाम रुक्मिणी । उन्होंने अपने पिता को भी गुरु मान रखा था । आचार्य महोदय ने इस स्तोत्र की अभीष्ट-सिद्धि का योग बतलाया है ।

"श्रीबालकृष्णदशकम्"

रचना का समय -

इस स्तोत्र की रचना वि०सं० 1987 में चैत्र-शुक्ल पक्ष द्वादश तिथि रविवार को की गई ।

रचना का स्थान -

कश्मीर देश में अनन्तनाग के समीप वराह (ब्राह) नामक ग्राम में हुई ।

रचना का आकार -

इसमें निर्मित दस श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण की बालकृष्ण के रूप में भक्ति की गई है ।

प्रकाशक -

विद्वद्वरकुल श्रीराधाकृष्ण धार्मिक संस्थान, दिल्ली, वि०सं०, 2040.

वर्ण्य-विषय -

यमुना नदी के तट पर बहुतेरे कदम्ब वृक्षों के समूह में ग्वाले की चतुर युवतियों के प्रियतम गोपालकृष्ण सुशोभित रहते हैं । दूध दही मक्खन के लेप से शोभायमान मुख, मयूर पंखों का मुकुट, नवीन कमल-पत्र सदृश नेत्र, कस्तूरी के तिलक से चिह्नित भाल, गले में कौस्तुभमणि से युक्त वनमाला, हाथों में अतीव सुन्दर कंकण, कानों में रत्नजटित कुण्डल और मन्द-मन्द मुस्कान से भरा मुखमण्डल

वाले बाल श्रीकृष्ण विरह से व्याकुल वृषभानु सुता राधिका के साथ व्रज के कुंजों में प्रेमकला के विलास में लगे रहते हुए नित्य गायों को चराते रहते हैं । ऐसे बालकृष्ण कवि के हृदय में सर्वदा शोभायमान होते हैं

"श्रीरामाश्वघाटीचतुष्टयम्"

रचना का समय -

इस स्तोत्र की रचना वि0सं0 1987 में फाल्गुन मास में की गई ।

रचना का स्थान -

जालन्धर पीठ (कांगड़ा) में शेरठाणा ग्राम निवासी श्री बदरीदत्त शर्मा अवस्थी के घर, उन्हीं की प्रार्थना पर भगवान् श्री रामचन्द्र की सुन्दर स्तुति में समस्यापूर्तिमय सुन्दर स्तुति का निर्माण किया ।

रचना का आकार -

यह स्तोत्र चार श्लोकों में वर्णित समस्यापूर्त्त्यात्मक स्तोत्र है ।

प्रकाशक -

विद्वद्वरकल्प श्री राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान, दिल्ली, वि0सं0 2040.

वर्ण्य-विषय -

स्तुति में अश्वघाटी नामक छन्द काम में लिया है । इसकी समस्या है -- "श्रीराम चन्द्रमहमाराधये मनसि धाराधराभवपुषम्" ।

भगवान् राम वीरों के अधिपति, धैर्यवान देवगणों में पूजित, श्यामलकान्ति-युक्त देह सौष्ठव से युक्त, भय का नाश करने वाले हैं । भगवान् शिव के आदेशानुसार "राम-राम" की अनवरत ध्वनि से जप करने वाला व्यक्ति भवसागर से मुक्त हो जाता है ।

ग. सिद्धपुरुषस्तोत्रम् -

"श्रीपरशुरामस्तोत्र"

रचना का समय -

श्री परशुरामस्तोत्र की रचना वि०सं० 1989 वैशाख शुक्ला तृतीया {अक्षय तृतीया परशुराम जन्मदिन} रविवार के दिन की गई ।

स्थान -

यह रचना श्री मार्त्तण्ड क्षेत्र में {मदनकाश्मीर} में श्री परशुराम जयंती के दिन भक्तों की प्रार्थना पर ही रची गई ।

आकार -

श्री परशुराम स्तोत्र में कुल 17 श्लोक हैं । स्तोत्र के प्रारंभ में परशुराम मन्त्र तथा परशुराम गायत्री मन्त्र दिया गया है । इसके पश्चात् करन्यास और ध्यान प्रस्तुत किया है । ध्यान इस प्रकार है --

"जिनके अग्रभाग में उपनिषदों सहित समग्रवेद और उपवेद चमकते हैं । पृष्ठ देश पर बाणों से भरा तूणीर और विशाल धनुष सुशोभित हो रहे हैं । बांये हाथ में कुशमुष्टि और कमण्डलु तथा दांये हाथ में परशु धारण किये हुए हैं । शाप देना तथा शस्त्र चलाना इन दोनों कार्यों में दक्ष-हस्त वे भगवान् श्री परशुराम जी शोभा पा रहे हैं ।

प्रकाशक -

पं० गोविन्द मिश्र, चौबुर्जा, भरतपुर, वि०सं० 2029.

वर्ण्य-विषय -

श्री परशुराम भृगुवंशीय श्री जमदग्नि श्रीमती रेणुका के पुत्र हैं । उनका जन्म का नाम राम है । भगवान् शम्भु की अखण्ड साधना से उन्हें परशु प्राप्त हुआ । इसी के कारण उनका नाम परशुराम पड़ा । अनन्त शक्ति को प्राप्त परशुराम अभिमानी व उन्मत्त क्षत्रियों को नष्ट करने वाले, दुष्ट वासना वाले,

दुष्टों का दमन करने वाले, दीनों का पालन-पोषण करने वाले, धर्मोद्धार में धुरन्धर तथा भक्तों पर अनुग्रह करते हैं। वे सम्पूर्ण मुनियों में श्रेष्ठ हैं। ब्रह्मर्षि उनके चरण-कमलों को चूमते हैं। उन्होंने क्रोध प्रकट करते हुए भगवान् विष्णु का के वक्ष:स्थल पर लात मारी थी। श्री परशुराम ने ब्राह्मणों को संरक्षण दिया। तीनों लोकों में अनुपम पराक्रम के एकमात्र अधिष्ठान कृतवीर पुत्र सहस्रबाहु अर्जुन के सिर को काटकर अपने पितरों को तृप्त के निमित्त सम्पूर्ण पृथ्वी को उन्होंने इक्कीस बार नि:क्षत्रिय कर दिया तथा धन से भरी सम्पूर्ण पृथ्वी का कश्यप महर्षि को उन्होंने दान दिया। देवराज इन्द्र द्वारा सम्मान प्राप्त महाराजा दशरथ भी उनके हाथ में परशु देखकर स्त्रीवेष धारण करके भाग गये थे।

स्तोत्र की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्यपाद का कथन है कि महर्षि जमदग्नि के वीर पुत्र भगवान् श्रीपरशुराम के इस पवित्र स्तोत्र को जो पुरुष अर्थ के साथ एकाग्र चित्त से पढेंगे, उनके हाथों में दुष्ट शासन का अंत कर देने वाली, शत्रुओं के लिए भयंकर और धर्म को जगाने वाली शक्ति अवश्य दमकेगी -- इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

इस प्रकार कष्टों से मुक्ति दिलाने वाले भगवान् परशुराम की स्तुति प्रस्तुत की गई है।

"अवधूताभिवादनम्"
===============

रचना का समय -
-------------

संवत् 2010 में चैत्रमास शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को इस स्तुति का निर्माण किया गया।

रचना का स्थान -
--------------

इस रचना का निर्माण अविनश्वरपुरी में रहते हुए किया गया।

रचना का आकार -
---------------

इस कृति में कुल ३।० श्लोक हैं ।

प्रकाशक -
------

विद्वद्वरकल श्रीराधाकृष्ण धार्मिक संस्थान, दिल्ली, वि0सं0 2040.

वर्ण्य-विषय -
----------

महा-अवधूत मुनि दुर्वासा के सेवक तथा स्वयं अवधूत स्थिति में विराजमान आचार्य महोदय ने अपने ही आनन्द के लिए इस स्तोत्र की रचना की । स्तुतिकर्ता आचार्य महोदय ने तुर्यादशा, रूपिणी अमृतमयी स्थिति में विराजमान होकर ही इस स्तुति का निर्माण किया है । जिसके कारण उनके अपने स्वरूप की परिपूर्णता के अनुभव का आभास मिलता है ।

अवधूत विशेष वेष-भाषा आदि के प्रति अवेहेलना का भाव रखता है । वह अमृत वर्षा करने वाले महान् तेज का धारण करता है । वह सर्वथा कृत-कृत्य पाप-रहित और आनन्दित रहता है । प्रणाम करने वालों से प्यार और अवहेलना करने वालों से उसे नाराज़गी नहीं होती । उनका न कोई मित्र है और न शत्रु । रागमन या अनादर से उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । किन्तु नियति के नियमानुसार उनका अनादर करने वाले पातकी का सर्वथा विनाश हो जाता है ।

"श्रीसंजीवनीदर्शनम्"
==============

रचना का समय -
-------------

इस स्तोत्र की रचना वि0सं0 2019 में (अश्विनी नक्षत्र में) श्रावण कृष्ण पक्ष की अष्टमी को सोमवार के दिन की गई ।

रचना का स्थान -
--------------

संवत् 1988 में कवि महोदय ने कुल्लू घाटी में मणिकर्ण तीर्थ की यात्रा की । मार्ग के प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर चित्रण इस काव्य में वर्णित है । यह रचना कश्मीर देश के कुलग्राम में बलजिन्नाथ पण्डित के घर रची गई ।

रचना का आकार -

इस रचना में कुल 50 श्लोक हैं ।

प्रकाशक -

पं0 गोविन्द मिश्र, चौबुर्जा, भरतपुर, वि0सं0 2020·

वर्ण्य-विषय -

हिमालय-पर्वत की एक घाटी से उष्ण जल प्रवाह बहकर "मणिकर्ण" नामक तीर्थ के रूप में एकत्रित होता रहता है । ग्रन्थकार उस तीर्थ को देखने की इच्छा से किन्नर देश (रामपुरबुशहर) गये । वहां से पवित्र नदी सतलुज को पार कर कुल्लू देश में निर्मण्ड नामक स्थान पर पहुंचे । श्री जमदग्नि-पुत्र श्री परशुराम जी ने इस पवित्र स्थान पर तप किया था । तत्पश्चात व्यास नदी के किनारे-किनारे चलते हुए "भुवन्तर" नामक एक मनोहर स्थान आता है । यहां पार्वती और व्यास (विपाशा) का संगम है । पार्वती नदी के उद्गम की ओर ग्यारह कोस का मार्ग तय करने पर "मणिकर्ण" तीर्थ आता है । रचनाकार यहां तीन दिन रहे । उन्हें गयापन (एक दिन छोड़कर दूसरे दिन) तथा चातुर्थिक (चौथे दिन पुन: आना) ज्वर ने पीड़ित किया । ज्वर की इस स्थिति में ही वे भुवन्तर लौटे और नगर के बाहर एक धर्मशाला पर निवास किया । ज्वर अत्यंत तीव्र था । ज्वर की तीव्र वेदना में उन्होंने एक दिव्य रहस्य से पूर्ण दृश्य देखा । जिसका वर्णन करते हुए रचनाकार लिखते हैं कि उनकी बांई ओर लालिमा से अनुरंजित गौरवर्ण वाले कमल के समान विशाल नेत्रों वाले, निर्मल तथा मन्द-मन्द मुस्कराहट से युक्त परम दिव्य शरीर को धारण करने वाले तीन पुरुष उपस्थित हो गये । उनकी नासिकायें बड़ी सुन्दर थी, माथे विशाल थे, कपोल सुन्दर थे, बाल भ्रमरों के समान काले थे, कान बड़े-बड़े थे । उन्होंने शुभ्र धोतियां पहन रखीं थीं । दुपट्टे भी सुन्दर थे । रेशमी अंगरखे पहने हुए थे तथा पैरों में सुन्दर जूते थे । मुकुट धारण किये हुए थे ।

देदीप्यमान कांति से युक्त कुण्डल तथा हाथों में मोती और मूंगों के वलय तथा हीरों की अंगूठियां धारण किये हुए थे। उनका शरीर पुष्ट था और उन्होंने बेंत की छड़ियां धारण कर रखी थीं। उसी समय एक महापुरुष दायीं ओर से आया तथा करुणा से आर्द्र दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक देखता रहा। उसने गले में रुद्राक्ष माला तथा माथे पर भस्म का त्रिपुण्ड लगा रखा था। बाएं हाथ में त्रिशूल और दायें हाथ में कमण्डलु था। उसकी आकृति साक्षात् शिव जैसी ही थी। उसने लकड़ी की खड़ाऊ पहन रखी थीं। वह आचार्य जी के पास आकर कहने लगा -- "हे प्यास से व्याकुल बने हुए। मुझसे दिये जा रहे जल को इच्छा-पूर्वक पीलो।" उन तीन पुरुषों ने व उसने एक दूसरे को खूब देखा किन्तु किसी किसी ने भी कुछ नहीं कहा। वह जल इतना शीतल व स्वादिष्ट था कि मैंने ऐसा जल पहले कभी नहीं पिया। उस त्रिशूलधारी ने दया से आर्द्रचित्त होकर त्रयम्बक मन्त्र का उपदेश दिया तथा कहा कि मैं यहां खड़ा हूं, तुम इस मन्त्र का खूब जाप करो, यह तुम्हारा रक्षक है। मृत्युंजय देवता के मन्त्र से बढ़ चढ़कर कोई भी जीवनदान देने वाला उपाय नहीं है। दिन की समाप्ति तक वे सभी मेरे पास खड़े रहे और मैं जाप करता रहा। प्रसन्न होकर वे तीनों दक्षिण दिशा की ओर तथा वह त्रिशूलधारी उत्तर दिशा की ओर अदृश्य गति से चले गये। तत्पश्चात् मैंने अनुभव किया कि मेरा शरीर ज्वर से मुक्त हो गया है।

"श्रीदेशिकदर्शनम्"

रचना का समय -

इस कृति की रचना विक्रम सं0 2019 में आषाढ़ शुक्ल पक्ष एकादशी बुधवार को सम्पन्न हुई।

रचना का स्थान -

इस कृति की रचना पण्डित बलजिन्नाथ जी के ग्राम कुलग्राम (कश्मीर) में निवास करते समय की।

रचना का आकार -
--------------

इस कृति में कुल 17 श्लोक हैं ।

प्रकाशक -
------

श्रीपी० सैद्ध दर्शन शोध संस्थान, जम्मू, वि०सं० 2040.

वर्ण्य-विषय -
---------

भगवान् दुर्वासा के अनुग्रह एवं स्वरूप का वर्णन करना ही कवि को अभिप्रेत रहा है । उनके शारीरिक अंगों का वर्णन करते हुए कवि का कथन है कि भगवान् दुर्वासा के शरीर की कांति तपे हुए स्वर्ण की कांति के समान है । उनका शरीर पतला और लंबा है । पिंगल वर्ण के तारे से युक्त उनके नेत्र विशाल है । केशराशि सघन है । नासिका तोते के समान है । कान बड़े-बड़े हैं तथा उनके सारे शरीर पर रोम हैं, दाढ़ी-मूछे लम्बी और बाहु विशाल है । भौंहे धनुष के समान वक्र, दंतराशि चमकीली सफेद, माथा विशाल तथा कपोल सुन्दर हैं । मुस्कराहट सर्वदा उनके मुख पर विद्यमान रहती है । प्रसन्न दृष्टि, शंख के समान वर्तुल आकार वाली ग्रीवा, विशाल सिर, सुपुष्ट ठोड़ी, अरुण वर्ण के हाथ और पैर, तथा कृश उदर उनकी दिव्यता में वृद्धि करते हैं । उनका चित्त प्रशांत है । अन्तरात्मा निर्मल है । वे त्रिकालज्ञ हैं । मुनि श्रेष्ठ दुर्वासा निग्रह और अनुग्रह की लीला का अभिनय करने हेतु अवतरित हुए हैं । साक्षात् धर्म मुनि अपनी साक्षात् अनुभूति से समस्त वेद व तन्त्र रहस्यों के ज्ञाता हैं ।

उनकी वेशभूषा अत्यंत साधारण है । वे घुटनों तक लपेटा हुआ एक अंगोछा तथा एक चादर ऊपर से लपेटे हुए हैं । गले में रुद्राक्षों की माला तथा कलाइयों व कानों में भी रुद्राक्ष धारण किये हुए हैं । माथे पर भस्म का त्रिपुण्ड लगाया है ।

भगवान् दुर्वासा ही आचार्यपाद के श्रीविद्या के गुरु रहे हैं । उन्हीं की कृपा से उन्हें शाम्भवी योग विद्या का ज्ञान हुआ जिससे वे शैव विज्ञान के पराद्वैत सिद्धांत का परम रहस्य समझने में सक्षम हो सके ।

"श्रीसप्तपदीहृदयम्"

रचना का समय -

इस कृति की रचना वि०सं० 1996 माघ कृष्णा एकादशी रविवार को हुई ।

रचना का आकार -

इस काव्य में 24 श्लोक हैं ।

प्रकाशक -

राज पं॰ गोविंद मिश्र, चौबुर्जा, भरतपुर, वि०सं० 2019॰

वर्ण्य-विषय -

सप्तपदीहृदयम् वैवाहिक संस्कार को माध्यम बनाकर लिखा गया लघु काव्य है । भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में षोडश संस्कारों की महती भूमिका है । इन में पाणिग्रहण संस्कार ही वैवाहिक संस्कार है ।

यह रचना सुखमय वैवाहिक जीवन की प्रेरण्य स्रोत है । पाठक इसके पठन व निदिध्यासन से इहलोक व परलोक दोनों को सुखमय बना सकते हैं । यह रचना वर-वधू के बीच सच्चे प्रेम एवं सौहार्द का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व करती है । समस्त संसार के कल्याणकारी साधनों तथा प्राचीन व नवीन परम्पराओं को समझने वाले, भारतवर्ष के सनातन महर्षियों के द्वारा चलाई गई विवाह-पद्धति में सप्तपदी उत्तम और अंतिम कार्य है । इस परम्परा में वर-वधू को अपने साथ सात पद चलाता है । यह सात पद चलाना सात श्रेष्ठ लोकों की विजय का सूचक है । उन लोकों तक परस्पर सम्मति से यात्रा करते हुए दम्पति का पूर्ण मित्र भाव अपने आप उत्पन्न होता है । इसीलिए महर्षि मित्रता को साप्तपदीन मानते हैं । सात लोकों की विजय का अभिलाषी पुरुष अपनी सहायता के लिए और अपने बहिर्मुख आनन्द की पूर्ति के लिए स्त्री को सात वचन देकर उसके साथ

मित्र भाव स्थापित करता है । गृह्यसूत्रों में अत्यंत सूक्ष्मता से वर्णित इस विचार-धारा व प्रतिज्ञा को ही अमृतवाग्भवाचार्य ने मनोहर पद्यों में वर्णित किया है । वर्ण्य-विषय इस प्रकार है --

पहले पद पर वर के कथनानुसार वधू अमृत सदृश भोजन पदार्थों से अतिथि, गुरु, पुत्र और संबंधियों को प्रसन्न करने वाली होने के कारण भूलोक को विजित करने वाली है । अत: उसे एक पद साथ लेकर चलता है उस पर वधू स्वीकारोक्ति रूप में अन्न को सुरक्षित रखने, भली प्रकार पकाकर परिवार को तृप्त करने का आश्वासन देती है ।

दूसरे पद पर वर-वधू को सुन्दर दृढ़ शरीर वाली, पवित्रता, आचार और विचार से सुव्यवस्थित तथा घर की सम्पूर्ण व्यवस्था में दक्ष मानकर भुवर्लोक की यात्रा में साथ देने वाली, शरीर व प्राण-शक्ति के रूप में दूसरे कदम पर साथ लेकर चलता है । इस पर वधू पूर्ण पवित्रता तथा पति व कुटुम्ब को आरोग्य प्रदान करने वाली सामग्री प्रदान करने की प्रतिज्ञा करती है ।

तृतीय पद में वर-वधू को धन की रक्षा के सम्पूर्ण भार का उत्तरदायित्व सौंपता है । जिससे वह स्वर्गलोक को जीतने में समर्थ हो सके तथा धन की समृद्धि के लिए तीन पद अपने साथ लेता है । इस पर वधू धन के भार का उत्तरदायित्व स्वीकार कर आय-व्यय का ब्यौरा रखने का भार अपने ऊपर ग्रहण करती है ।

चौथे पद में वर-वधू को सुखद उपायों एवं वस्तुओं के संग्रह करने का भार सौंपकर महर्लोक को जीतने तथा इस लोक में कीर्ति प्राप्त करने हेतु चार पद अपने साथ लेकर चलता है । वधू निरन्तर सुख देने का वचन देती है ।

पांचवें पद में वर-वधू को स्मरण शक्ति, कांति, बल और आरोग्य के श्रेष्ठ कारणभूत गौ आदि पशुओं के पालन का काम सौंप कर जनलोक को जीतने हेतु पांच पद अपने साथ लेकर चलता है । वधू इसे पूर्ण करने का आश्वासन देती है ।

छठे पद में वर वधू के समक्ष बहिर्मुख आनन्द प्राप्ति के लिए सुख भोग की इच्छा रख कर यशस्वी वंश की प्रतिष्ठा हेतु मनोकामना प्रकट करते हुए छह पद लेकर तपोलोक की ओर चलता है। वधू समस्त ऋतुओं में अपना प्रेम व इन्द्रिय सुख का साधन बनने का वचन देती है।

सातवें पद पर वर वधू को कहता है कि हमारी मित्रता साप्तपदीन है। इससे हम सत्यलोक को जीत सकेंगे। तुम्हें भी मोक्ष प्राप्त होगा। वधू उत्तमकोटि की मित्रता हेतु मनुष्य देह को सफल मानते हुए सम्पूर्ण प्रतिज्ञाओं को पूर्ण करने का वचन देती है।

इस प्रकार ये सप्त धारणाएं भारत के सनातन एवं श्रद्धालुओं के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। गृह्यसूत्रों की यें नवीनतम कल्पनाएं हैं।

"वैद्याष्ट प्रति"
==========

रचना का आकार -
---------------

प्रस्तुत कृति में छः श्लोक हैं।

वर्ण्य-विषय -
---------

इस कृति में वैद्यों के यशोगान का वर्णन है। वैद्य भगवान् वैद्यनाथ शिव की स्तुति से प्राप्त सामर्थ्य के द्वारा समस्त औषधियों को अमृत बना देते हैं। विद्वानों का मत है कि रोगी के प्रति किया गया सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार रोग-निवारण का प्रमुख कारण है। कवि की मान्यतानुसार करुणार्द्रा माँ भगवती ने ही अपनी श्रेष्ठ कला द्वारा वैद्यनाथ शिव के रूप में स्वयं विषपान करके अन्य भूमण्डल के प्राणियों को अमृतपान कराया। अतः वैद्यों को भी रोगग्रसित प्राणियों को अमृतपान कराना चाहिए। लोकसेवी सद्वैद्यों को धनिकों का चाटुकार न होकर निर्धन व धनी सभी की समभाव से सेवा करनी चाहिए। लोकसेवी सद्वैद्यों की निष्कलंक कीर्ति इस संसार में अक्षुण्ण बनी रहती है। अतः वैद्यों को निरंतर निःस्वार्थ भाव से लोक सेवा में संयुक्त रहना चाहिए 2

## चारुसन्देशः

**रचना का समय -**

इस कृति की रचना आचार्यश्री ने आषाढ शुक्ल 15 रविवार संवत् 2001 को की थी ।

**रचना का स्थान -**

पंजाब के लायलपुर नामक नगर में निवास करते हुए इस रचना को निर्मित किया गया ।

**रचना का प्रकाशन -**

यह रचना अभी तक अप्रकाशित है ।

**रचना का आकार -**

इस रचना में कुल दस श्लोक हैं ।

**रचना का वर्ण्य-विषय -**

आचार्यश्री ने इस रचना को "पत्नी के नाम सन्देश" से भी कहा है । वाराणसी में रहते हुए उनका विवाह हो गया था । परन्तु माँ भगवती की कृपा से कुछ परिस्थितियां ऐसी बन गई कि द्विरागमन की रस्म से पूर्व ही उन्हें घर छोड कर परिव्राजक बनना पडा । साधना की तल्लीनता के पश्चात् जब उन्हें माँ भगवती की प्रेरणा मिली तो उन्होंने इस चारुसन्देश को हिन्दी अनुवाद सहित लिखकर अपनी पत्नी के पास भेज दिया । इस कविता में उन्होंने अपने पत्नी को परिस्थितियों के अनुसार कल्याण के मार्ग पर चलने तथा योगविधि के अनुसार जीवन व्यतीत करने का सदुपदेश लिखा है । उनके अनुसार जो पत्नी अपने चित्त में पतिचरणों का सर्वथा चिन्तन करती रहती है, वही साध्वी है । मुनिजन उसकी वन्दना करते हैं । सांसारिक भोगविलास नाश को प्राप्त हो जाते हैं । देव-भक्ति ही इहलोक और परलोक को आनन्दमय बनाती है । संयम और साधना से युक्त जीवन ही मानव जीवन को मोक्ष प्रदान करता है । अतः सांसारिक भोगविलास की इच्छा का त्याग करके सदाशिव की भक्ति में तल्लीन रहना चाहिए ।

--

:: श्रीसूक्तिलहरी ::

**रचना का समय -**

इस रचना में समय-समय पर लिखे गये सूक्तों का संग्रह है। यह संग्रह विक्रम संवत 2013 में किया गया।

**रचना का आकार -**

इस रचना में कुल 55 श्लोक हैं।

**प्रकाशन -**

रचना का प्रकाशन जुलाई तथा अगस्त 1968 की मासिक-पत्रिका "सूर्योदय" के अंक 7 व 8 में किया गया है।

**वर्ण्य-विषय -**

यह रचना एक संग्रह है। कवि ने समय-समय पर अनेक फुटकर श्लोकों का निर्माण किया। ये श्लोक अनेकों विषयों का वर्णन करते हैं। उनमें से नीति-सम्बन्धी श्लोकों को संग्रह करके "सूर्योदय" पत्रिका में "श्रीसूक्तिलहरी" के नाम से प्रकाशित किया। अतः इस रचना के श्लोकों का वर्ण्य विषय भी विभिन्न प्रकार का है। प्रथम पांच श्लोकों में क्रमशः माँ सरस्वती, भगवतीदेवी, भगवान् शिव और राधा-कृष्ण की स्तुति की गई है। छठवें श्लोक में स्वतन्त्रता का महत्त्व और सातवें श्लोक में श्रेष्ठ जनों की प्रशंसा की गई है। इसके अतिरिक्त सन्मित्र लक्षण, सांसारिकक्षण-भंगुरता, सज्जन प्रशंसा, दुर्जन निन्दा, सत्कर्म और असत्मकर्म का फल, कलिकाल वर्णन, षट् ऋतु वर्णन, स्वराष्ट्र प्रशंसा, विजयादशमी वर्णन, क्रान्ति वर्णन तथा नीति-सम्बन्धी श्लोकों का संग्रह है। इस प्रकार इस लहरीकाव्य में आध्यात्मिक उपासना, राष्ट्र-वन्दना, धार्मिक व नैतिक सभी प्रकार के श्लोकों का चयन किया गया है। पूर्ववर्ती हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों के नीति व धर्म सम्बन्धी दोहों का संस्कृत अनुवाद भी यहां मिलता है।

# श्रीवरकलवंशचरितम्

## रचना का समय -

यह रचना विक्रम संवत् 1993 की है ।

## रचना का आकार -

यह रचना सब सर्गबद्ध है । इसमें कुल ग्यारह सर्ग हैं । यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है ।

## रचना का वर्ण्य-विषय -

यह विशाल ग्रन्थ वरकलवंश के इतिहास पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ है । अधिकांश अनुष्टुप छन्द में लिखा गया यह ग्रन्थ अतिप्राचीन विद्वानों के इतिवृत्त को वर्णित करता है । आचार्यपाद जन्म से महाराष्ट्री ब्राह्मण थे उनके वंश का मरा० नाम "वरकले" था । उनके वंशज बहुत ही विद्वान् थे । इस ग्रन्थ में पिछली और वर्तमान दो शताब्दियों के अनेक संस्कृत विद्वानों के जीवन चरित पर इससे काफी प्रकाश पड़ता है । अपने परिवार के अनेक विद्वानों के पाण्डित्य, साधना और अध्ययन-अध्यापन से युक्त तपोनिष्ठ जीवन का वर्णन है ।

इस ग्रन्थ के साथ कई एक परिशिष्ट भी जुड़े हुए हैं । उनके पूज्यपाद जी के निकट सम्बन्धियों, मित्रों, अध्यापकों और गुरुओं का परिचय मिलता है । श्रुतिपरम्परा से सुना गया अपने अनेक प्राचीन पूर्वजों का इतिहास भी आचार्यपाद ने वर्णित किया है ।

इस प्रकार यह रचना "वरकलवंश" को विस्तृत रूप से प्रस्तुत करती है ।

--

# श्रीमदमृतसूक्तिपंचाशिका

## रचना का समय -

इस रचना में संग्रहीत सूक्तियों का संग्रह विक्रम सं० 2010 में वैशाख मास की अमावस्या को सोमवार के दिन किया गया ।

## रचना का आकार -

इस रचना में कुल इक्यावन श्लोक हैं । पचास सूक्तियों तथा एक सूक्ति-संग्रह कालनिर्देश का श्लोक है ।

## रचना का प्रकाशन -

वैशाख शुक्ल 10, विक्रम सं० 2030 में इसका प्रथम संस्करण श्रीपीठ शोध-संस्थान, जम्मू से प्रकाशित हुआ । इसका संपादन श्री अरुण पारावे तथा पं॰ श्रीबलजिन्नाथ ने इस पर विस्तृत संस्कृत व्याख्या लिखी है ।

## रचना का वर्ण्य-विषय -

पूज्यपाद आचार्य महोदय का श्रीस्वाध्याय पत्रिका को दीर्घकालीन आश्रय मिला । उन्होंने इस पत्रिका के प्रत्येक अंक के लिए सामयिक विषयों, घटनाओं घटनाओं तथा ऋतुओं आदि को लेकर अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सज्जनता, दुर्जनता, पाप, पुण्य आदि विषयों पर अतीव सुन्दर सूक्तियों का निर्माण किया करते थे । प्राय: ये सूक्तियां "निवेदनम्" इस शि शीर्षक से उक्त पत्रिका में प्रकाशित होती रहीं । उन सूक्तियों में से शिखरिणी छन्द में निर्मित पचास सूक्तियों का संकलन करके आचार्यश्री ने उस संग्रह का नाम "श्रीमदमृतसूक्तिपंचाशिका" दे दिया ।

इस काव्य में स्वतंत्र भारत के शासकों और नेताओं की अनेक अनार्य नीतियों पर आलोचनात्मक श्लोक हैं । कलुषित हृदय और शरीर को श्वेत खादी के वस्त्रों से ढांपने वाले राजनयिकों की तथा चुनाव कार्यों में चलती हुई दूषित पद्धतियों की आलोचना इस काव्य की हृदयस्पर्शिनी प्रस्तुति है । सद्-असद् विवेक पर तथा पारमेश्वरी लीला पर रची हुई सूक्तियां अत्यंत मनोहारिणी हैं । आराध्य देव भगवान् शिव की भक्ति में सर्वथा तल्लीन रहने वाले परम योगियों के स्वरूप का पवित्र वर्णन तो साक्षात् मोक्ष प्रदान करने वाला है । सज्जनों की प्रशंसा और दुष्टों की निंदा के प्रसंग भी अत्यंत रोचक हैं । मानवजीवन की सफलता के लिए महत्त्वपूर्ण उपाय सत्संग है । सत्संग की महिमा को इस काव्य में पूर्णरूपेण मण्डित किया गया है ।

# स्वाध्यायमहिमस्तोत्रम्

## रचना का समय -

श्रीस्वाध्यायपत्रिका के लिए स्वाध्याय की प्रशंसा में लिखे गये श्लोकों में से शिखरिणी छन्द के इक्कीस श्लोकों का संग्रह विक्रम सं0 2014 में करके पूज्यपाद श्री आचार्य महोदय ने उसे स्वतन्त्र नाम "श्रीस्वाध्यायमहिमस्तोत्रम्" दिया ।

## रचना का आकार -

इस रचना में इक्कीस श्लोक शिखरिणी छन्द में तथा एक शार्दूलविक्रीडित में हैं ।

## रचना का प्रकाशन -

संग्रहीत रूप में यह रचना अभी तक अप्रकाशित है । श्रीस्वाध्याय पत्रिका में समय-समय पर ये श्लोक प्रकाशित हो चुके हैं ।

## रचना का वर्ण्य-विषय -

इस रचना में श्रीस्वाध्याय पत्रिका की महिमा का गुणगान किया है । विक्रम सं0 2019 में जोधपुर निवासी श्री रामानंद शास्त्री ने इसके श्लोकों का पद्यानुवाद भी किया है । यह पत्रिका संसार के सभी जीवों को शान्ति प्रदान करने वाली है । अनार्य भावों को विनिष्ट कर तथा वैरिवर्ग को विलीन करके यह आनन्दप्राप्ति कराने में सहायता प्रदान करती है । राष्ट्रियों के समस्त तापों का शमन करती है । समस्त प्राणियों को जागरुक करती है । कृतघ्नता, दुःशासन, विविध प्रकार के पाप तथा अविद्या को समूल नष्ट करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्रदान करती है । मन्द बुद्धि लोग भी इसके निरन्तर अध्ययन से बुद्धि वैभव से युक्त हो जाते हैं । इहलोक से लेकर परलोक तक का समस्त रहस्य इस पत्रिका के अध्ययन से शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार समस्त क्लेशों को समूल नष्ट करने वाली "श्रीस्वाध्यायपत्रिका" की महिमा का वर्णन ही इस रचना का मुख्य उद्देश्य है ।

## :: पिकप्रत्युक्ति ::

### रचना का समय -

यह रचना पूज्यपाद आचार्यश्री की सबसे पुरानी रचना है । विक्रम संवत 1985 से कुछ वर्ष पहले वाराणसी में संस्कृत विद्वानों की काव्य-गोष्ठी में स्वयं आचार्यश्री ने इसे सुनाया था । उस समय आचार्यश्री को श्रीवैद्यनाथ शास्त्री वरकले के नाम से संबोधित किया जाता था ।

### रचना का स्थान -

आचार्यश्री ने अपने विद्यार्थीकाल में वाराणसी में ही इसकी रचना की ।

### रचना का प्रकाशन -

विक्रम संवत 1985 में तत्कालीन विशिष्ट कवियों की रचनाओं के साथ ही इसका प्रकाशन हुआ । तत्पश्चात जून 1963 की "सूर्योदय:" पत्रिका के अंक 6 में वाराणसी से प्रकाशित हुई ।

### रचना का आकार -

इस रचना में कुल 15 श्लोक हैं ।

### रचना का वर्ण्य-विषय -

रचना के प्रथम तीन श्लोकों में माँ भारती की वन्दना की गई है । चतुर्थ श्लोक में साहित्यरीति की महिमा का वर्णन है । पंचम व षष्ठ श्लोक में कवि ने काव्य-भूमि की रचना करते हुए अपने आपको एक शिलातल पर शान्त भाव से बैठा हुआ बतलाया है जहाँ वह एक कोकिल युगल से उनका संवाद सुनते हैं । सप्तम श्लोक से द्वादश श्लोक तक यह संवाद चलता है जिसमें कोकिल युगल अपने-अपने मौन रहने के कारण को एक दूसरे से पूछते हैं । दोनों ही अपने-अपने मौन का कारण एक ही बतलाते हैं । वह है कि कविश्रेष्ठ कोकिल से ही मधुर स्वर प्राप्त करके अपने गीतों को विलासिता से युक्त करते हैं । उनकी बहुमधुरा,

प्रहर्षिणी तथा सद्भावों से रसयुक्ता वाणी को सुनने के लिए ही बन्धनयुक्त कर दिया जाता है । यही विचार करके वे मौन है तथा उन्होंने अपने स्वाभाविक कोलाहल को विस्मृत कर दिया है ।

इस मधुर संवाद को सुनकर कवि अपने निवास-स्थान पर लौट आते हैं और उसे काव्य के रूप में वर्णित कर देते हैं ।

----

## आत्मचरितम् --

यह रचना पूज्यपाद आचार्यश्री की छोटी-सी रचना है । इसमें उन्होंने अपने वंश, गोत्र, वेदशाखा आदि का परिचय दिया है । इस रचना का समय व स्थान का उल्लेख आचार्यश्री ने नहीं किया है ।

## वर्ण्य-विषय -

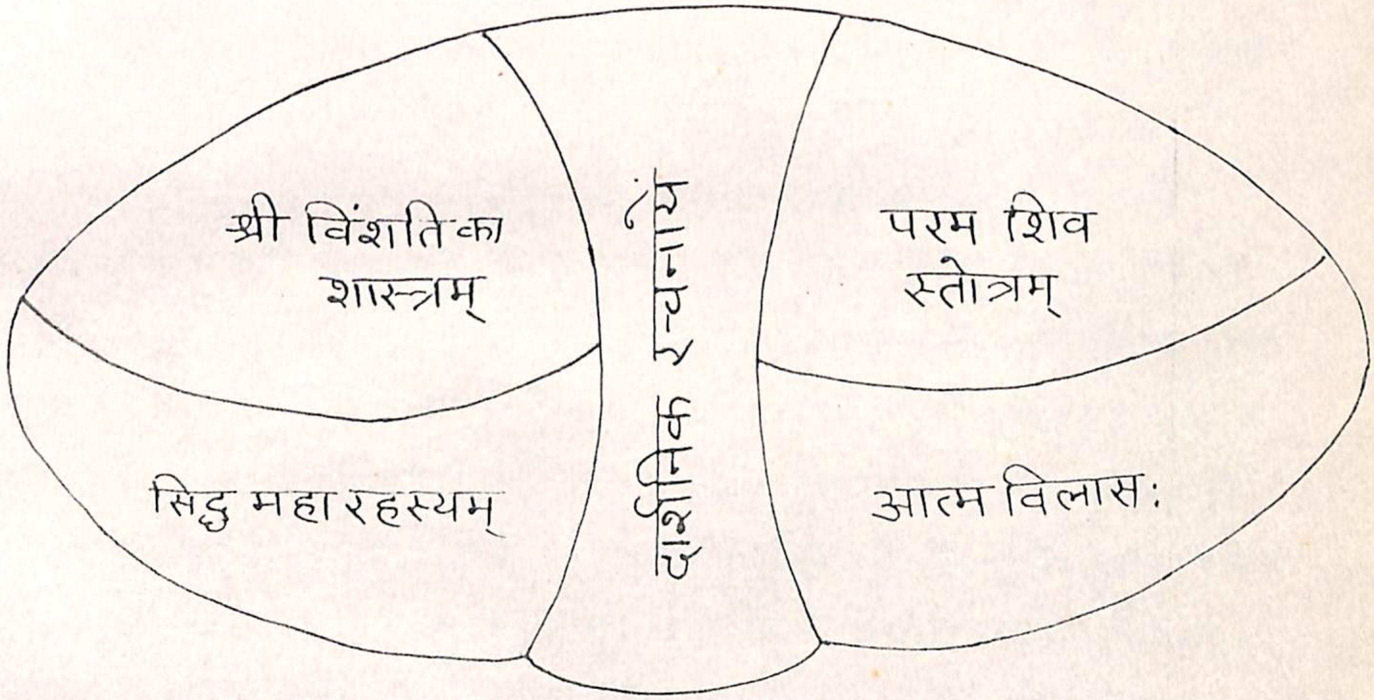
रचना में आचार्यश्री ने अपने आपको विद्याधरलोक का निवासी बतलाया है । शापवश उन्हें भूलोक में जन्म मिला । इस प्रकार यह उनका चौथा जन्म है । इस जन्म में वे शाप-मुक्त होना चाहते हैं । इसीलिए उन्होंने भगवती त्रिपुरबाला सुन्दरी का शरण ली है । मुनिवर श्रीदुर्वासा ने भी उन्हें इसी कारण "शाम्भवी-योग" की दीक्षा देकर कृतार्थ किया है । अपने गृहत्याग का विवरण भी इस कृति में दिया गया है । रचना के कतिपय श्लोकों में अपने वंश के कुछ प्रतिष्ठित विद्वानों की चर्चा भी की गई है । यह चर्चा श्रीवरकवंशचरितम् में भी की गई है ।

# तृतीय - अध्याय

## दार्शनिक रचनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन

**सिद्ध–दर्शन का संक्षिप्त परिचय**

1. श्री आत्म विलासः
2. श्री विंशतिका शास्त्रम्
3. श्री सिद्ध महारहस्यम्
4. श्री परमशिव स्तोत्रम्




दर्शन-चिन्तन

## श्री आत्मविलासः रचना की समालोचना

### कथावस्तु की समालोचना :

### रचना का मूल स्रोत -

श्री आत्मविलासः रचना सूक्ष्म दार्शनिक विचारधारा को प्रस्तुत करने वाली श्रेष्ठ रचना है । आचार्य श्री को 'श्री विद्या' की उपासना-दीक्षा अपने पितृ श्री श्रीकृष्ण जी से प्राप्त हुई तथा परम महर्षि दुर्वासा ने उन्हें शाम्भव योग विद्या की दीक्षा दी है । इस योग विद्या के द्वारा आचार्य श्री को अनेक अनुभूतियां हुईं । अनेक दिव्य-पुरुषों के दर्शन हुए और उन दिव्य पुरुषों से दर्शन की गहनतम विचारधाराओं का स्पष्ट ज्ञान भी उन्हें सुलभ हो सका । अपनी साधना स्थली कश्मीर क्षेत्र में रहकर उनकी तान्त्रिक साधना को अच्छी गति मिली और वे कठोर साधना से सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हो गये । शैव और शाक्त दर्शनों के गहन अध्ययन ने उनके साधक मन में परमेश्वर के सच्चिदानन्द स्वरूप, उसका परिपूर्ण स्वातन्त्र्य उसकी स्वभावभूता महाविद्या, उसका परिपूर्ण नैर्मल्य और परिपूर्ण कर्तृत्व पर अनेक विचार उभरते रहे । शाम्भव योग मुद्रा में स्थित वात रहित दीपक की ज्वाला के समान शान्त प्रकाशित बुद्धि में इन विचारों की सुदृढ़ता बढ़ती गई तथा वेदान्त और शैव धर्म के अनेक विचार शनैः शनैः आते-जाते रहे । शांकर वेदान्त का मायावाद, अविद्या और अज्ञानता तथा आध्याशेय आदि से परमेश्वर के अकर्तृत्व भाव की पुष्टि ने उनके मन में अनेक प्रश्नों को जन्म दिया । इन प्रश्नों का उत्तर स्वयं साधक मन से प्राप्त करके उन्हें जन-कल्याण के भ्रम निवारण हेतु श्री आचार्य महोदय ने इस ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया है ।

इस रचना का मूल आधार श्वेताश्वरोपनिषद् है । यह उपनिषद् शैव दर्शन का आदि स्रोत है । इसमें परमब्रह्म के अद्वैत भाव को प्रस्तुत किया गया है । शांकर वेदान्त के ब्रह्म विवर्तवाद की कड़ी आलोचना तो तन्त्रशास्त्र के अनेक ग्रन्थों में पाई जाती है जिनमें आचार्य सोमानन्द की शिवदृष्टि, आचार्य उत्पलदेव की ईश्वर प्रत्यभिज्ञा, आचार्य अभिनवगुप्त का तन्त्रसार तथा आचार्य क्षेमराज का प्रत्यभिज्ञाहृदयम् विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

आचार्य श्री ने अपने इस शास्त्र में उपरोक्त तन्त्र शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य अनेक विचारधाराओं को भी प्रतिपादित किया है । इसके कारण इसे विद्वद्जन नव्य शैव दर्शन के नाम से संबोधित करते हैं । विद्या और अविद्या की मूल स्रोत महाविद्या, कर्तृत्व और अकर्तृत्व भाव परिपूर्ण कर्तृत्व भाव से युक्त, समस्त प्रपंच संसार परमेश्वर की स्वतन्त्र लीला विलास होना आदि ऐसे विचार हैं जो परमेश्वर और जगत के विषय में उत्पन्न होने वाले समस्त दार्शनिक विचारों को समग्र रूप से परिपूर्णता देते हैं ।

इस प्रकार यह अनुपम दार्शनिक कृति अनुभूतियों के आधार पर वर्णित परिपूर्ण कृति है जिसमें अद्वैत भाव की समस्त न्यूनताओं पर विचार करके उसे अभिनव रूप दिया है ।

रचना का प्रयोजन -

भारतवर्ष ऋषि भूमि है । यहां पर विद्यमान तपोनिष्ठ ऋषियों ने अपनी साधना, चिन्तन और मनन से अनेक अनुभूतियां प्राप्त कीं । इन अनुभूतियों ने ही दर्शन को जन्म दिया । "दृश्यते अनेन इति दर्शनः" इस व्युत्पत्ति के आधार पर आत्मनुभव दर्शन ही दर्शन कहलाता है । ऋषि परम्परा के अनुसार समय-समय पर अनेक दार्शनिक विचारधाराएं चल पड़ीं ।

उनमें से बहुतों ने अपने आपको 'वेदान्त' का नाम दिया । वेदान्त मूलतः उपनिषदों में प्रतिपादित दर्शन विद्या का नाम है । स्वात्मानुभव के आधार पर साधक आचार्यों ने इन उपनिषदों में वर्णित दर्शन विद्या की अनेक व्याख्याएं कीं और अपने अनुभूतिपूर्ण सिद्धान्तों को ही सच्चा वेदान्त ठहराया । ऐसी दार्शनिक परम्पराओं के मुख्य तीन वर्ग हैं । {1} शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त, {2} वैष्णवों के विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि और {3} दक्षिण के शैवों के अभेद परिणामवाद, सामरस्यवाद आदि । इनमें से शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त ही विद्वत् समाज में वेदान्त कहलाता है । शेष दो वर्गों को वैष्णव दर्शन और शैव दर्शन कहा जाता है ।

वेदान्त विद्या के उपरोक्त तीन वर्गों में से किसी भी एक के प्रति आचार्य श्री की विशेष श्रद्धा नहीं थी । उनकी दृष्टि में उपनिषदों में प्रतिपादित मूल वेदान्त ही श्रेष्ठ था । उस वेदान्त के अनुसार एक मात्र परब्रह्म ही वास्तविक तथा सत्य तत्त्व है । शेष जितना भी प्रपंच देखने, कहने, सुनने आदि में आता है, वह सारे का सारा उस परब्रह्म की पारमेश्वरी लीला का प्रदर्शन मात्र है और ऐसी लीला में सदैव प्रवृत्त होकर के ही रहना परब्रह्म का अपना स्वभाव है । यह उसकी स्वभावभूत परमेश्वरता की बहिर्मुखी अभिव्यक्ति है । इसी औपनिषद् वेदान्त को आचार्य श्री ने सम्मान की दृष्टि से देखा और उसकी का वर्णन उन्होंने अपने 'आत्मविलासः' में किया है ।

श्री शंकराचार्य और आचार्य गौ पाद का सिद्धान्त विवर्तवादी सिद्धान्त है । विवर्तवाद के अनुसार "यह संसार मिथ्या है, स्वप्न के तुल्य है और बन्ध्या पुत्र की भांति न कभी पैदा हुआ और न कहीं वस्तुतः है ही । इसके आभास का मूल कारण अज्ञान है । यह अज्ञान माया का विकार है । अज्ञान के कारण ही भ्रमित होकर प्राणी परब्रह्म को कहीं

ईश्वर के रूप में, कहीं जीव के रूप में और कहीं जगत् के रूप में देखता रहता है । माया सत्य न होकर आभास मात्र है । वह ब्रह्म की उपाधि बनकर उसके प्रतिबिम्ब को अपने भीतर धारण करके उसे ईश्वर के रूप में दिखा देती है । यही मिथ्या प्रतीति विवर्त कहलाती है ।

आचार्य श्री शंकराचार्य के इस विवर्तवादी अद्वैतवेदान्त से सहमत नहीं थे । उन्होंने "श्री आत्मविलासः" की रचना इस सिद्धान्त की आलोचना को दृष्टिगत रखते हुए की । इसके अतिरिक्त रचना का दूसरा प्रयोजन परम कल्याणस्वरूप शम्भु को सन्तुष्ट करना है । आचार्य श्री लिखते हैं -

ग्रन्थमात्मविलासाख्यं जग्रन्थ सुमनोरमम् ।
कालकालो बाल चन्द्रभालः कामप्रदो वशी ।
वारणस्य प्रसूजानिः प्रीयतां परमो रसी ।।[1]

अर्थात् यह ग्रन्थ सज्जनों तथा देवताओं को आनन्द देने वाला होगा और मनुष्यों को दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न करेगा । काल के काल, बालचन्द्र को मस्तक पर धारण करने वाले, संपूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाले, अपनी ही इच्छा से रहने वाले, गजानन की माता का प्रिय पति परमाशिव जो कि रस-स्वरूप है सर्वथा प्रसन्न हों, इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ की रचना की गई है ।

श्री आत्मविलासः में प्रतिपादित तात्त्विक विवेचन -

आचार्य श्री ने "आत्म विलासः" रचना में सभी दार्शनिक तत्त्वों को प्रतिपादित किया है । उन्होंने शंकराचार्य के विवर्तवाद तथा मायावाद

---

1. श्री आत्मविलासः - उपसंहारनिरूपणम्, श्लोक 7-8, पृ. 199.

की कड़ी आलोचना करके समस्त संसार प्रपंच को ईश्वर का लीलाविलास माना है । प्रमुख तात्त्विक विवेचन की दृष्टि से ग्रन्थ में निम्नलिखित दार्शनिक विचारधारा को उभारा गया है ।

परमेश्वर की सच्चिदानन्द रूपता -

परमेश्वर में अनित्य उदय और अस्त ये दोनों विकार कभी नहीं होते अतः उसका अपने विलास से सर्वथा उदय ही होता है । अनिर्वचनीय परमेश्वर सर्वदा प्रत्यक्ष और कल्याण स्वरूप होकर सर्वोत्कृष्ट रूप से विद्यमान रहता है । अनन्तकोटिब्रह्माण्ड के जीवन सूत्र का सूत्रधार शिव-शक्तिस्वरूप परमेश्वर का विलास ही है । आचार्य श्री लिखते हैं -

सो यं विलास एवा स्य शक्तिरित्युदितो बुधैः ।
शिवशक्तिस्वरूपाभ्यां व्यवहाराय कल्पते ।।[1]

सृष्टि आदि का विलास ही परमेश्वर की परमेश्वरता है ये दोनों अभिन्न हैं । यही उसका विलास तत्त्व है । इसकी एकता ही अद्वैत है -

विलासो न स्वतो भिन्नो विलासादपि न स्वयम् ।
तदेतत् सच्चिदानन्दमद्वैतं पारमार्थिकम् ।।[2]

जगत् और उसकी मूलभूत वस्तु पर चिन्तन करके दार्शनिकों ने इसके मूल तत्त्व का निरूपण किया है जिसके परिणाम स्वरूप द्वैत भाव की उपस्थिति होने पर भी अद्वैत स्वरूप का विरोध उपस्थित नहीं होता, जिस प्रकार बुलबुले, भंग, वीचि (छोटे-बड़े तरंग) समुद्र के स्वरूप का

---

1. श्री आत्मविलासः - द्वितीयं प्रकरणम्, श्लोक 2, पृ. 23.
2. वही, श्लोक 3, पृ. 24.

विनाश नहीं कर सकते और न वे समुद्र से भिन्न होते हैं अपितु दृष्टा को अपने विलास से आनन्दित करते हैं उसी प्रकार चिद्रूप आत्मसत्ता भी द्वैतभाव में विद्यमान होकर भी अद्वैत है और अपने विलास से सच्चिदानन्द स्वरूप को धारण करती है । आचार्य श्री का कथन है -

प्रत्युतैषां विरोधेन स्वतत्त्वैव मुहुर्मुहुः ।
चिद्रूपा नन्दरूपेण विश्वरूपा विलासति ।।[1]

प्रकटता और अप्रकटता दोनों ही परमेश्वर की अनिर्वचनीय लीला को प्रस्तुत करती है । यह उसी प्रकार स्वयं सिद्ध है जिस प्रकार एक ही पुरुष पुत्र की दृष्टि से पिता और पिता की दृष्टि से पुत्र होता है । परन्तु पुत्रत्व और पितृत्व ये परस्पर विरोधी धर्म उस पुरुष को शरीर से भी पृथक् नहीं करते, और न ही कर सकते हैं । इसी प्रसंग को समझाते हुए आचार्य श्री का कथन है कि - एक ही सद्रूप आत्मा कर्तृत्वादि शक्तियों का अभिन्न संचालक अपने विलास से अपने आनन्द के लिए अपनी चिद्रूपता का विमर्श करता है ।[2] आचार्य श्री लिखते हैं -

आत्मैक एव सद्रूपः कर्तृत्वादिवशादयम् ।
चिद्रूपत्वं विमृशति स्वानन्दाय विलासतः ।।[3]

---

1. श्री आत्मविलासः - द्वितीय प्रकरणम्, श्लोक 7, पृ. 26.
2. आत्मा स्वयमेव बिना किसी साधन की सहायता से सदैव अहं रूप रूप से प्रकट ही होता रहता है । यह स्वयमेव प्रकाशमान् होते रहना उसकी प्रकाशात्मकता है, इसी को चिद्रूपता भी कहते हैं । " मैं हूं " इस प्रकार की प्रतीति उस चिदात्मकता की स्वभावभूत विमर्शन क्रिया है ।
3. आत्मविलासः - द्वितीयं प्रकरणम्, श्लोक 12, पृ. 19.

## परमेश्वर का परिपूर्ण स्वातन्त्र्य -

काश्मीर शैव दर्शन का मूल सिद्धान्त स्वातन्त्र्य कहलाता है । इस सिद्धान्त के अनुसार परमेश्वर ही एक मात्र परमसत्यतत्त्व है । शेष सब कुछ जो कि इस संसार में भासता है वह सर्वथा मिथ्या न होकर उसी के स्वातन्त्र्य का विलास है तथा उसी की स्वाभाविक परमेश्वरता की अभिव्यक्तियों का विचित्र दृश्य है । पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के लिए स्वातन्त्र्य प्राप्ति आवश्यक है । परमेश्वर के इस स्वातन्त्र्य का निरूपण करते हुए आचार्य श्री लिखते हैं -

स्वतन्त्रः सच्चिदानन्दः स्वात्मारामो महेश्वरः ।
परमो हम्महोरूपी स्वविलासो जयत्यसौ ।।[1]

अर्थात् वह परमेश्वर कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ है । अपनी शक्तियों का अद्वितीय समास भण्डार होने के कारण वह सच्चिदानन्द कहलाता है । वह अपने आप में रहता है, क्रीड़ा करता है तथा चमकता है, सम्पूर्ण - ऐश्वर्य - सम्पन्न होने के कारण वह महेश्वर है । अहम्महो रूपी परमशिव, अनिर्वचनीय, अचिन्त्य आत्मविलास स्वरूप है जो सर्वतः समुत्कृष्ट विद्यमान है ।

स्वातन्त्र्य के मूल उद्देश्य एवम् उसके चाहने का कारण स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री लिखते हैं -

दुःखमूलं पारतन्त्र्यं सुखमूलं स्वतन्त्रता ।
अतः सर्वात्मना सर्वैस्तस्याः प्राप्त्यै प्रसन्यताम् ।।[2]

स्वातन्त्र्य क

---

1. श्री आत्मविलासः - तृतीय प्रकरणम्, श्लोक 1, पृ. 41.
2. वही, श्लोक 2, पृ. 43.

दुःख का मूल परतन्त्रता है और सुख का मूल स्वतन्त्रता । अतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए सब लोगों को प्रयत्न करना चाहिए । परिपूर्ण स्वतन्त्र्य परमेश्वर में ही प्राप्त हो सकता है अतः उसकी प्राप्ति ही परम उद्देश्य होना चाहिए ।

ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त वस्तुएं जीव कहलाती हैं । जीवत्म की मुक्ति परतन्त्रता का कारण है । स्वतन्त्रता का नाम शिवता है । परमशिव अपनी लीलामयी स्वतन्त्रता से अपने ही भीतर अपने आपको ही जीव रूपता में प्रकट करता रहता है । जीवता और शिवता सापेक्ष है । परमेश्वर अपने कल्पित भाव से आत्म विलास स्वरूप में विद्यमान रहता है । आचार्य श्री का कथन है -

जीवता शिवता चै व सापेक्षा स्वविलासतः ।
अपारमार्थिको नूनं कल्प्यते स्वात्मनैव हि ।।[1]

दृढ़ जीव भाव को समाप्त करने के लिए कठोर प्रयत्न करना चाहिए । वह प्रयत्न अपने आपके स्वरूप के पूर्ण अनुभव के सिवाय कोई नहीं है । अपने आपका ठीक तरह से अनुभव करना ही स्वतन्त्रता है । इससे उल्टा अनुभव परतन्त्रता है । कथन का तात्पर्य है कि अपने आपके विषय में वास्तव में "मैं क्या हूं" इस बात के अनुभव को स्वतन्त्रता कहते हैं । अधूरेपन का अनुभव परतन्त्रता कहलाता है । आचार्य श्री लिखते हैं -

परमार्थतया स्वात्मविज्ञानं हि स्वतन्त्रता ।
अतो न्यथा तु विज्ञानं पारतन्त्र्यं प्रकीर्तितम् ।।[2]

---

1. श्री आत्म विलासः - तृतीय प्रकरणम्, श्लोक 8, पृ. 48.
2. वही, श्लोक 19, पृ. 62.

परमस्वतन्त्र परमेश्वर की प्राप्ति के लिए श्रोत्रिय अर्थात् सिद्धान्त ज्ञानी शब्द, ब्रह्म निष्णात और ब्रह्मसिद्ध अर्थात् अनुभवज्ञानी गुरु से श्रोत्रियता और ब्रह्मनिष्ठता का अनुभव करके फिर अपने सच्चिदानन्द रूप में सर्वथा विहार करते रहना चाहिए ।

श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं स्वं श्रोत्रियाद, ब्रह्मनिष्ठतः ।
विज्ञाय सच्चिदानन्दरूपे विहरतां सदा ।।[1]

इस चराचर ब्रह्माण्ड में देवता, पशु और पक्षी आदि सभी आनन्दरूपी अमृत के समुद्र-स्वरूप स्वातन्त्र्य को ही सर्वदा चाहते हैं । अतः बुद्धिमान लोगों को उसी की साधना करनी चाहिए । वही सीखने और सिखाने योग्य है । आचार्य श्री लिखते हैं -

इच्छन्ति नित्यमिह सौख्यसुधासमुद्रं
स्वातन्त्र्यमेव पशुपक्ष्यमरादयोऽपि ।
तस्मात् बुधैः खलु तदेव समर्थनीयं
नान्यत् विमृष्यपरमस्ति हि शिक्षणीयम् ।।

तांत्रिक वाङ्मय में भी परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । तदानुसार शिवतत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक और उनमें रहने वाले अनन्त प्रमातृ-प्रमेय-प्रमाण के प्रपंच की तथा शरीर, भुवन, भाव आदि के अनन्त वैचित्र्य की सृष्टि परिणाम न होकर उस ईश्वर का स्वातन्त्र्य ही है । आचार्य अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रसार' में लिखा है -

एवं यथैतत् प्रतिबिम्बितं भाति, तथैव विश्वं परमेश्वर प्रकाशे । ननु अत्र निमित्तं किं स्यात् । माभूत् किंचित् । ननु किमकारणकं स्यात् ।

---

1. श्री आत्मविलासः तृतीय प्रकरण, श्लोक 23, पृ. 66.

हन्त तर्हि हेतुप्रश्नः । तत्र किं बिम्बवाचोयुक्त्या । हेतुश्च परमेश्वर शक्तिरेव स्वातन्त्र्यापरपर्याया भविष्यति । विश्वप्रतिबिम्ब धारित्वाच्च विश्वात्मकत्वं भगवतः ।[1]

परमेश्वर की स्वभावभूता महाविद्या -

आत्मविलास स्वरूपिणी विद्या तथा अविद्या इन दोनों को प्रकाशित करने वाली महाविद्या सर्वोत्कृष्ट है । वह महाज्ञान रूपिणी है । वही सच्चिदानन्द परमेश्वर की स्वभावभूता है । वह सर्वथा अज्ञेय ही रहतीहै । परमेश्वर की शक्ति को ज्ञेयरूपता में न आने देने के कारण ही वह महामाया है । विद्या और अविद्या दोनों चेतन भी हैं और जड़ भी क्योंकि ये परमेश्वर के विलास से उल्लसित हैं । चेतनत्व और जड़त्व ये दोनों आरोप मात्र हैं, और आरोप मन्त्र के लिए दो ही क्या, परस्पर विरोधी अनेक धर्म एका धिकरण वच्छेद से और एकसमया वच्छेद से आरोपित होते हैं । आचार्य श्री का कथन है -

स्वात्मप्रकाशकत्वेन विद्या चेयजडा ततः ।
जगत्प्रकाशकत्वेना विद्या किं ना जडा भवेत् ।।[2]

अर्थात् आत्मस्वरूप की प्रकाशिका होने से विद्या को यदि चेतन कहा जाए तो जगत् की प्रकाशिका होने से अविद्या को चेतन क्यों न कहा जाये ? इस प्रकार दोनों ही चेतन हैं और दोनों ही जड़ । जड़ और चेतन का निर्णय तो स्वातन्त्र्य और परतन्त्र्य शक्ति से ही हो सकता है । जहां स्वातन्त्र्शक्ति है वह चेतन और जहां परतन्त्र्य शक्ति वह जड़ ।

---

1. तन्त्रसार - आचार्य अभिनवगुप्त, पृ. 11.
2. श्री आत्मसंविलासः - चतुर्थ प्रकरणम्, श्लोक 4, पृ. 81.

विद्या और अविद्या दोनों सापेक्ष होने से उत्पत्ति विनाशशीली है अतः दोनों ही जड़ और चेतन हैं । आचार्य श्री लिखते हैं -

यद्युच्येत जड़ा विद्या नश्यमानतया ननु ।
विद्या पि नश्यमानत्वाज्जडा भवितुमर्हति ।।[1]

वस्तुतः विद्या सीधी हो या टेढ़ी वह सत् ही है । उसमें जड़ या चेतन अथवा टेढ़ापन या सीधापन केवल सत् के आधार पर कल्पित होता है । अविद्या भी ज्ञान रूप होती हुई विद्या ही है, विपरीतता उसमें कल्पित है । मूलभूत समरस तत्त्व ही अपने विलास के द्वारा कल्पना करता हुआ एक ओर से विद्या के रूप में और दूसरी ओर से अविद्या के रूप में प्रकट होता है । आचार्य श्री लिखते हैं -

परीता विपरीता वा विद्या विद्यातया तु सत् ।
वैपरीत्यं सौपरीत्यं कल्पितं केवले सति ।।[2]

कथन का तात्पर्य यह है कि कल्पित होने के कारण दोनों जड़ हैं और ज्ञान रूप होने के कारण दोनों ही चेतन भी हैं । आचार्य श्री के मत में विद्या या अविद्या वस्तुतः है ही नहीं । उनके मतानुसार एक मात्र महाविद्या ही वस्तुतः है । वही महामाया[3] होती हुई अपने आपके ही भीतर विद्या और अविद्या को अपनी ही कल्पना के द्वारा प्रकट करती रहती है ।

---

1. श्री आत्मविलासः - चतुर्थ प्रकरणम्, श्लोक 18, पृ. 92.
2. वही, श्लोक 18, पृ. 103.
3. महाविद्या महामाया-स्वरूपिणी महा या है । अर्थात् अमा की भी अमा है । का महामाया को कभी भी किसी के भी द्वारा जाना नहीं जा सकता । उसे महाविद्या कहने से तात्पर्य है कि अज्ञेय होती हुई भी वह सदा है । उसकी अज्ञेयता से ही उसकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध होती है । समस्त प्रपंच उसके अन्दर विद्यमान है । इसी कारण उस मूल तत्त्व को महामाया कहा गया है ।

अस्मिन्मते स्वविद्या वा विद्या वा नास्ति तत्त्वतः ।
महाविद्या स्वात्मरूपा समुल्लसति सर्वतः ।।[1]

अतः यह कहा जा सकता है कि संपूर्ण कल्पनाओं की एक मात्र समरस आधार स्वरूप महाविद्या आत्म-स्वरूपिणी सर्वतः तथा सर्वथा भली भांति अनिर्वचनीय रूप से चमक रही है । वस्तु सद पदार्थ को कल्पित द्वैतभाव कर समझाने के लिए उस वस्तु के विद्या और अविद्या के रूप में कल्पना से ही स्थापित करके एक मात्र समरस आधार स्वरूप को महाविद्या कहा जाता है । सद और असद इनसे वर्जित और सद और असद इन व्यवहारों की एक मात्र अधिष्ठान, विश्व से उत्तीर्ण तथा विश्वस्वरूपिणी आय रूप यह महाविद्या विराज रही है । आचार्य श्री लिखते हैं -

सदसद्वर्जिता सैषा सदसद्व्यवहारभूः ।
विश्वोत्तीर्णा विश्वमयी स्वात्मरूपा विराजते ।।[2]

महाविद्या समस्त व्यवहार का कारण और आधार है, परन्तु समस्त व्यवहार से अतीत भी है । अतः उसे विश्व से उत्तीर्ण भी कहा गया है और विश्वमयी भी । वह परोक्षतथा अपरोक्ष महाविद्या शिवा कारा है उसका कोई पार नहीं । वह शिवरूपी समुद्र की रत्नभूत या शिव की आत्मस्वरूप है । अज्ञान विनाशिनी वह गुरु श्रेष्ठ रूपिणी है । भक्तों को अमृत की वृष्टि करने वाली मेघ-श्रेष्ठ वह कृपा की समुद्र है । श्रुतियों, उपनिषदों व अन्यान्य तन्त्र ग्रन्थों तथा पुराणों में उसे "उमा" कहा है अपने स्वाभाविक सौन्दर्य में रममाण वह नित्य ऊंकार है । परशिव परमेश्वर को परिपूर्ण आनन्द देने वाली तथा उपासकों को भी आनन्दित करने वाली सकल तत्त्व-स्वरूपिणी परिपूर्ण महाविद्या है ।

शिवा कारा पारा भवजलधि सारा गुरुवरा
कृपापारावारा भजदमृतधाराधरवरा ।
उमाकारोंकारा निजसहजसौन्दर्यरमणी
महाविद्या सेयं जयति परमानन्दरमणि ।।

परमेश्वर की परिपूर्ण निर्मलता -

परमेश्वर मलों[1] से नित्यमुक्त है । वह अपने आप कल्पित की गई मलिनता से मलिक जीव भाव को पाता हुआ मुक्त भी बद्ध के समान होकर संसारिता को पाता है । संसारिता को प्राप्त हुआ होता यह मलों के करतम्य से शिव से लेकर पृथ्वि की पर्यन्त सीढ़ियों[2] से उत्तर आता है । आचार्य श्री लिखते हैं -

---

1. अज्ञान को मल कहते हैं । मल तीन प्रकार के हैं - (1) आणवमल, (2) मायीयमल और (3) कार्नमल ।
   (1) आणवमल - आत्मा परिपूर्ण है, परन्तु जीव अपने आपको अपूर्ण समझता है यह उसका आणवमल है ।
   (2) मायीयमल -आत्मा एक है और अभिन्न है, परन्तु जीव अपने आपको भेद दृष्टि से देखता है और तदनुसार ही समझता है । यह भेद दृष्टि उसका मायीयमल है ।
   (3) जीव के शरीर, इन्द्रिय और मन से किये गये कर्मों में उसके कर्म करने का अभिमान रहता है । यह कर्मों के प्रति कर्तृत्व का संकुचित अभिमान और उनका संस्कार कार्यमल होता है ।

2. सीढ़ियाँ 36 हैं जो तत्त्व कहलाती हैं । अवरोह क्रम से वे इस प्रकार हैं - शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, काल, कला, नियति, राग, विद्या, पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार, बुद्धि, शब्द तन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रस तन्मात्र, गन्ध तन्मात्र, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, वाणी, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, आकाश, वायु तेज, जल, पृथिवी ।

स्वात्मकल्पित मालिन्यमलिनो जनितां भजन् ।
मुक्तो ऽपि बद्ध इव सन् संसारित्वं प्रपद्यते ।
मुक्तो संसारित्वं प्रपन्नो यं मलानां तारतन्यतः ।
शिवादिक्षितिपर्यन्तसोपानैरवरोहति ।।[1]

उस परमेश्वर का यह अवरोह - आरोह क्रम स्वेच्छा से चलता रहता है । इस कार्य में वह पूर्ण स्वतन्त्र है । अपनी परिपूर्ण निर्मलता से वह उच्च सीढ़ियों की ओर बढ़ता है और समलता से निचली श्रेणी की ओर । अत्यन्त निर्मल आत्म-स्वरूप पूर्ण चिद्रूप तथा पूर्ण स्वतन्त्र होने से संपूर्ण कल्पनाओं का एक मात्र समरस अधिष्ठान है । वह नाना प्रकार की कल्पित मलिनताओं से मलिन होता हुआ भी सर्वदा स्वभावभूत निर्मलता को कभी नहीं छोड़ता है । संपूर्ण मल[2] आत्म दृष्टि से निर्मल और अनात्म दृष्टि से मल है ।

कर्मों के अनुष्ठान से पूर्ण निर्मलता कभी भी नहीं पाई जाती । शुभ कर्मों के अनुष्ठान से कुछ कुछ निर्मलता अवश्य प्राप्त होती है, किन्तु अपने आपके स्वरूप के अनुभव[3] की दृढ़ता से ही वह पूर्ण निर्मलता मिल जाती है । आचार्य श्री लिखते हैं -

कर्मानुष्ठानतो नैव नैर्मल्यं पूर्णमाप्यते ।
स्वात्मस्वरूपविज्ञाननिश्चयात्तत्तुलभ्यते ।।[4]

---

1. श्री आत्मविलासः - पंचमं प्रकरणम्, श्लोक 23, पृ. 119-122.
2. संपूर्ण मल 36 हैं जिन्हें तत्व भी कहा जाता है । अपने आप से भिन्न रूप में प्रमेयतया देखना मल तथा इन्हें आत्मरूपता से देखना ही नैर्मल्य है ।
3. अपना आप देह, प्राण, चित्त आदि से उत्तीर्ण शुद्ध चैतन्य स्वरूप तथा असीम परिपूर्ण और परम ऐश्वर्यवान् साक्षात् अनुभव में आए तो उसे आत्मस्वरूप का अनुभव कहते हैं ।
4. श्री आत्मविलासः - पंचमं प्रकरणम्, श्लोक 11, पृ. 132.

आत्मस्वरूप के अनुभव से संपूर्ण शंकाएं नष्ट होकर पूर्ण नैर्मल्य की प्राप्ति होती जाती है । ऐसे पूर्ण नैर्मल्य व्यक्ति को सौ ब्रह्महत्याओं जैसा पाप भी कभी संपूर्ण नहीं कर सकता है ।[1] संसार को उल्लसित करने वाला विपरीत ज्ञान (अविद्या) ही मल है और संसार को उच्छेद करने वाला यथार्थज्ञान (विद्या) नैर्मल्य है । पूर्ण नैर्मल्य तो आत्म स्वरूप है जो महाविद्या से चमत्कृत रहता है । यह सद् गुरु की कृपा से ही प्राप्त होता है । वह परमेश्वर अपने स्वरूप विलास सेउल्लसित विश्वरूप आहुति का सादृश्य रहित चिद्रूप अग्नि में होम[2] करने वाले अपने विलास रूपी पूर्णा नन्दा मृत के पान से पूर्ण नैर्मल्य से प्राप्त करते हुए हृदय में सर्वोच्च से या विलक्षण स्वरूप से शोभित हो रहे हैं -

निजसहज विलासोल्लासितां विश्वरूपा-
मनुपमचितब्रह्माबाहुतिं होमयन्तः ।
निजविलासितपूर्णा नन्दपीयूषपानै -
रधिहृदि विजयन्ते पूर्णनैर्मल्य भाजः ।।[3]

---

1. स्वात्मविज्ञानविश्रान्तो ब्रह्महत्याशतैरपि ।
न जातु स्पृश्यते पूर्ण नैर्मल्यमिदमेव हि ।।
- श्री आत्मविलास - पंचम प्रकरणम्, श्लोक 18, पृ. 145.

2. इस विश्व में प्रकट होने वाले समस्त भाव, भुवन, शरीर, करण, प्राण आदि पदार्थों को और एक साथ समस्त विश्व को ही अपना आप ही निश्चयपूर्वक समझना और उस तरह से साक्षात् अनुभव करना ही ज्ञान योग का होम कहलाता है ।

3. श्री आत्मविलासः - पंचम प्रकरणम्, श्लोक 24, पृ. 152.

परमेश्वर का परिपूर्ण कर्तृत्व -

पारमेश्वरी महाशक्ति की अभिव्यक्ति के तीन मुख्य रूप होते हैं। (1) इच्छा, (2) ज्ञान और (3) क्रिया। इन तीनों शक्तियों के भीतर ओत-प्रोत भाव से रहने वाली आत्मा की स्वभाव भूत परमेश्वरता को ही उसका विलास कहा गया है। इसी विलास के कारण परमेश्वर सृष्टि संहार आदि पांच कृत्यों को चाहता है, जानता है और करता है, यह विलास इच्छा आदि तीन की अपेक्षा से चतुर्थ कहलाता है। यह विलास ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि में भी रहता है, परन्तु वहां परिमित रूप में ही रहता है अपरिकमित और परिपूर्ण विलास परमेश्वर में ही रहता है। क्रिया शक्ति के कारण ही कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व इन दोनों भावों का आत्म स्वरूप में विलास होता है। यह आत्मस्वरूप विज्ञान जब अपने विकसित स्वरूप को स्वयमेव अपरोक्ष साक्षात्कार हो जान लेता है अर्थात् स्वयं अपना अनुभव करता है तब वह अनुभव करने वाला बनता हुआ उस अनुभव विधा का कर्ता होता है। परमेश्वर में इस कर्तृत्व की परिपूर्णता है।

आत्मा के कर्तृत्व-ज्ञान के बिना अकर्तृत्व का ज्ञान सिद्ध नहीं होता। कर्तृत्वं अकर्तृत्वं ज्ञान से युक्त चित्तस्वरूप परमेश्वर सर्वप्रकार से पूर्ण कर्त्ता है। श्रुति स्मृति आदि संपूर्ण शास्त्र आत्मस्वरूप को पूर्ण ही समझता है। आचार्य श्री का कथन है -

> कर्तृत्वज्ञानसहितो ऽप्यकर्ता यदि चेद्भवान्।
> पूर्णकर्ता चित्स्वरूपः साम्प्रतं भाति सुन्दरः ।।[1]

आत्म-स्वरूप की पूर्ण कर्तृता सिद्ध करने के लिए आचार्य श्री लिखते हैं -

---

1. श्री आत्मविलासः - षष्ठं प्रकरणम्, श्लोक 11, पृ. 173.

यस्य कल्पनया भातः कर्तृतान कर्तृते उभे ।
निराबाधा कल्पकस्य न सा किं पूर्णकर्तृता ।।[1]

अर्थात् जिसकी कल्पना से कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व दोनों चमकते हैं, उस कल्पना करने वाले की, यह पूर्ण कर्तृता अकुण्ठित क्या सिद्ध नहीं होती ? अर्थात् जिसकी कल्पना मात्र से कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व दोनों को सत्ता, चिन्ता तथा आनन्दता मिलती है, उस कल्पक पूर्ण कर्तृता की विद्यमानता सर्वग्राह्य है ।

इस प्रकार कर्तृत्व और अकर्तृत्व ये दोनों जिसकी सत्ता मात्र से प्रकाशित होते हैं उस परम तत्त्व को जो सच्चिदानन्द स्वरूप है उसको पूर्णकर्ता ही कहा जाता है । आचार्य श्री लिखते हैं -

अद् गतद् द्वयं यस्य सत्तयैकं प्रकाशते ।
सच्चिदानन्दस्वरूपं वदामः पूर्णकर्तृताद् ।।[2]

रचना में अभिनव दार्शनिक चिन्तन -

दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण इस कृति में अद्वैत से संबंधित अनेक नवीन सूक्ष्म विचारों को प्रस्तुत किया है । अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह सारे का सारा संसार तथा जीवों का बन्ध-मोक्ष वैचित्र्य सर्वथा आकाश पुष्प तुल्य या शशविषाण तुल्य है तथा मूल तत्त्व के सम्मुख स्थित किसी अविद्या जैसी उपाधि के आधार पर चल रहा है । परन्तु आचार्य श्री का कथन है कि यह सारे का सारा प्रपंच परमेश्वर के स्वतन्त्र लीला विलास का अभिनय मात्र है । इस ग्रन्थ में मोक्ष शास्त्र के तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है । प्रमुख विचारधारा इस प्रकार है -

---

1. श्री आत्मविलासः - षष्ठं प्रकरणम्, श्लोक 18, पृ. 182.
2. वही, श्लोक 19, पृ. 183.

अद्वैत वेदान्त के मायावाद तथा अविद्या पर नवीन चिन्तन -

अविद्या अज्ञान को तथा विद्या यथार्थ ज्ञान को कहा गया है। अज्ञान को माया कहा गया है। यह माया तत्त्व जड़ सृष्टि का कारण है। वेदान्त शास्त्र में माया (अज्ञान) को अवस्तुभूत माना है। वेदान्तसार में लिखा है " अज्ञानादिसकलजड़समूहो वस्तु"[1] माया तत्त्व को जड़सृष्टि का उपादानकरण मानने से उसे जड़ माना जाता है। जड़ अवस्तुभूत है। तन्त्र साहित्य में इस जड़ को वस्तुभूत तत्त्व माना गया है। तदनुसार परमशिव की इच्छा से ही इस माया तत्त्व की सृष्टि होती है। इसका मूल कारण परमेश्वर की माया शक्ति है। आचार्य अभिनवगुप्त ने तन्त्रसार में लिखा है -

"तस्य च सृजता परमेश्वरेच्छामयं, तत एव च नित्यं, सृक्ष्यमाण-वस्तुगतस्य रूपस्य जड़तयाभासयिष्यमाणत्वाज्जकं, सकलकार्यव्यापनादि रूपात्वाच्च व्यापकं मायामयं तत्त्वम् उपादानकारणम्"।[2]

वेदान्त के अनुसार माया की सृष्टि न तो ब्रह्म के हाथ में रहती है और न ईश्वर के हाथ में। वहां माया को एक असत्त्व भूत तथा अनादि उपाधि के रूप में माना गया है। इस अवधि के ही सम्बन्ध से ब्रह्म ईश्वर रूप में प्रकट होता हुआ जीवों के पूर्वकल्पक के कर्मों के अनुसार ही संसार की सृष्टि करता है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में लिखा है -

---

1. वेदान्तसार, सदानन्द योगी, कारिका 33, पृ. 72.
2. तन्त्रसार, अभिनवगुप्त, पृ. 77.

"सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते । किमपेक्षत इति चेत्, धर्माधर्मावपेक्षत इति वदाम । अतः सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षया विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः ।"[1]

आचार्य श्री अविद्या (माया) को जड़ नहीं मानते उनके अनुसार -

स्वात्मप्रकाशकत्वेन विद्या चेदजड़ा ततः ।
जगत्प्रकाशकत्वेना विद्या किं ना जड़ा भवेत् ।।[2]

अर्थात् आत्म-स्वरूप की प्रकाशिका होने से विद्या को यदि चेतन कहा जाए तो जगत् की प्रकाशिका होने से अविद्या को चेतन क्यों न कहा जाए ? वास्तव में अविद्या भी परमेश्वर का ही विलास है अतः वह भी चेतन ही है, परन्तु पूर्ण होती हुई भी विलासकी लीला में अपूर्ण जैसी प्रकट होती रहती है । यही कारण है कि कल्पित मात्र सम्पूर्ण सृष्टि से अपूर्ण की अनुभूति के कारण पूर्ण शान्ति नहीं मिलती इसीलिए सृष्टि को जड़ माना गया है । काल्पनिक होने के कारण यह सत्य नहीं है । वस्तुतः विद्या या अविद्या कुछ भी नहीं । यह तो अपने आप स्वरूप-भूत सर्वत्र तथा सर्वप्रकार महाविद्या के रूप ही चमत्कृत होते हैं ।

समस्त प्रपंच आत्मदेव का विलास -

वेदान्त के अनुसार "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" की बात कही गई है । उनके अनुसार यह संसार मिथ्या है । किन्तु आचार्य श्री का मानना है कि यह समस्त प्रपंच परमेश्वर का विलास है । इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीन शक्तियों से ओत-प्रोत होकर परमेश्वर की विलास लीला ही

---

1. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य - आचार्य शंकर, 2-1-34.
2. श्री आत्मविलासः - चतुर्थ प्रकरणम्, श्लोक 4, पृ. 81.

समस्त प्रपंच की सृष्टि करती है । सृष्टि स्थिति संहारादि पंचकृत्यों में परमेश्वर का वही लीला विलास विद्यमान है । आरोह अवरोह क्रम से छत्तीस तत्वों की क्रीड़ा विलासिता ही समस्त प्रपंच की उत्पत्ति और संहार करती है । आत्मस्वरूप आत्मदेव की सद् स्थिति उसके काल्पनिक जगत की सद् स्थिति का आभास भी कराती है ।

परमेश्वर का परिपूर्ण कर्तृत्व भाव -

अनेकों दर्शनों ने ईश्वर के कर्तृत्व अकर्तृत्व भाव पर अपने विचार व्यक्त किये हैं । कतिपय दार्शनिक आत्म स्वरूप को अकर्ता कहते हैं और अन्य लोग विश्व का कर्ता कहते हैं । आचार्य श्री का कथन है कि ये दोनों ही विचारधारायें असद् अर्थात् कल्पित मात्र हैं । वेदान्ती लोग विश्व को आत्मा में मृग-जल के समान भ्रम बतलाकर कहते हैं कि विश्व जब वस्तुतः उत्पन्न ही नहीं हुआ, तब आत्म-स्वरूप को कर्त्ता कैसे कह सकते हैं । अतः उनका कहना है कि आत्मा अकर्त्ता है । दूसरे लोग जगद् को सत्य मानते हैं । उनके अनुसार आत्मा कर्त्ता है ।[1]

∴ इन दोनों कथनों के आधार पर यदि आत्मा अकर्त्ता माना जाए तो वह जड़ हो जायेगा तथा कर्त्ता माना जाये तो द्वैत हो जायेगा आत्मस्वरूप तो अद्वितीय है । अद्वितीय समरस आत्मा में कर्तृत्व और अकर्तृत्व का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? हो ही नहीं सकता । अतः यह मानना

---

1. वदन्ति केचिदात्मानमकर्तारं तथा परे ।
   विश्वकर्तारमिति तद् वस्तुतो द्वयमप्यसद् ।।
   - श्री आत्मविलासः - षष्ठं प्रकरणं, श्लोक 2, पृ. 163.

होगा कि कर्तृत्व और अकर्तृत्व ये दोनों आत्मदेव के आत्म-विलास मात्र हैं दूसरी वस्तु नहीं । आचार्य श्री लिखते हैं -

अकर्तृत्वे जड़त्वं स्यात् कर्तृत्वे द्वैतमापतेत् ।
अद्वितीये स्वात्ममात्रे कर्तृता कर्तृने कथम् ।।[1]

. . .

---

1. आत्मविलासः - षष्ठं प्रकरणं, श्लोक 3, पृ. 164.

# श्रीविंशतिकाशास्त्र की समालोचना

## कथावस्तु की समालोचना -

### कथास्रोत -

यह रचना कवि के दार्शनिक ग्रन्थों का गहन अध्ययन एवं साधना से प्राप्त विविध अनुभवों का सार रूप है। रचना संक्षिप्त होते हुए भी इतनी प्रौढ है कि उसे शास्त्रों की कोटि में रखा जा सकता है। तन्त्रशास्त्र के विविध लक्षणों के स्वरूप का काव्यात्मक दृष्टि से वर्णन करके सरस बना दिया गया है। शैव और शाक्त आगमों के तान्त्रिक विचार और धारणाओं को प्रस्तुत करना ही यहां कवि का अभीष्ट रहा है। वस्तुत: इस रचना में मूल तत्त्व के प्रकाश और विमर्श रूपों का विवेचन करके यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार उस एक पदार्थ ने अपने लीलात्मक स्वभाव से इस जगद् रूपी नाटक का अभिनय किया है। वेदान्त के अद्वैतवाद को मानते हुए भी तान्त्रिक दर्शन शांकरमायावाद को नहीं मानता। श्रीवल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद से मिलता-जुलता होते हुए भी वह अनेक धारणाओं में स्वतन्त्र है। इस प्रकार की तान्त्रिक-परम्परा का विस्तृत वर्णन करने के उद्देश्य से ही इस रचना का निर्माण किया गया।

रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि शाक्त परम्परा की परम्परागत गूढ धारणाओं का सरसतापूर्ण शैली में इस प्रकार विवेचन किया गया है जिससे सामान्य ज्ञान वाला व्यक्ति भी तान्त्रिक वाङ्मय के प्रति सहज श्रद्धानत हो सके। सामान्य रूप से यह धारणा बैठ गई है कि तान्त्रिक परम्परा में पंचमकारका सेवन किया जाता है और भैरवी-चक्रादि की उपासना की जाती है, किन्तु इस धारणा को यह रचना निर्मूल कर देती है। शैव और शाक्त आगमों के समस्त सिद्धान्तों को बीस कारिकाओं में वर्णित करके आचार्यश्री ने "बिन्दु में सिन्धु" भर दिया है। इसको पढने से श्रीतन्त्रालोक का गाम्भीर्य, श्रीशिवसूत्र की सूत्रात्मकता, श्रीस्पन्दकारिका का प्रवाह और श्रीमहार्थमंजरी की सरलता की स्मृति हो जाती है।

ग्रन्थकर्त्ता आचार्यश्री श्रीविद्या के श्रेष्ठ उपासक एवं सर्वतन्त्रस्वतन्त्र साधक है । वे परमेश्वर से अभिन्न है । पारमेश्वरी शक्ति के सभी तत्त्वों में अपना ही स्वरूप देखते हैं । "अहं ब्रह्मास्मि" के समान वेदान्त महावाक्य के साधक हैं । ब्रह्म की अनन्तरूपा शक्ति से ही सृष्टि की रचना, स्थिति व संहार हुआ करता है ।

अतः यह कहा जा सकता है कि इस रचना का स्रोत कवि की तान्त्रिकशास्त्रों का अध्ययन एवं श्रीविद्या की उपासना से प्राप्त सिद्धियों की सार्थक अभिव्यक्ति है ।

रचना का प्रयोजन -

मानव-जीवन-यात्रा के अनेक उद्देश्य दिखाई देते हैं । ये सभी उद्देश्य जीवन की आकांक्षाओं की पूर्ति के रूप में होते हैं । प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक के कतिपय घंटों में मनुष्य कई उद्देश्यों की प्राप्ति करके हर्षित होता है और अप्राप्त उद्देश्यों के लिए दृढ संकल्प बनता है । इन समस्त उद्देश्यों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । "मोक्ष" जीवन का परम उद्देश्य होता है ।

मोक्ष के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं । अपनी-अपनी दृष्टि से उन्होंने मोक्ष की व्याख्या भी अनेक प्रकार से की है और उसकी प्राप्ति के अनेक साधन बताये हैं । समस्त दर्शन-शास्त्रों की चिन्तन-परम्परा का अंतिम लक्ष्य भी "मोक्ष" प्राप्ति ही है । त्रिविध ताप (दैहिक, दैविक व भौतिक) से सन्तप्त मनुष्य इनसे मुक्त होना चाहता है । "मुक्ति" प्राप्ति हेतु उसे शास्त्रों की शरण लेनी पड़ती है । आचार्यश्री ने भी इस रचना को समस्त दुःखों का विनाश करने वाली कहा है । उनका कथन है --

वैराग्यवन्मनुजसेव्यमिदं सदैव
हृद्यप्रबोधचतुरं सुमनः शरण्यम् ।

ना तः परं किमपि शास्त्रमशेषशोक-

पाथोधिशोषकरणेन शिवानलः स्यात् ।।[1]

अर्थात् इस शास्त्र का अभ्यास करने के अधिकारी वैराग्यवान मानव हैं। यह शास्त्र दृढता-पूर्वक शिष्य को समझाने में बड़ा उपयोगी है। सुन्दर मन वाले मनुष्यों को यह शरण देने योग्य है, अथवा उपयोगी है। देवता भी इसकी शरण ले सकते हैं। यही इसका माहात्म्य है। समस्त दुःखरूप समुद्र को सुखा देने से यह शास्त्र शिवमय अग्नि है।

इस प्रकार यह शास्त्र समस्त दुःखों का अन्त करके अनन्त आनन्द प्राप्त कराने वाला है। "मोक्ष" समस्त दुःख, शोक, सन्ताप आदि का अन्त और अनन्त आनन्दमय शिव की प्राप्ति है। यह संसार अनेक प्रकार के दुःख और शोकों के पारावार के समान है। दुःखमय संसार से मुक्ति और आनन्द रूप शिव की प्राप्ति का उपदेश देना ही इस शास्त्र का प्रमुख उद्‌देश्य है।

रचना की समालोचना -

"श्रीविंशतिकाशास्त्रम्" दार्शनिक विचारों की प्रौढ-अभिव्यक्ति है। इसमें ब्रह्म तत्त्वरूपिणी आत्मशक्ति का स्वरूप, वस्तु-अवस्तु का बोध तथा परमेश्वर की नाट्य रचना के रूप में इस विश्व को निरूपित किया है।

ब्रह्म-तत्त्वरूपिणी आत्मशक्ति का स्वरूप -

आचार्यश्री ने इस रचना के प्रथम श्लोक मंगलाचरण में चित्स्वरूपिणी अपरिमिता पारमेश्वरी आत्मशक्ति की वन्दना की है, जो ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय रूप जगद्व्यवहार की आश्रय तथा उसकी स्वामिनी है।

ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयभावो यदायत्तः स्फुरेदयम् ।

तामात्मशक्तिं वन्दे हं विज्ञानां महतीं हृदि ।।[2]

---

1. श्रीविंशतिकाशास्त्रम्, श्लोक 21.
2. वही, श्लोक 1.

आत्मशक्ति के विलास से ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन भावों का स्फुरण होता है। यह आत्मशक्ति "विज्ञान-स्वरूपिणी" है, चिन्मयी है। विज्ञान ही विमर्श है। इसे "विसर्ग" कहते हैं। ज्ञान में परमेश्वर के विश्वोत्तीर्ण रूप का साक्षात्कार होता है। विश्वात्मकरूप का साक्षात्कार "विज्ञान" है। "ज्ञान" से परमेश्वर के जिस रूप का साक्षात्कार होता है वह "शिव" है। "विज्ञान" से जिस रूप का साक्षात्कार होता है वह शक्ति है। परमेश्वर का पूर्ण स्वरूप शिव-शक्ति की समरसता है। ये दोनों अभिन्न हैं।

ब्रह्म अपरिमित है, अनन्ततत्त्व है, परमस्वतन्त्र है उसे किसी की अपेक्षा नहीं, वह शाश्वत है तथा स्वप्रकाश स्वरूप है।

स्वतन्त्रं निरपेक्षं यदमृतं ब्रह्म वाग्भवम्।
परिपूर्णं शक्तिघनं स्वप्रकाशं तदस्म्यहम् ।।[1]

वह अमृत-स्वरूप "ब्रह्म" वाग्भव है अर्थात् वाणी का उदयाचल है। प्रकाश-विमर्श-स्वरूप होने के साथ-साथ ब्रह्म वाग्रूप अथवा शब्दरूप भी है। चतुर्धा वाणी में परावाणी ब्रह्म का ही स्वरूप है। श्री भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय में लिखा है --

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ।।
अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।।[2]

वह ब्रह्मशक्ति अनन्त होने के कारण ब्रह्मशक्ति है। वह स्वयंसिद्धा ऐश्वर्यवती, अहं ज्योतिःस्वरूपा तथा वाङ्मय-स्वरूपिणी निग्रह-अनुग्रहमयी होकर इच्छा, ज्ञान, और क्रिया की अभिव्यक्ति करती है। आचार्य-श्री लिखते हैं --

---

1. श्रीविंशतिकाशास्त्रम्, श्लोक 2.
2. वही; वाक्यपदीयम्, श्रीभर्तृहरि.

स्वयंसिद्धा भगवती ब्रह्मर्शाक्तरहम्महः ।
इच्छत्यवैति कुरुते निग्रहाऽनुग्रहात्मिका ।।[1]

इस सृष्टि का उपादान और निमित्त कारण भगवती आत्मशक्ति ही है । उन्हीं में सृष्टि का आश्रय है । वह सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है । यही स्थिति और संहार के विषय में भी है । सृजन, पालन और संहार करती हुई भी भगवती सदा समरसानन्दरूप महानुभव में निमग्न रहती है । भगवती की त्रिविध लीला और स्वरूपस्थिति का वर्णन करते हुए आचार्यश्री लिखते हैं --

सृजन्त्यवन्त्यदतीयमात्मनाऽत्मानमात्मनि ।
नित्यं समरसानन्दा महानुभवयश्नुते ।।[2]

सृष्टि की विधात्री देवी भगवती को पुण्य, पापादि उसी प्रकार स्पर्श नहीं करते, जिस प्रकार ओले आदि आकाश का स्पर्श नहीं करते । आचार्यश्री लिखते हैं--

कल्पित पुण्यपापादि नैव स्पृशति जात्वपि ।
निर्लेपं सर्वगमपि करकादिवियद्यथा ।।[3]

भगवती के निर्लेप स्वरूप की उपमा आकाश से दी है जो सर्वथा समीचीन है । आकाश सबमें व्याप्त है किन्तु सर्वव्यापक होते हुए भी पूर्णतः निर्लिप्त है । वर्षा, बादल, धूल, ओले आदि का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता । श्रीमद्भगवतगीता में भी आकाश और आत्मा की निर्लिप्तता का संकेत मिलता है --

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।।[4]

इसी प्रकार श्रीगीता में यह भी कहा गया है कि भगवान् किसी के पुण्य और पाप का ग्रहण नहीं करते --

---

1· श्रीविंशतिकाशास्त्रम्, श्लोक 3·

2· वही, श्लोक 5·

3· वही, श्लोक 6·

4· श्रीमद्भगवद्गीता, 14/32·

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।[1]

अतः ब्रह्मतत्त्वरूपिणी आत्मशक्ति अपरिमित है, अहं ज्योति स्वरूपा है, वही सृष्टि का उपादान और निमित्त कारण भी है तथा अपने आप में वह सर्वथा निर्लिप्त है ।

वस्तु-अवस्तु का बोध -

पाप-पुण्य कल्पित हैं । जीव के इस कल्पित जीवत्व की कई अवस्थाएं होती हैं । इनमें जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाएं प्रसिद्ध हैं । ये अवस्थाएं भी आत्मशक्ति के द्वारा अपने स्वरूप में ही कल्पित है । अतः प्रतीत होती हुई भी वे वास्तविक नहीं अवस्तु हैं । आत्मस्वरूप की सत्यता ही वास्तविक है । वही वस्तु है । आचार्यश्री लिखते हैं --

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि केवले नित्य आत्मनि ।
स्वकलाकल्पितानीति विलसन्त्यपि सन्ति नो ।।[2]

अवस्था कालगत स्थिति है । लोक और विश्व भी कालगत स्थिति से निर्मित होते हैं । ये विकृति हैं । अतः अवास्तविक हैं । परमार्थदृष्टि से जगत असत है । असत जगत वन्ध्या पुत्र के समान है । वन्ध्या पुत्र के जीवित रहने से कोई लाभ नहीं और उसके नष्ट हो जाने से कोई हानि नहीं होती । आचार्यश्री का कथन है --

विद्यमाने जगति को लाभो नष्टे च का क्षतिः ।
वन्ध्यासुते जीवति नो लाभो हानिश्च नो मृते ।।[3]

जगत को असत और कल्पना-मात्र मानने से इसमें होने वाले पुण्य और पाप भी प्रयोजनहीन हैं । वह किसी फल के साधक नहीं है --

---

1· श्रीमद्भगवद्गीता, 5/15·

2· श्रीविंशतिकाशास्त्रम्, श्लोक 7·

3· वही, श्लोक 8·

अवद्यमनवद्यं वा कर्म किं साधयेदसत् ।
शशशृंगं धनुर्यद्वदद्दृढं दृढमेव, वा ।।[1]

अद्वैत-स्वरूप आत्मशक्ति ही परम सत्य है । उसी के महान् तेज से विश्वों का उदय होता है । किन्तु इससे उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता । विश्वों का स्फुरण उसके लिए लीलामात्र है । आचार्यश्री लिखते हैं --

स्फुरन्तु मा वा स्फुरन्तु विश्वान्यात्मनि किं ततः ।
आनन्दघनमद्वैतं चकास्त्येव महन्महः ।।[2]

परमेश्वर कविरूप है और विश्व उसका काव्यरूप -

"कवि" सौन्दर्य और रस का स्रष्टा है । वह अपने ही रस में विभोर रहता है । इसी प्रकार आत्मा भी कवि है । जिस प्रकार अपने स्वरूप को छिपा कर कवि नाटक के पात्र आदि के रूप में प्रकट होकर काव्य की रचना करता है उसी प्रकार परमात्मा भी जीव आदि के रूप में प्रकट होकर विश्वकाव्य की रचना करता है । वह कवि के समान ही स्रष्टा है और काव्य के समान ही उसका स्वरूप आनन्दमय है -

कुर्वजानंस्तथैवेच्छन् यदात्मानमपहुते ।
सोऽपह्नवोऽप्यलंकार स्वरसैःमाद्यतः कवेः ।।[3]

परमात्मा का यह विश्वकाव्य काव्यों में अत्यन्त रमणीय है । कवि ने इस विश्वकाव्य को दृश्य-काव्य कहा है जिसे रूपक अथवा नाटक कहते हैं । "काव्येषु नाटकं रम्यम्" इस उक्ति के अनुसार काव्यों में नाटक रमणीय होता है । वह हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक होता है । नाटक के लक्षणों के अनुरूप परमात्मा के विश्वकाव्य का वर्णन करते हुए कवि का कथन है --

---

1· श्रीविंशतिकाशास्त्रम्, श्लोक 9·

2· वही, श्लोक 10·

3· वही, श्लोक 11·

सभ्यो नटो विभावादिभावा रंगःस्वयं भवन् ।
स्वचरित्रा नुकारेण स्वमेव, भजते रसम् ।।[1]

यह परमात्मा-रूपी कवि स्वयं ही नाटक का प्रेक्षक, नट, विभाव, अनुभाव आदि भाव और रंगभूमि के रूप में प्रकट होता हुआ अपने ही चरित्र का अनुकरण करता है और इस विश्व नाटक की रचना में आत्मचमत्कार के रस का आस्वादन करता रहता है ।

अभिनीयमान विश्वनाटक के अतिरिक्त समस्त वाङ्मय भी परमात्मा का ही रूप है । प्रकाश-रूप "बिन्दु" वाङ्मय का बीज है । रेखा और वर्ण बिन्दु के विस्तार है । "बिन्दु" आत्मा का प्रकाश है । परमात्मा के वाङ्मय रूप का विवरण आचार्यश्री ने इस प्रकार दिया है --

रेखा बिन्दुं लिपि रेखां पदानि लिपिमन्तरा ।
वाक्यं पदानि ग्रन्थोऽपि वाक्यानि न हि विद्यते ।।[2]

शब्दार्थ की तीने शक्तियां होती हैं -- अभिधा, लक्षणा और व्यंजना । इन शक्तियों के द्वारा उस शब्द-रूप वाङ्मय में महान् अर्थ के रूप में शिव ही स्फुरित होता है --

वाच्यवाचकसम्बन्धा ल्लक्ष्यलक्षकयोगतः ।
व्यंग्य व्यंजकभावाच्च महार्थः प्रस्फुरेच्छिवः ।।
वाच्यलक्ष्यव्यंग्यभावविमर्शपरवान् भवन् ।
सच्चिदानन्दस्वरूपः शिव एव प्रकाशते ।।[3]

---

1. श्रीविंशतिकाशास्त्रम्, श्लोक 13.
2. वही, श्लोक 14.
3. वही, श्लोक 16-17.

काव्य में रस की निष्पत्ति व्यंजना के द्वारा ही होती है किन्तु विश्व-काव्य में परमात्मा को रस की अभिव्यक्ति क्रम-अक्रम और विक्रम इन तीन प्रकारों में होती है । इस प्रकार वह परमशिव आत्मानन्दरूपिणी तथा अमृत-रूपिणी बिन्दु और विसर्ग की महिमा से अति समृद्ध बनी हुई अपनी परम-रमणीय शक्ति ललिता नामक कला का लालन करता हुआ सदा अपने लालित्य में निमग्न रहता है --

स्वरसामृतां बिन्दुविसर्गादियां परः शिवः
लालयंल्लसते नित्यं ललितामात्मनः कलाम् ।।[1]

---

---

1. श्रीविंशतिकाशास्त्रम्, श्लोक 1.

रचना का भावगत महत्त्व -

दार्शनिक विचारधारा को प्रस्तुत करने वाली यह रचना एक ओर सिद्ध-दर्शन एवं तान्त्रिक वाङ्‌मय का ज्ञान कराती है तो दूसरी ओर आत्मशक्ति के प्रति श्रद्धा-भाव प्रस्तुत करती है । आचार्यश्री ने पारमेश्वरी अपरिमिता आत्मशक्ति के स्वरूप को अत्यन्त सारगर्भित शब्दों में प्रकट करके इस रचना के भावगत महत्त्व को बढ़ा दिया है ।

भगवती आत्मशक्ति के प्रति श्रद्धाभाव -

यह रचना भगवती आत्मशक्ति के प्रति श्रद्धाभाव को प्रस्तुत करती है । रचना के पाठ से पाठक का बहुर्मुखी विकास होता है । श्री हरिशास्त्री दाधीच के शब्दों में रचना के गुणों का इस प्रकार वर्णन किया गया है -

"तेन हि खलु बुद्धेर्विकासः, स्मृतेश्चानुपोषणम्, शान्तेर्विस्तारः, धृतेरुदयः, ज्ञानस्याविर्भावः, अज्ञानस्यास्तमनम्, मोहस्य विलयः, अहन्ताया निबन्धः, रामतायाः समृद्धिः, क्षमाया उपसर्पणम्, विवेचनस्योदंचनम्, विचारशक्तेः संचारः, भावनानामौज्ज्वल्यम्, कामानामप्रतिबन्धकत्वम्, रागस्यापगमः, कोपस्योपशमः, वैराग्यास्याभ्युद्गमः, सदसतोर्विवेकश्चेति ।"[1]

पारमेश्वरी कला के लालित्य भाव की अनुभूति -

इस रचना में परमात्मा को कवि के रूप में वर्णित किया है । समस्त विश्व उसके दृश्य काव्य की तरह है जिसमें वह स्वयं कथावस्तु के रूप में "बिन्दु" से स्फुरित होकर रसानुभूति तक नट का काम करता है स्वयं ही दृष्टा भी है और अपनी रसानुभूति का स्वयं ही आनन्द भी लेता है । महान् अर्थ के रूप में शिव स्वरूप वह स्वयं ही स्फुरित होता है । अभिधा, लक्षणा और व्यंजना ये तीनों शब्द-शक्तियां उसी का स्वरूप हैं जो अर्थ-भाव को प्रस्तुत करती हैं । इस प्रकार आचार्यश्री ने पारमेश्वरी कला के लालित्यभाव को प्रस्तुत कर विषय-वस्तु को सरस बना दिया है । भगवती

---

1. श्रीविंशतिकाशास्त्रम्, भूमिका, पृ०

की इस करुण-कला की महिमा में लिखा गया डॉ० रामानन्द तिवारी "भारती-नन्दन" का यह छन्द अत्यन्त मार्मिक है --

"श्री की करुणा के क्षितिजों पर अमृतकान्ति उषा सी,
शिष्यों के मानस में खिलती चिन्मय मंजूषा सी ।
गुरु की कृपा अपार धन्य कर पद की पर्वत-श्रेणी,
हुई प्रवाहित अर्थभूमि पर बनकर पुण्य त्रिवेणी ।।"[1]

----

1. श्रीविंशतिकाशास्त्रम्, श्रीप्रसादिनी टीका, डॉ० रामानन्द तिवारी "भारतीनन्दन"

## सिद्धमहारहस्य रचना में प्रतिपादित तात्त्विक विवेचन

सिद्धमहारहस्य रचना एक दार्शनिक कृति है । इसमें सिद्ध दर्शन के कतिपय सिद्धान्तों का प्रतिपादन काव्यात्मक शैली में किया गया है । मूलतः जिन दार्शनिक भावों को यहां प्रस्तुत किया है वे निम्नलिखित प्रकार से हैं -

### परमेश्वर की परिपूर्णता -

समस्त पदार्थों का मूल कारण परमशिव परमेश्वर है । वह परमशिव नाना प्रकार की वस्तुओं के समूहों से भरे हुए इस समस्त संसार में अपनी विसर्ग शक्ति (सृष्टि संहार आदि की सामर्थ्य) से सदैव नवीनतम सौन्दर्य के कारण रमण करने योग्य महाबिन्दु[1] में विद्यमान है । अद्वैत तथा द्वैत दोनों ही भाव उसकी कल्पना के आसरे टिके हुए हैं । वह परमेश्वर ही परिपूर्ण पदार्थ भी हैं । परिपूर्ण पदार्थ में प्रत्येक वस्तु समाती है । अतः किसी भी वस्तु से विरोध न रखते हुए जो स्वतः सिद्ध है, जो अपने आनन्दरस से स्वतःन्त्रतापूर्वक प्रवाहित होने वाला सिद्धान्त है, और जो द्वैत और अद्वैत का मूलाधार है । वही सनातन है । उससे पृथक् और अतिरिक्त बनी हुई

---

1. श्री चक्र के बीच में लिखा जाने वाला बिन्दु महाबिन्दु कहलाता है । समष्टि आदि पांच पारमेश्वरी कृत्यों के प्रति उन्मुख इच्छा से आविष्ट परमशिव को बिन्दु कहते हैं । अपने आपको भेदात्मक जगत के रूप में प्रकट करना सृष्टि कृत्य, जगत को युगयुगान्तर तक ठहराये रखना तथा नियमानुसार चलाना स्थिति कृत्य, कार्य पदार्थों को अपने कारण पदार्थों में विलीन करना संहार कृत्य, वास्तविक शिवरूपता को ढककर जीवरूपता में प्रकट होते रहना निग्रहकृत्य और अनुग्रह शक्तिपात करते हुए प्राणियों को मोक्षमार्ग के प्रति उन्मुख करना अनुग्रह कृत्य है । ऐसा सिद्ध दर्शन का अटूट सिद्धान्त है ।

कोई भी वस्तु प्रतीत नहीं होती । वही महासत्ता है जिसमें आपेक्षित सत्ता और आपेक्षिक असत्ता का अन्तर्भाव होता है । वही महाविधि है जिसमें विधि शास्त्रों और निषेध शास्त्रों का पर्यवसान होता है ।[1]

'शाक:' का स्वरूप -

इस कृति में एक नया दार्शनिक सिद्धान्त आचार्य श्री ने प्रतिपादित किया है । उनके अनुसार परमेश्वर सामर्थ्य रूप है । 'शाक' को ही सामर्थ्य रूप कहा गया है । परमेश्वर अपने इसी 'शाक' (सामर्थ्य) रूप से अपने ही अनुत्तर रूप महाशून्य में अपनी स्वतन्त्रता से सदैव एक साथ ही परिपूर्णता के भाव में और असीम अहं विमर्श के रूप में समरसता से प्रकाशित होता रहता है । वही अपने प्रकाश के भीतर चार अवस्थाओं, सोलह कलाओं, चौंसठ योगिनियों का विम्बर्वाकरता है ।[2]

'शाक:' का विमर्श रूप -

शाक प्रकाश रूप सामर्थ्य है । प्रकाश प्रकट होने को कहते हैं । प्रकटता की साक्षात् अनुभूति विमर्श कहलाती है । विमर्शनात्मक क्रिया से प्रकाश में जो गतिशीलता जैसी आध्यात्मिक हल चल अभिव्यक्त होती है वही स्पन्द कहलाता है । स्पन्द आत्मदेव का अपना स्वभाव है । सृष्टि, स्थिति, संहार विधान (तिरोधान) और अनुग्रह ये पांच पारमेश्वरी कृत्य

---

1. "परिपूर्णं खलु सर्वमपि समतिति समस्ताविरोधि तया सिद्धे स्वरस प्रवहरणशीलेसिद्धान्ते द्वैताद्वैत मूलाधिष्ठाने भगवति परमेश्वरे सब प्रश्नोत्तजानकालाभ युदयो भवितु मर्हति । परमशिवस्यैव सनातनत्वात् । तदतिरिक्तस्य कस्याप्यप्रतीयमानतया सत्त्वात्, आपेक्षिक सदसतोर्द्वयोरपि महासत्तायामेवान्तर्भावात, विधिशास्त्राणां निषेधशास्त्राणां च भमहाविधानेन पर्यवस्यनसिद्धान्तात । - श्री सिद्धमहारहस्यम्, पृ. 24.
2. श्री सिद्ध महारहस्यम्, श्लोक 4, 7, पृ. 39-42.

आत्मदेव के आनन्दविलास है । सात विभक्तियों के द्वारा वही शाक रूप परमेश्वर अपने शब्दात्मक स्वरूप का विमर्श करता है । तीनों पुरुषों (उत्तम-मध्यम-प्रथम) के रूप में वही शाक रूप आत्मदेव विद्यमान है । मूलभूत धातुभाव से स्वयं स्फुटित होता हुआ शाकरूप परमेश्वर ही सभी क्रियाओं का शब्दात्मक विमर्शन करता है । प्रत्येक पद में ओत-प्रोत भाव से प्रकाशित हुआ 'शाकरूप' ही स्वतन्त्र प्रातिपादिक बनता है । समस्त नाम और रूप उसकी लीला के अनन्त रूप हैं । नाम, क्रिया पद, उपसर्ग तथा निपात 'शाक' के बिना प्रस्फुरित नहीं हो सकता । शब्दात्मक और अर्थात्मक भावना 'शाक' की स्वभावभूत भावनायें हैं । विश्व को उल्लसित करता हुआ प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इस त्रिपुरी की अवस्था को 'शाक' ही प्राप्त होता है । वही शाक रूप परमशिव परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक चारों वाणियों में विद्यमान है । जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति रूप तीन अवस्थाओं की परिपूर्णता को प्राप्त करती हुई तुर्यादिशा से परे तुर्यातीता दशा ही 'शाक' की दशा होती है ।

एकमात्र 'शाक' ही परमशिव और पराशक्ति दोनों हैं । शब्द में अनुमान और प्रत्यक्ष की जो प्रामाणिकता है वह भी शाक की महिमा है । आचार्य श्री का कथन है कि सब कुछ 'शाक' से ही भरा हुआ है । वही अहम्प्रकाश शाकम्भरी नाम से विख्यात है । वही परमशिव है और सभी से उत्कृष्ट है । उसी की जयजयकार की जा रही है -

> शाकेन भरितं सर्वं शाकरूपमहाम्महः ।
> शाकम्भरीति विख्यातं शिवं विजयते परम् ।।[1]

---

1. श्री सिद्धमहारहस्यम्, पृ. 51, तृतीय आह्निकम्, श्लोक 31.

शाक की महिमा -

'शाक रूप' परमशिव ही पुरुषार्थ है । उसको प्राप्त करने के पश्चात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कोई चिन्ता नहीं होती । आचार्य श्री कहते हैं -

धर्मार्थकाममोक्षाणां चिन्ता यत्र न विद्यते ।
अस्माकं पुरुषार्थः स महान् शाकः परः शिवः ।।[1]

शाक के अभ्यास से सिद्धों और योगिनियों का सम्मिलन पूर्णता प्राप्त हो जाती है । ब्राह्म, वैष्णव, रौद्र, ऐश्वर, सदाशिव, शाक्त और शैव वेद भी शाक के रहस्य का वर्णन करते समय मौन हो जाते हैं ।

ब्राह्म्यादशैवान्तवेदा यद्वर्णयितुमक्षमाः ।
रहस्यं मूकतां यान्ति शाके तद् पूर्णमस्ति नः ।।[2]

समस्त उपाय, प्रयोजन और उपायों का प्रयोग करने वाले सभी साधक 'शाक' में ही प्रतिष्ठित और आश्रित रहते हैं । वह 'शाक' सभी का जीवन है, जिसका आश्रय प्राप्त करके आणव-उपाय, शाक्त उपाय और शाम्भव उपाय जीवन को प्राप्त करते हैं -

उपाया आणवाः शाक्ताः शाम्भवा आदि जीवनम् ।
लभन्ते यं समालम्ब्य स शाकः सर्वजीवनम् ।।[3]

---

1. श्री सिद्धमहारहस्यम्, पंचम माह्निकम्, श्लोक 4, पृ. 57.
2. वही, श्लोक 6, पृ. 58.
3. वही, श्लोक 8, पृ. 58.

ध्यान, धारणा और उत्कृष्ट प्राणयोग आदि ऐसे उपाय, जिनमें मानसी क्रिया की प्रधानता रहती है, आणव उपाय कहलाते हैं । अपने वास्तविक स्वरूप के सविकल्पक ज्ञान के पुनः पुनः अभ्यासों को शाक्त उपाय कहते हैं । अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिरता ठहरने के अभ्यास को शाम्भव उपाय कहते हैं । इसमें चिन्तन आदि मानसिक क्रियायें भी शान्त हो जाती हैं और अपने आपका तथा अपने वास्तविक स्वभाव का विकल्पात्मक ज्ञान भी छूट जाता है ।

कार्यत्कारणभाव शाक में ही विद्यमान रहते हैं । नैयायिकों के परमाणु रूप नित्य वस्तु से जगतरूप अनित्य वस्तु का उत्पन्न होना भी 'शाक' के द्वारा ही संभव है । 'शाक' के आधार पर ही अवरोह क्रम में शक्तियों के और स्वरूप के संकोच की तथा आरोह क्रम में शक्तियों के तथा स्वरूप के विकास की प्रतीति होती है ।

व्यंजना, लक्षणा और अभिधा नामक शब्दार्थ शक्तियों में जो सामर्थ्य प्रतीत होता है उसका मूल कारण 'शाक' ही है -

व्यंजनायां लक्षणायामभिधायां च यद् बलम् ।
प्रतीयते स्थाप्यते वा तद्बलं शाकमूलकम् ।।[1]

वाणी की आठ देवियां, आठ सिद्धियों और नौ निधियों 'शाक' का आश्रय प्राप्त करके परम उत्कर्ष को प्राप्त होती हैं । इसी प्रकार बारह आदित्य, ग्यारह रूद्र और आठ वसु भी सदा 'शाक' का ही आश्रय लेते रहते हैं । शिवतत्त्व से पृथ्वी तत्त्व तक के छत्तीस तत्त्वों के अधिष्ठातृ देवताओं का पूर्ण योग 'शाक' की उपासना ही पूर्ण होता है ।[2]

---

1. श्री सिद्धमहारहस्यम्, पंचम् माह्निकम, श्लोक 13, पृ. 61.
2. वाणी की देवियां - वशिनी, कामेश्वरी, मोदिनी, विमला, अरूणा, जयनी, सर्वेशी, कौलिनी ।
   आठ सिद्धियां - अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व, यत्रकामावसायित्व ।
   नौ निधियां - पद्म महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील, खर्व ।
   बारह आदित्य - धाता, मित्र, अर्यमा, रूद्र, वरूण, सूर्य, भग, विवस्वान्, पूषा सविता, त्वष्टा और विष्णु,
   ग्यारह रूद्र - अजैकपाद, आहिर्बुध्न्य, त्वष्टा, विश्वरूपहर, बहुरूप, त्र्यंबक, अपराजित, वृषाकपि, शंभु, कपर्दी और रेवत ।
   आठ वसु - आपे, ध्रुव, सोम, धर, अनिल, अनल, प्रत्युष, प्रभास ।

'शाक' का उपासना क्रम –

'शाक' की उपासना के अनेक क्रम हैं । कुछ मुनिजन छः प्रकार के न्यास (गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी, राशि और पीठ) से मन्त्रयोग द्वारा अर्चना करते हैं । कुछ नाद योग से[1] कुछ त्राटक योग से[2], कुछ षण्मुखी मुद्रा से[3], कुछ लोग खेचरी मुद्रा से[4], कुछ लोग लय योग से[5] तथा कोई बिरले वज्रोली क्रिया[6] के अभ्यास से 'शाक' की उपासना करते हैं । श्रुति-स्मृति द्वारा उपदिष्ट पाँच महायज्ञों (देव, ऋषि, पितर, मनुष्य और भूत को तृप्त करना) से विश्वदेवों का यजन करने वाले भी 'शाक' में विलीन हो जाते हैं । शाम्भव उपाय[7] से भी परिपूर्ण परमशिव के 'शाक' रूप को देखा जा सकता है । रहस्यात्मक प्रक्रिया के अनुसार पंचमकारमयी साधना के अभ्यास से भी 'शाक' का अतीव सुदृढ़ प्रत्यभिज्ञान होता है । यह साधनामार्ग त्वरित गति से एक साथ ही भोग और मोक्ष दोनों फलों दे सकता है ।

---

1. एकान्त और निःशब्द स्थान में अपनी दोनों तर्जनियों से कर्णछिद्रों को बन्द करके ध्वनि सुनना नाद योग है ।
2. निर्वात स्थान पर निश्चलतया चमकती हुई दीपक की ज्योति पर अथवा दीवार पर अंकित बिन्दु पर दृष्टि जमाना त्राटक योग है ।
3. दोनों हाथों के अंगूठों, कनिष्ठिकाओं और अनामिकाओं के द्वारा क्रम से कर्णछिद्रों, नासाछिद्रों नेत्रों को दबाए रखना तथा शेष दो दो अंगुलियों को माथे पर जमाकर रखने को षण्मुखी मुद्रा कहते हैं ।
4. जिह्वा में मस्तिष्क की ओर जाने वाले छिद्र को भरकर शतदल कमल में स्थित चन्द्रमण्डल में टपकने वाले अमृत का निरंतर पान करना खेचरी मुद्रा है ।
5. समस्त प्रपंच को अपने में विलीन करना लययोग है ।
6. स्त्री के साथ मिथुन बनकर वज्रसार जैसा सुदृढ़ बनना वज्रोलीक्रिया है ।
7. शाम्भव उपाय में मन के समस्त संकल्प विकल्पों को शान्त करके अपने वास्तविक स्वरूप में, अर्थात् शुद्ध तथा शक्तिघन चैतन्य में स्थिरतया ठहरने का अभ्यास किया जाता है ।

कुछ साधक 'शाक' को सर्वव्यापक होने के कारण ब्रह्म मानकर पांच कोशों के भीतर-बाहिर प्रकाशमान रूप में भजते हैं । वाग्रूप (विमर्शात्मक) मानकर वाणी से अतीत होने पर परावाणी के रूप में परमेश्वर रूप 'शाक' तत्त्व की उपासना भी की जाती है ।

'शाक' उपासना से फल प्राप्ति -

शाम्भव-उपाय योग से निरन्तर साधना करने के पश्चात् साधक को अनेक फलों की प्राप्ति होती है । आचार्य श्री ने इस योग की साधना से अनेक दिव्य-दर्शन किये हैं । उनका कथन है -

लालितो नेन योगेन पूर्णाहम्भावमाश्रितः ।
दृष्टानि दिव्यदृश्यानि कानिचिद्वर्णयाम्यहम् ।।[1]

आचार्य श्री के इन दिव्य-दर्शनों का वर्णन इस प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में कवि की आध्यात्मिक साधना में विस्तार से किया गया है । (द्रष्टव्य पृ.        से        तक)

श्री सिद्धमहारहस्य ग्रन्थ में अभिनव दार्शनिक तत्त्व -

श्री सिद्धमहारहस्य ग्रन्थ सिद्ध-दर्शन पर आधारित रचना है । इसमें सिद्ध-दर्शन के अनेक महत्त्वपूर्ण साधना-उपायों की ओर ध्यान आकर्षित कराया गया है । इस ग्रन्थ में सबसे अभिनव तत्त्व 'शाक' को प्रस्तुत किया गया है । शक् (सकना) धातु से 'धञ्' प्रत्यय लगाकर 'शाकः' शब्द का निर्माण किया गया है । 'शक्यते भोक्तुम्' इस विग्रह से जो तत्त्व स्वयमेव बिना किसी

---

1. श्री सिद्धमहारहस्यम्, शान्तममाह्निकम्, श्लोक 1, पृ. 78.

सहायता से भोग करने में समर्थ है वही 'शाक' है । इस प्रकार 'शाक' सामर्थ्य को कहा गया है । वह परिपूर्ण परमेश्वर शाक है । कवि का कथन है -

महाकामेश्वरः शाकः परिपूर्णो महत्तया ।
जाहते सर्वभावेव सर्वत्र समदर्शनः ।।[1]

अर्थात् सृष्टि, स्थिति, संहार, विधान और अनुग्रह इन पांच कृत्यों के प्रति सतत-उन्मुख रहने वाली दिव्यातिदिव्य कामना या उमंग के आवेश से भरा हुआ कामेश्वर, 'शाकरूप', परमेश्वर परिपूर्ण है और समदर्शी रहता हुआ अपने ही महत्त्व के प्रभाव से सर्वत्र प्राप्त होता है अर्थात् समस्त अवस्थाओं को अपने में प्रकट करता रहता है । अतः सर्वदा, सर्वथा और सर्वत्र वही है । श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी यही कहा है -

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहद् ।।

अर्थात् जो सर्वशक्तिमान् परम पुरुष परमात्मा समस्त इन्द्रियों से रहित देहेन्द्रियादि भेद से शून्य होने पर भी समस्त इन्द्रियों के विषयों को जानते हैं तथा सबके स्वामी, परम समर्थ, सबका शासन करने वाले और जीव के लिए सबसे बड़े आश्रय हैं, मनुष्य को सर्वतोभाव से उन्हीं की शरण ग्रहण करनी चाहिए । यही मनुष्य शरीर का अच्छे-अच्छे उपयोग हैं ।[2] ऐसी ही अद्वैत दृष्टि को प्रकट करते हुए आचार्य श्री लिखते हैं -

करोति क्रियते नित्यं जानाति ज्ञायते पि च ।
शाक एको महादेवो महादेवीच्छतीष्यते ।।[3]

---

1. श्री सिद्धमहारहस्यम्, तृतीयमाह्निकम्, श्लोक 25, पृ. 49.
2. श्वेताश्वतरोपनिषद्, तृतीय अध्याय, श्लोक 17, पृ. 386.
3. श्री सिद्धमहारहस्यम्, तृतीयमाह्निकम्, श्लोक 26, पृ. 50.

एक मात्र 'शाक' ही परमशिव और पराशक्ति दोनों हैं और सदैव चाहता भी है और चाहा भी जाता है, जानता भी है और जाना भी जाता है तथा करता भी है और किया भी जाता है ।

आचार्य श्री को अपनी अनुपम साधना से इस तत्त्व का साक्षात् दर्शन हुआ । एक अनुभव सिद्ध तत्त्व को मानव जाति के त्रिविध सन्तापों को शान्त करने हेतु आचार्य श्री ने काव्य के रूप में प्रस्तुत किया है । आचार्य श्री के ग्रन्थों के प्रसिद्ध व्याख्याकार पण्डित बलजिन्नाथ शास्त्री का कथन है -

"सिद्धमहारहस्यम्" एक परम अद्वैत दर्शन है और साथ ही साथ एक परम अस्तिक दर्शन भी है । सिद्ध दर्शन के समस्त प्राचीन ग्रन्थों के साथ इसकी एक वाक्यता है । इसमें शैव दर्शन और शाक्तदर्शन का परिपूर्ण सामन्जस्य विद्यमान है । इसके द्वारा सिद्ध-दर्शन के प्रयोग पक्ष और सिद्धान्त पक्ष दोनों ही के प्रमुख विषयों पर प्रकाश पड़ता है । इसमें कई एक नवीन दार्शनिक विचार विद्यमान हैं । इसे एक प्रकार का कहें तो अनुचित नहीं होगा । उदाहरण के तौर पर शाक सिद्धान्त एक ऐसा अभिनव सिद्धान्त है ।[1]

---

1. श्री सिद्धमहारहस्यम्, प्रास्ताविक, पृ. 11.

# श्रीपरमशिवस्तोत्रम् की समालोचना

## कथावस्तु की समालोचना -

### कथास्रोत -

श्रीपरमशिवस्तोत्र की कथावस्तु सैद्धदर्शन के आधार पर ली गई है। सिद्धों की दर्शन विद्या के अनुसार परिपूर्ण परमेश्वर ही वस्तुत: एकमात्र सत्य तत्त्व है। उस तत्त्व का स्वरूप अखण्ड, असीम, परिपूर्ण और सर्वथा शुद्ध अद्वैतरूप चैतन्य है। वह परमेश्वर सदैव परिपूर्ण आनन्दमयता से परिस्पन्दित होता रहता है, अत: वह सदैव क्रीडाशील बना रहना उसका नैसर्गिक स्वभाव है। उसकी क्रीडाशीलता के पांच अंग हैं -- सृष्टि, स्थिति, संहार, विधान और अनुग्रह।

इन पांच अंगों वाली पारमेश्वरी लीला के भीतर परमेश्वर जिन-जिन असंख्य रूपों में प्रकट होता रहता है उनके छत्तीस वर्ग सिद्धों की दर्शन विद्या में माने गये हैं। यह वर्गीकरण उस परमतत्त्व के स्वरूप और स्वभाव को ठीक प्रकार से समझने और समझाने की दृष्टि से ही किया गया है। ये छत्तीस वर्ग छत्तीस तत्त्व कहलाते हैं। स्वयं परिपूर्ण परमेश्वर ही इन छत्तीस तत्त्वों के रूप में प्रकट होता रहता है। ये छत्तीस तत्त्व इस प्रकार है --
1) शिवतत्त्व, 2) शक्तितत्त्व, 3) सदाशिवतत्त्व, 4) ईश्वरतत्त्व, 5) शुद्ध विद्यातत्त्व, 6) माया तत्त्व, तथा पांच कंचुक, 7) काल तत्त्व, 8) अशुद्ध विद्या तत्त्व, 9) राग तत्त्व, 10) काल तत्त्व, 11) नियति तत्त्व, 12) प्रकृति तत्त्व, 13) पुरुष तत्त्व, 14) महतत्त्व, 15) अहंकार तत्त्व, 16) बुद्धितत्त्व - पंचतन्मात्र, 17) शब्द, 18) स्पर्श, 19) रूप, 20) रस, 21) गन्ध - पंच ज्ञानेन्द्रिय, 22) श्रोत्र, 23) त्वचा, 24) चक्षु, 25) रसना, 26) घ्राण - पंच कर्मेन्द्रिय, 27) वाक, 28) पाणि, 29) पाद, 30) पायु, 31) उपस्थ - पंचमहाभूत, 32) आकाश, 33) वायु, 34) अग्नि, 35) आप: और 36) पृथ्वी।

इन छत्तीस तत्त्वों में से 25 तत्त्वों को सांख्यकारिकाकार ने भी माना है ।[1] प्रथम ग्यारह तत्त्वों को सिद्ध-दर्शन विद्या के अन्तर्गत ही माना गया है । मालिनी-विजय-तन्त्र के अनुसार इन छत्तीस तत्त्वों को तीन वर्गों में बांटा गया है । एक वर्ग पृथ्वी से माया तत्त्व तक है । उसे आत्म तत्त्व कहते हैं । इसमें पंचमहाभूत, पंच तन्मात्र, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच कंचुक तथा एक माया तत्त्व आते है । दूसरा वर्ग शुद्ध विद्या से सदाशिव तत्त्व तक का होता है। उसे विद्या तत्त्व कहते हैं । इसमें शुद्ध विद्या तत्त्व, ईश्वर तत्त्व तथा सदाशिव तत्त्व आते हैं । तीसरा वर्ग शक्ति और शिव तत्त्व का है इसे शिव-तत्त्व कहते हैं ।[2]

कथावस्तु में नवीनता -

आचार्यश्री को जो अपने कुल के क्रम से सिद्ध विद्या प्राप्त हुई थी और उसके अनुसार पांच तन्मात्रों का स्थान दस इन्द्रियों से ऊपर और मन से नीचे है । तदनुसार पहले पंचतन्मात्रों की सृष्टि होती है, फिर ज्ञानेन्द्रियों की, फिर कर्मेन्द्रियों की और तदनन्तर पंचभूतों की । आचार्य महोदय की दृष्टि में मन और बुद्धि एक ही तत्त्व है । इस एक ही अन्त:करण के विषय में के प्रति उन्मुख बहिर्मुखी स्वरूप को मन कहते हैं और आत्मा के प्रति उन्मुख अन्तर्मुखी स्वरूप को बुद्धि कहते हैं ।

अत: सैद्धदर्शन की दृष्टि से इस प्रकृत स्तोत्र में छत्तीसों तत्त्वों के रूप में एक स्वात्म परमेश्वर की स्तुति करके आचार्यश्री ने उन तत्त्वों के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है ।

---

1· प्रकृतेर्महास्ततो हंकारस्तस्माद्ग गणश्च षोडशक: ।

तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्य: पंचभूतानि ।।-सांख्यकारिका, 22, पृ० 167·

2· विज्ञानाकलपर्यन्तमात्मतत्त्वमुदाहृतम् ।

ईश्वरान्तं च विद्याहवं शेषं शिवपदं विदु: ।।-मालिनी-विजयतन्त्र, 2, --47·

रचना का प्रयोजन -

इस रचना का प्रमुख उद्देश्य सिद्ध-दर्शन के छत्तीस तत्त्वों का ज्ञान कराना है। दर्शन का विषय नीरस होता है। उस विषय को काव्यात्मक शैली में वर्णित करके आचार्यश्री ने सहज हृदयग्राह्य बना दिया है। वेदान्तदर्शन में जिसे अद्वैत कहा गया है उसी को आचार्यश्री पराद्वैत की दृष्टि से देखते हैं। उनकी यही दार्शनिक दृष्टि इस रचना में सर्वथा दृष्टिगत होती है। इस रचना का दूसरा प्रयोजन शिवजी की उपासना से प्राप्त होने वाले फल को प्रस्तुत करना है। आचार्यश्री लिखते हैं --

सम्प्राप्य गुरु वक्त्राब्जाच्चेतसानन्यगामिना।
सम्पठन् स्तोत्रमेतत् स्यात् पशुः पशुपतिः किल ।।[1]

अर्थात् इस स्तोत्र को सद्गुरु के मुखकमल से प्राप्त करके एकाग्र चित्त से पाठ करने वाला पशुप्रमाता {बद्धजीव} पशुपति अर्थात् शिव बन सकता है।

कथन का आशय है कि इन छत्तीस तत्त्वों से संवित् परमशिव का उपासक, उपासना से अपने आपको परमशिव से जब अभिन्न देखने लगता है तो वह पशुरूप में विचरण करता हुआ भी शिवरूप हो जाता है।

स्तोत्र की समालोचना -

सिद्ध-दर्शन के महत्त्वपूर्ण छत्तीस तत्त्वों की विवेचना करने वाला यह स्तोत्र शिव के उपासकों के लिए अत्यन्त कल्याणकारी है। पारमेश्वरी लीला का जितना सुन्दर विवेचन इस रचना में हुआ है उतना अन्यत्र देखने में नहीं आता। रचना के महत्त्वपूर्ण चिन्तनविन्दु इस प्रकार है --

मूलतत्त्व परमशिव का स्वरूप -

चिद्रूप शिव अपने चित् प्रकाश से स्वयं सदा-चमकता हुआ प्रकट होता रहता है। परिपूर्ण होने के कारण उसे किसी की आकांक्षा नहीं होती। अतः वह स्वयं

---

1. श्रीपरमशिवस्तोत्रम्, श्लोक 44, पृ० 24.

अपने में ही सुतृप्त है । वह किसी के अधीन नहीं जो चाहता है जो कर सकता है । किसी पर आश्रित भी नहीं । उसे अपने से भिन्न किसी वस्तु या व्यक्ति की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती । वह सब कुछ अपने ही बल से करता है । किसी भी कृत्य के लिए उसे माया, अविद्या, वासना, प्रकृति या नियति का मुख नहीं ताकना पड़ता । ब्रह्मादि कारणेश्वर तो जीवों के कर्मों का आश्रय लेकर के ही उन्हीं के अनुसार और पारमेश्वरी नियति के नियमों के अधीन रहकर सृष्टि इत्यादि की रचना करते रहते हैं अत: वे स्वतन्त्र नहीं । किन्तु परमशिव सर्वथा स्वतन्त्र है । आचार्यश्री लिखते हैं --

स्वभासाय स्वतृप्ताय स्वतन्त्राय स्वमानिने ।
स्वकारिणे स्वमूलाय कस्मैचिन्महसे नम: ।।[1]

अर्थात जो स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशमान है, अपने आप में ही सुतृप्त है, स्वतन्त्र है, अपने आप को ही मानने वाला है, अपने आप को ही करने वाला है और स्वयं अपना मूल है, ऐसे उस अनिर्वचनीय तेज को हमारा प्रणाम हो ।

परमेश्वर का शिव तत्त्व -

शिवतत्त्व के अन्तर्गत शिव और शक्ति ये दोनों तत्त्व आते हैं । शिव-तत्त्व के रूप में परमशिवात्मक परमेश्वर की स्तुति करते हुए आचार्यश्री का कथन है-

प्रकाशमात्ररूपाय विमर्शामर्शरूपिणे ।
नित्योदिताय शान्ताय नमो मह्यं शिवात्मने ।।[2]

अर्थात जो एकमात्र प्रकाशात्मक है, विमर्श के द्वारा स्वात्मविमर्शन करना जिसका स्वरूप है, जो सततोदित प्रशान्त चित्ततत्त्व है उस शिवरूपी मुझको नमस्कार हो ।

परमेश्वर की पारमेश्वरी शक्ति उसकी परमाकला है । जब वह अपनी कला

---

1· श्रीपरमशिवस्तोत्रम्, श्लोक 5, पृ0 33·

2· वही; श्लोक 6, पृ0 36·

का "अहं" इस रूप से विमर्शन करता है, तो असीम और अनिर्वचनीय आनन्द की लहरें बहिर्मुख होकर स्पन्दशील हो जाती है। उसका स्वरूप अत्यन्त विलक्षणताओं को लेकर अभिव्यक्त होता रहता है। परमेश्वर की इस विमर्शरूपिणी शक्ति को प्रणाम करते हुए कवि का कथन है --

विशालोल्लोललोलाय निजानन्दोर्मिमालिने ।
विलक्षणस्वरूपाय विमर्शाय नमो नमः ।।[1]

परमेश्वर की विद्या तत्त्व -

परमेश्वर के विद्या तत्त्व के रूप में तीन तत्त्व माने गये हैं। सदाशिव-तत्त्व, ईश्वर तत्त्व और शुद्ध विद्यातत्त्व। पारमेश्वरी लीला जब बहिर्मुखतया अभिव्यक्त होने लग जाता है तो अपने भीतर अहन्ता के रूप में अभेद भाव से विद्यमान जगत को "इदन्ता" के रूप में भेद-भाव से प्रकट करने लगती है। उससे "अहं" के भीतर ही "इदं" का आभास प्रतिविम्ब न्याय से होने लगता है। फल: "अहं" और "इदं" दो अंश अभिव्यक्त होते हैं। यहां भेद का आभास होता है, परन्तु प्रारम्भ में "अहं" के अंश के भीतर ही "इदं" का अंश चमकने लगता है तो दोनों में परस्पर अभेद भी बना ही रहता है। इस भेदाभेदमयी स्थिति को विद्या-दशा कहते हैं। शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व अभेदमयी स्थिति के दो तत्त्व है। इस भेदाभेदमयी स्थिति में सिद्ध-परम्परा ने तीन तत्त्वों को ठहराया गया है। इन तीन तत्त्वों में से सदाशिव तत्त्व की स्तुति में रचनाकार का कथन है --

समाच्छाद्येदंस्फुरत्तामहन्ता स्फुरणात्मना ।
सदाशिवसमाख्याय शिवाय नतिरस्तु मे ।।[2]

---

1. श्रीपरमशिवस्तोत्रम्, श्लोक 7, पृ0 38.

2. वही, श्लोक 8, पृ0 42.

इदंभाव की स्फुरता को अहंभाव की स्फुरत्ता के भीतर छिपाकर ठहरे हुए सदाशिव संज्ञा वाले मुझ शिव को प्रणाम हो । स्तोत्रकार आचार्यमहोदय को इस श्लोक के द्वारा सदाशिव स्वात्मस्वरूप ही दिखाई देते हैं ।

सदाशिव दशा में "इदं" रूपी जगत की धीमी सी झलक चमक उठती है, परन्तु विश्वविकास की अगली सीढ़ी पर वह "इदं" रूप सामान्याकार जगत स्फुटतया चमकने लगता है । सदाशिव दशा में वह अंकुरित होता हुआ चमकता है, परन्तु ईश्वर दशा में स्फुटतया "अंकुरित हुआ है" ऐसा चमकने लगता है । स्फुट चमकते हुए भी उसे अहन्ता के साथ अभिन्नतया जाना जाता है । विश्वविकास की ऐसी स्थिति को ईश्वर दशा कहते हैं । यही दशा ईश्वरतत्त्व कहलाता है । उस ईश्वरतत्त्व को प्रणाम करते हुए आचार्यश्री लिखते हैं --

अहन्तयेदमावृत्य स्वात्मन्यङ्कुरितं जगत ।
अहम्बोधसमर्थाय नमो ईश्वररूपिणे ।।[1]

अहन्ता के द्वारा इदन्ता को घेरने के अनन्तर अपने भीतर इदन्तास्वरूप जगत को स्फुटतया अंकुरित करके भी उसे अहन्तात्मक बोध में ही चमका देने में समर्थ ईश्वरतत्त्व स्वरूप मुझको नमस्कार हो ।

मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर जिस भेदाभेदमय दृष्टिकोण को लेकर के विमर्श करते हैं उसे शुद्धविद्या कहते हैं । स्वात्मस्वरूप में स्थित शुद्धविद्या रूप में ठहरे हुए आचार्यश्री लिखते हैं --

अहन्तेदन्तोर्भेदं प्रोल्लसन्तमपि स्फुटम् ।
ऐक्यं समापादयन्त्यै विद्यायै मे नमोनमः ।।[2]

परमेश्वर का आत्मतत्त्व -

माया से पृथ्वी तक के समस्त 31 तत्त्व आत्मतत्त्व होते हैं । ये हैं -- माया, पांच कंचुक-- कला, अशुद्धविद्या, राग, काल और नियति; प्रकृति, पुरुष,

---

1· श्रीपरमशिवस्तोत्रम्, श्लोक 9, पृ0 43·

महत्तत्त्व, अहंकार, बुद्धि, पंच तन्मात्र -- शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पंच-ज्ञानेन्द्रिय -- श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण, पंच कर्मेन्द्रिय -- वाक्, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ तथा पंचमहाभूत -- आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ।

माया तत्त्व को परमेश्वर की अपनी शक्ति मान कर आचार्यश्री लिखते हैं--

विश्वमात्माभिन्नमपि भिन्नरूपतया यया ।
प्रतीयते सदा तस्यै मायायै नतिरस्तु मे ।।[1]

अर्थात् अपने आप से अभिन्न विश्व जिसके द्वारा सदा भिन्न रूपतया प्रतीत होता है उस माया रूपी मुझको प्रणाम हो । "अहम् अहम्, इदम् इदम्" अर्थात् "मैं मैं हूं और यह यह है" इस अवस्था मे प्रमाता को जो विमर्श होता है वही सर्वथा भेद की दृष्टि माया कहलाती है । सिद्ध सम्प्रदाय में माया शब्द को तीन प्रकार से समझा जाता है --{1} प्रमाता और प्रमेय, दो सर्वथा भिन्न पदार्थों का आभास होना, {2} माया एक आवरण है जो शुद्ध, असीम और चैतन्य परमेश्वर को भी छिपा देती है, {3} माया अपने उपादान कारण से जड़ तत्त्वों की सृष्टि करती है । कंचुक तत्त्व में विद्यमान कालतत्त्व अपने द्वारा भावों का कलना क्रम बनाता है । कला तत्त्व द्वारा अणु को कार्यों के प्रति थोड़ा-सा करने की सामर्थ्य की जाती है । कृत्याकृत्य के नियमों का निश्चय करने वाला तत्त्व नियति तत्त्व है । अणु को किसी वस्तु के प्रति प्रीति भाव उत्पन्न कराने वाला तत्त्व राग तत्त्व होता है । अज्ञ अणु प्रमाता को कुछ-कुछ जान सकने की सामर्थ्य देने वाला तत्त्व अशुद्ध विद्या तत्त्व होता है । शिव का विलसनशील स्वरूप पुरुष कहलाता है । महत्तत्त्व से लेकर पृथ्वीतत्त्व तक के समस्त भावों का उपादान कारण प्रकृति तत्त्व है । अहंकार से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक के सभी तत्त्व महत्तत्त्व में समाए रहते हैं । "अहमेतन्ममेदं" का अभिमान अहंकार तत्त्व से होता है । विषय ज्ञान को निश्चयात्मक स्थिति पर पहुंचाने वाला तत्त्व बुद्धितत्त्व है । श्रवणेन्द्रिय के द्वारा शब्द, त्वक् के द्वारा स्पर्श, चक्षु के द्वारा रूप, रसना से रस और घ्राण से गन्ध तन्मात्र नामक तत्त्वों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । शब्दों का

प्रत्यक्ष क ज्ञान कराने वाला श्रोत्र, स्पर्श का त्वक्, विषयनिरूपण का ज्ञान कराने वाला चक्षु, स्वाद की अनुभूति कराने वाला "रसना", गन्ध का आभास कराने वाला घ्राण नामक तत्त्व होता है । ये सभी तत्त्व ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित हैं - बोलने की क्रिया करने वाला वाक्, ग्रहण करने वाला पाणि, आने-जाने के व्यापार वाला पाद, स्थूल मलादि को निकालने वाला पायु और हेयता और उपादेयता के परिज्ञान से चित्त को विश्रान्ति की अभिव्यक्ति कराने वाला उपस्थ तत्त्व होता है । ये पाचों तत्त्व कर्मेन्द्रियों से सम्बन्धित हैं ।

सिद्धों की दर्शन विद्या के अनुसार पांच सूक्ष्म तन्मात्र तत्त्वों से जब क्षोभ उत्पन्न किया जाता है तो वे स्थूलता धारण कर लेते हैं और इस तरह पांच स्थूल भूतों के रूप में प्रकट हो जाते हैं । शब्द तन्मात्र तत्त्व प्रक्षुब्ध होकर आकाश तत्त्व, स्पर्शतन्मात्र तत्त्व, पशु प्रमाताओं को जीवित रखता हुआ वायु तत्त्व, रूपतन्मात्र तत्त्व, दाहकत्वादि रूप में प्रक्षुब्ध होकर अग्नितत्त्व, जीवों के शरीरों का आप्यायन करने वाला आप: तत्त्व, रसतन्मात्र के प्रक्षुब्ध होने पर तथा प्रक्षोभ को प्राप्त हुआ गन्धतन्मात्र तत्त्व समस्त विश्व को धारण करने वाला धरा या पृथ्वी तत्त्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ है । ये समस्त तत्त्व उस परमेश्वर के ही रूप हैं । यही परमेश्वर का आत्मरूप भी है ।

रचना का भावगत महत्त्व -

इस रचना की महिमा सिद्धों के दर्शन स्वरूप को प्रकट करने के साथ-साथ परमज्ञान प्रदान करने की भी है । यह स्तोत्र एक शास्त्र के रूप में समस्त इच्छाओं की पूर्ति के लिए भी है । इसकी साधना पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति कराती है । रचना के अध्ययन से निम्नलिखित भावों का उदय होता है -

सिद्ध-दर्शन की अद्वैत दृष्टि -

यह रचना सिद्धों की अद्वैत दृष्टि को पकट करती है । इस अद्वैत दृष्टि में द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत सब कुछ एक परमेश्वर ही दीखता है । उनकी यह दृष्टि

पराद्वैत दृष्टि कहलाती है । "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" वाला अद्वैत आपेक्षित अद्वैत है, पारमार्थिक नहीं । पारमार्थिक अद्वैत में तो सब कुछ सत्य ही है और सब कुछ वस्तुत ब्रह्म ही है, जगत भी ब्रह्म ही है । ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं ।

अक्षातीत शिव के प्रति श्रद्धाभाव -

शिव के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता । वह अ, क्ष और म के रूप में प्रकट होता है । "अ" परमशिव है, "क्ष" शक्ति और "म" पुरुष तत्त्व है । आचार्यश्री लिखते हैं --

अक्षातीतायाक्षमाया क्षमयायक्षमावते ।
अविमुक्तक्षेत्रवासिशिवाय नतिरस्तु मे ।।[1]

अर्थात् जो इन्द्रियों से अतीत है, जो शिव, शक्ति, नररूप होते हुए त्रिक रूप है, जो मातृकामय रूप को धारण करते हैं, जो सर्वशक्तिमान् और क्षमाशील हैं, तथा जो उस काशीक्षेत्र में निवास करने वाले हैं जहां रहने वाली भेड़ियां भी मुक्ति को प्राप्त कर लेती हैं, उन विश्वनाथ शिव को मेरा प्रणाम है ।

स्तोत्र की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्यश्री का कथन है कि स्तोत्र में वर्णित उपासनाभाव से उपासक अपने आपको परमशिव से जब अभिन्न देखने लगता है तो वह पशुरूप में विचरण करता हुआ भी शिवरूप हो जाता है । जीवपर्यन्त जीवन्मुक्त अवस्था में रहता है । शरीर छूटने पर या तो शिवभाव में प्रवेश करता है या पारमेश्वरी प्रशासन में उच्च अधिकारों को प्राप्त करता है । आचार्यश्री लिखते हैं --

सम्प्राप्य गुरुवक्त्राब्जाच्चेतसानन्यगामिना ।
सम्पठन् स्तोत्रमेतत् स्यात् पशुःपशुपतिः किल ।।[2]

---

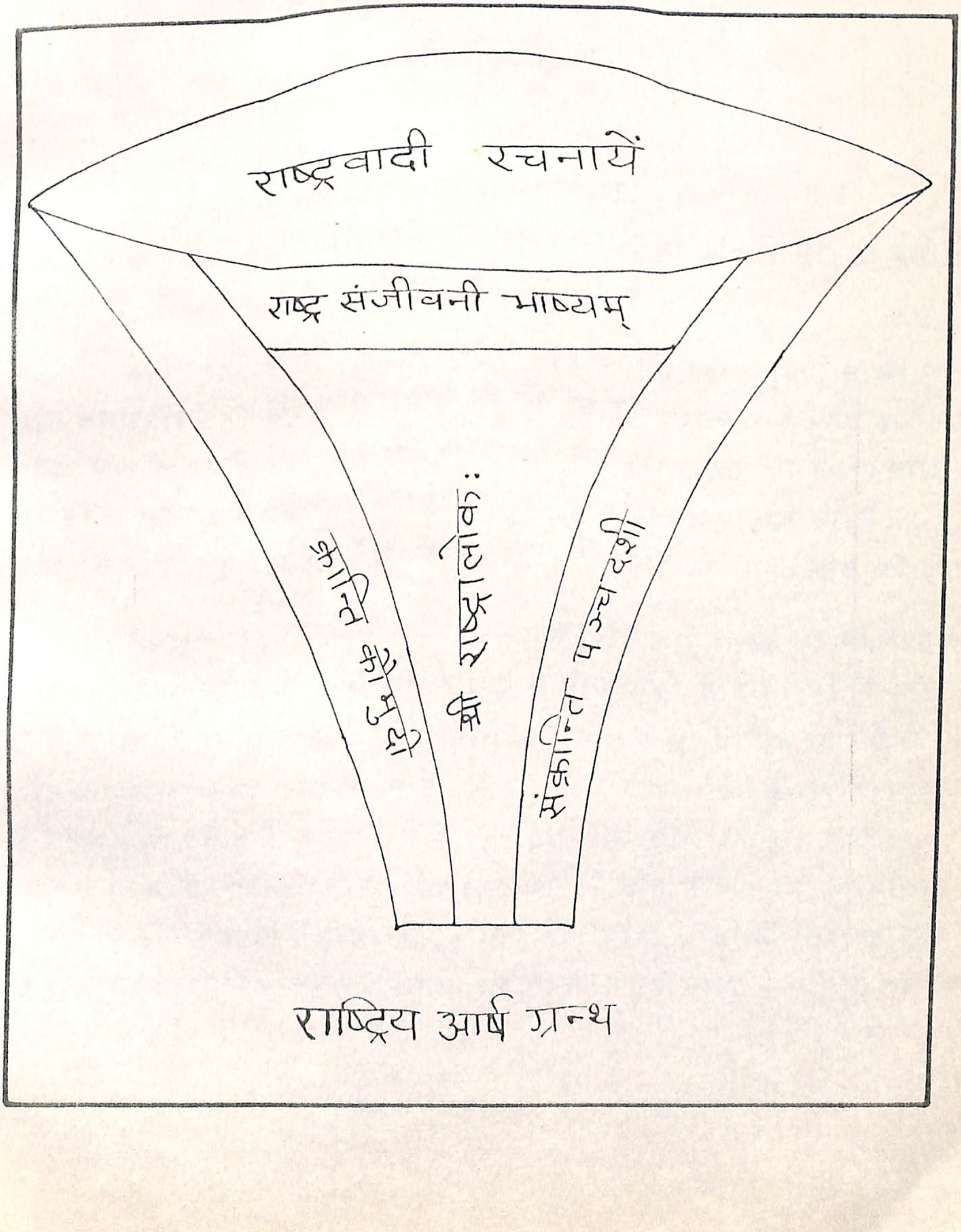
1· श्रीपरमशिवस्तोत्रम्, श्लोक 42, पृ0 81·

2· वही, श्लोक 44, पृ0 84·

# चतुर्थ-अध्याय

## राष्ट्रवादी रचनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन

1. श्री राष्ट्रालोक:
2. श्री क्रान्ति कौमुदी
3. श्री सङ्क्रान्ति पञ्चदशी


राष्ट्रवादी रचनायें
राष्ट्र संजीवनी भाष्यम्
श्री राष्ट्रालोकः
संक्रान्ति पञ्चदशी
राष्ट्रिय आर्ष ग्रन्थ

राष्ट्रनीति विषयक रचनाओं की समालोचना -

तर्पयन्ति स्वराष्ट्रं ये शोणितैरुन्निनीषवः ।
धन्यास्ते कृतपुण्यास्ते वन्दनीयपदाम्बुजाः ।।[1]

अर्थात् उन्नति की इच्छा करने वाले जो पुरुष स्वराष्ट्र को रुधिरों से तृप्त करते हैं वे धन्य हैं, वे पुण्यवान है, उनके चरणकमल वन्दनीय हैं ।

अपने राष्ट्र के प्रति पूर्ण आस्था के साथ समर्पित महान् पुरुष, साधक एवं कवि आचार्यपाद श्री अमृतवाग्भवाचार्य जी को देश की परतन्त्रता से गहन आत्म-पीड़ा व्यथित करती रही । उनका राष्ट्रभक्त हृदय राष्ट्रियता की दिव्य साधना को प्राप्त हुआ और दिव्य-भावनाओं से युक्त यह संदेश काव्यात्मक रूप में प्रवाहित होकर राष्ट्रियों के लिए राष्ट्रवादी भावनाओं का जागृत स्रोत बन गया ।

विश्वबन्धुत्व की भावनाओं का व्यावहारिक ज्ञान साधक की लोककल्याण नीति को प्रकट करता है । आत्मा के लिए लोकत्याग की बात साधकों ने कही हैं - "आत्मार्थे त्यजेत् लोकम्" किन्तु साधु वही धन्य है जो आत्मकल्याण के साथ-साथ विश्वकल्याण का भाव भी अपने अन्दर निहित रखकर समय व परिस्थितियों के अनुकूल आने पर उन्हें जनसाधारण के लिए प्रेरणा का स्रोत बनाये । "सर्व खल्विदं ब्रह्म:"के साधक मनीषी आत्मसाधना को लोक साधना का रूप मानकर राष्ट्रहित के चिन्तन में निरंतर लय हो जाते हैं । आचार्य महोदय सिद्ध महात्मा थे । समस्त तन्त्रों में उनकी स्वतंत्र गति थी । आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् माँ

---

1. श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 100, पृ0 32.

भगवती से आशीर्वाद प्राप्त करके उन्होंने लोककल्याणार्थ साहित्य सर्जन किया। मानवीय सृष्टि में मनुष्य सर्वोपरि प्राणी है और राष्ट्र-व्यवस्था उसकी व्यावहारिक व्यवस्था है अत: इस व्यवस्था के गुणावगुण का विवेचन करते हुए उन्होंने राष्ट्रनीति विषयक तीन स्वतंत्र रचनाओं का सृजन किया। वे हैं --

1. श्रीराष्ट्रालोक,
2. श्रीक्रान्तिकौमुदी, और
3. श्रीसंक्रान्तिपंचदशी।

श्रीराष्ट्रालोक -

श्रीराष्ट्रालोक राष्ट्रवाद का एक अद्भुत आदर्श ग्रन्थरत्न है। इस सर्वोपयोगी, अनतिदीर्घ व व्यर्थ शब्द प्रपंच-जालमाला रहित ग्रन्थ में राष्ट्र संबंधी मुख्यत: समस्त बातों का सूत्ररूप में वर्णन किया गया है। परतन्त्र भारतवर्ष के समय भारतीय आत्माएं स्वतंत्रता के लिए छटपटा रही थी। अनेक वीर अपना बलिदान देकर स्वतंत्रता की लौ को प्रज्वलित कर रहे थे। ऐसे समय में ही आचार्यपाद ने इस ग्रन्थ की रचना की जिससे समस्त देशभक्तों में जागृति की एक लहर दौड़ गई। अपने रचना समय से ही यह ग्रन्थ विद्वान् विचारकों के लिए चिन्तन-मनन का विषय रहा है। इसकी 108 कारिकाएं यद्यपि लघुकाय हैं तथापि स्वयं आचार्यपाद की साधक बुद्धि ने इस पर "श्रीराष्ट्रसजीवन" नामक भाष्य लिखा है जो अभी तक अमुद्रित है।

श्रीक्रान्तिकौमुदी -

यह ग्रन्थ अतिलघुकाय है। दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित यह रचना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। क्रान्ति के बिना शान्ति की कल्पना निराधार है। पूर्व का त्याग और अपर का ग्रहण ही क्रान्ति कहलाता है। दुष्ट चिन्तन का त्याग और सद् चिन्तन का ग्रहण करने पर ही मन में शान्ति का प्रादुर्भाव होता है।

क्रम-अक्रम और विक्रम से युक्त उपास्य क्रान्ति ही जनजीवन में शान्ति स्थापित कर सकती है । आर्या और अनार्या भेद से यह क्रान्ति दो प्रकार की होती है । परार्थ हित चिन्तन के लिए की गई क्रान्ति आर्या क्रान्ति है तथा स्वार्थहित चिन्तन में अनार्या क्रान्ति हुआ करती है । अनार्य शासन को परिवर्तित करने हेतु क्रान्ति की आवश्यकता हुआ करती है । आर्यशासन से सभी को सुख व शांति प्राप्त होती है । क्रान्ति के इन विविध भेदोपभेद प्रयोजन आदि को दृष्टि में रखकर ही इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है । राष्ट्र के निरन्तर विकास हेतु इसका अध्ययन महत्त्वपूर्ण है ।

श्रीसंक्रान्तिपंचदशी -

यह सम्पूर्ण विश्व, जिसका मूल क्रान्ति है, क्रान्तिप्रिय है । अत: परमाणु से लेकर परम महत् तक सर्वत्र क्रान्ति का ही साम्राज्य है । राष्ट्रवादी प्रवीण नीतिज्ञों के कथनानुसार आर्यों पर कृपा और अनार्यों का दमन करने के कारण सम्पूर्ण संसार में अमंगल की निवृत्ति के साथ-साथ मंगल की स्थापना के लिए जिस क्रान्ति की उपासना विहित है, वह क्रान्ति ही संक्रान्ति है । यही कारण है कि राष्ट्रनीति के आचार्य संक्रान्ति की बहुत प्रशंसा करते हैं । इस ग्रन्थ में विश्व की उन्नति, राष्ट्र की उन्नति तथा वैयक्तिक उन्नति के इच्छुक राष्ट्रनीतिज्ञों के लिए संक्षेप में पर्याप्त उपदेश विद्यमान है ।

उपर्युक्त सभी रचनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन क्रमश: आगे सविस्तार दिया जा रहा है।-

श्रीराष्ट्रालोक की समालोचना -

श्रीराष्ट्रालोक का कथास्रोत -

देश, समाज, राज्य व राष्ट्र संबंधी सभी मान्यताएं जनसमुदाय से जुड़ी हुई है । मानव समुदाय का धर्म से सहसंबंध है । आचार्य परम्परा के चिंतकों ने

धर्म को प्रथम या श्रेष्ठ पुरुषार्थ मानकर उसका मूल केन्द्र मानव को माना है । अतः मानव से संबंधित सभी समुदाय धर्म प्रधान माने गये हैं । राष्ट्र जनसमुदाय है अतः उसका सहसंबंध धर्म से है । इसीलिए धर्म ग्रन्थों की मान्यताएं ही राष्ट्र के लिए आदर्श मानी जाती है । स्मृतिग्रन्थ हमारे सामाजिक रीति-रिवाज, नियम व धर्मों के साथ-साथ अधिकार व कर्त्तव्यों का भी बोध कराते हैं । इन स्मृति ग्रंथों में याज्ञवल्क्यस्मृति तथा मनुस्मृति आज भी अपनी सर्वोच्च गरिमा के लिए प्रसिद्ध हैं । उनमें निर्धारित सामाजिक व्यवस्था ही भारतीय समाज की व्यवस्था कहलती है । श्री अमृतवाग्भवाचार्य भारतीय सांस्कृतिक व धर्म के पोषक व साधक कविश्रेष्ठ हैं । श्री राष्ट्रालोक लिखने से पूर्व उनके मन में भारतीय संस्कृति में राजनयिक आर्य ग्रंथों का आदर्श स्वरूप सर्वदा विद्यमान रहा है । वही इस उच्चकोटि की राष्ट्रवादी रचना का मूल स्रोत है ।

यह ग्रंथ संसार के व्यवहारिक स्वातंत्र्य की प्राप्ति का मार्ग दिखाता है और साथ ही पारमार्थिक स्वातंत्र्य की इच्छा को भी अंकुरित करता है । स्वातंत्र्य ही मोक्ष है तथा मोक्ष ही हमारा परम लक्ष्य ।

प्रस्तुत ग्रन्थ रचना की पृ०भूमि मे आचार्यप्रवर की श्रेष्ठ दार्शनिक रचना "आत्मविलास" का व्यवहारिक पक्ष रहा है । स्वयं आचार्य का कथन है --

> ग्रन्थस्यास्य रहस्यं ये ज्ञातुं वांछन्ति भावुकाः ।
> पठन्त्वात्मविलासं ते कामं जितसुधामदम् ।।[1]

अर्थात् जो भावुक (पाठक) इस ग्रन्थ के रहस्य को जानना चाहते हैं वे अमृत के अभिमान को जीतने वाले "श्रीआत्मविलास ग्रन्थ का यथासाध्य अध्ययन चिन्तन व मनन करें । तभी इसका वास्तविक रहस्य ज्ञात हो सकता है ।

---

1. श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 106, पृ0 33.

भूलोक में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ कोटि का प्राणी है। वही समस्त प्राणियों का नेता है। अतः उसे "नर" कहते हैं। वह अपने स्वभाव से सम्पूर्ण लोक को व्यवस्थित करता है। लोकव्यवस्था ही उसका व्यावहारिक रूप है। समस्त व्यवहार का आरंभ तथा समाप्ति परिपूर्ण स्वातंत्र्य में ही निहित है। परतन्त्रता को उद्देश्य बनाकर रखने वाले मनुष्य के लिए पारतन्त्र्य की और स्वतंत्रता को उद्देश्य बनाकर रखने वाले मनुष्य को स्वातन्त्र्य की प्राप्ति होना स्वभाव सिद्ध होता है। अन्तर्मुखता से "स्व" तथा बहिर्मुखता से "पर" की कल्पना प्रकट होने पर ही स्वतंत्र और परतंत्र का भाव उद्भूत हुआ करता है। स्वातन्त्र्यप्रिय प्राणी आर्यस्वभाव होता है और पारतन्त्र्य प्रिय अनार्य स्वभाव का। आर्यस्वभाव में दैवी सभ्यता आविर्भूत होती है और अनार्य स्वभाव में आसुरी सभ्यता। अनार्य शासन संसार में दुःख, शोक, अशान्ति आदि की सृष्टि करता है। आर्यशासन स्वातन्त्र्य प्रिय होता है तथा वह अशान्ति का निवारण कर शान्ति की प्रतिष्ठा करता है। आर्यशासन व्यवस्था राष्ट्रवादी व्यवस्था है। जिसमें प्रत्येक राष्ट्रिय राष्ट्र को अपनी पैतृक सम्पत्ति मान कर उसके प्रति आत्मसमर्पण की भावना को नित्य नवीन रखता है। यह श्रीराष्ट्रालोक इसी राष्ट्रवाद को लक्ष्य कर रचा गया है।

सर्वतंत्र स्वतंत्र आचार्य महोदय ने स्वयं इस शासन को "व्यावहारिक मोक्षशास्त्र" की संज्ञा दी है। इस शास्त्र में आर्य पद्धति से उपदेशात्मक एवं अनुशासनात्मक विधि से गुरुसम्मत उपदेश वाक्य ही कहे गये हैं। जिनमें न तो कहीं नकारने की स्थिति है और न ही शंका की। जो भी कुछ कहा गया है वह मन्त्रवत् लोककल्याण की सार्थकता के लिए अपौरुषेय वचन है।

रचना का प्रयोजन -

अंग्रेजी शासन-व्यवस्था एवं परतन्त्रता की शृंखलाओं से आबद्ध राष्ट्र को मुक्त कराने की प्रबल भावना ने ही आचार्यश्री को "श्रीराष्ट्रालोक" रचना की प्रेरणा दी। राष्ट्रनिष्ठ इस विभूति की यह मान्यता थी कि जिस व्यक्ति में

राष्ट्रीयता और राष्ट्रनिष्ठा नहीं है वह कभी भी आध्यात्मिक पथ पर प्रगति नहीं कर सकता । अपने देश की परतन्त्रता की पीड़ा से द्रवित होकर उनकी अमृत-वाणी के एक-एक शब्द में म्रियमाण राष्ट्र के लिए नवशक्ति संचार का संदेश निहित है । उस समय विदेशी सत्ता का इतना आतंक था कि उसके विपरीत कुछ भी बोलना और लिखना एक विषम संकट को आमन्त्रित करना था । ऐसे भीषण समय में इस ऋषि कल्प विभूति ने अपनी अमरवाणी को ऐसे सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया कि सार्वभौमिक राष्ट्रीयता का उद्‌बोधन करने के साथ-साथ वह स्वदेश के लिए भी श्रेष्ठ क्रान्ति का प्रेरक एवं आदर्श बन सके ।

राष्ट्र को कृतिकार ने एक साकार पुरुष के रूप में माना है । श्रीराष्ट्रालोक के प्रेरक स्रोत श्रीआत्मविलास की भावनाओं के अनुरूप यह स्वत: ही सिद्ध हो जाता है कि उस समय भारत देश "ऋत" और "सत" की स्थिति से बहुत परे था, पर-तंत्रता के भाव ने उसे कुण्ठित कर दिया था अत: उसके लिए एक दृष्टि की आवश्यकता थी वह राष्ट्रदृष्टि दिखलाना ही कवि का मुख्य प्रयोजन रहा है । श्रीराष्ट्रालोक के अवतरणिका में आचार्यप्रवर ने इस रचना का मुख्य लक्ष्य राष्ट्रवाद की स्थापना करना बतलाया है ।[1] उनके मतानुसार राज्यवादी स्थापनाओं में बहुत कुछ शांति रहती है, किन्तु पूर्ण शांति की स्थापना राष्ट्रवादियों के शासन में ही संभावित है ।

विषयवस्तु की समालोचना -

श्रीराष्ट्रालोक राष्ट्रवाद का एक अद्‌भुत आदर्श ग्रन्थ रत्न है । यह आर्य ग्रन्थ है । जिसका दूसरा "व्यवहारिकमोक्षशास्त्र" भी है । इस सर्वोपयोगी

---

1. श्रीराष्ट्रालोक, अवतरणिका, पृ० 6.

अनतिदीर्घ व व्यर्थ शब्द प्रपंच जालमालारहित ग्रन्थ में राष्ट्रसंबंधी समस्त बातों को सूत्ररूप में वर्णित किया है । उन सूत्रों का पूर्णाशय प्रकट हेतु स्वयं आचार्य महोदय ने एक सुविस्तृत "श्रीराष्ट्रसंजीवन" नामक महाभाष्य संस्कृत में लिखा है ।

श्रीराष्ट्रालोक एक सार्वभौम राष्ट्रवाद का ग्रन्थ है । उसमें राष्ट्रवाद के मूल तत्त्वों का सन्निवेश किया गया है । यह रचना उस काल की है जब भारतवर्ष परतन्त्र था । विदेशी शासक अपने अत्याचारों द्वारा भारतीयता ध्वंस करने का दुष्प्रयत्न कर रहे थे । देश भर में महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता संग्राम की पुरवर ज्वाला प्रज्वलित हो चुकी थी, असंख्यों बलिदानों से ब्रिटिश साम्राज्य का ढांचा जर्जरित हो रहा था तथा समस्त देशभक्त एक स्वर व एकचित्त से राष्ट्रसेवा के लिए सर्वस्व न्योछावर कररहे थे । उस समय आचार्य महोदय ने भारतमाता के पावन श्रीचरणों में भक्तिपूर्वक यह भेंट प्रस्तुत की । सर्वप्रथम निम्न प्रांजल शब्दों में राष्ट्र की वन्दना की गई --

चतुर्णां पुरुषार्थानां हेतवे वृषकेतवे ।
पितृपुण्यभुवे तस्मै स्वराष्ट्राय नमोनमः ।।[1]

यहां "चतुर्णां" शब्द का संबंध" ग्रन्थ के अंतिम श्लोक के अंतिम "ग्रन्थो यमस्त्यद्भुतः" से है जिसका आशय है कि चारों वेदों तथा चारों पुरुषार्थों का सार इसी में सन्निहित है । चारों पुरुषार्थों में सारवस्तु धर्म है जो वृषकेतु शब्द से प्रतिफलित होता है । श्लोक का आशय है कि चारों पुरुषार्थों के हेतुस्वरूप अपने राष्ट्र को नमस्कार है । राष्ट्रशब्द की व्याख्या में यहां प्रथम चार बातें -- (1) पुरुषार्थ चतुष्टय हेतु, (2) धर्मध्वज, (3) पितृपुण्य भूत्व तथा (4) स्वीयत्व -- बतलाई गई है ।

---

1. राष्ट्रालोक, मंगलाचरण, श्लोक 1, पृ० 7.

1· पुरुषार्थ चतुष्टय हेतु -

पूर्ण मनुष्य बनने के लिए प्रत्येक मनुष्य को पुरुषार्थ साधन करना आवश्यक है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष -- ये चार पुरुषार्थ हैं । इनमें राष्ट्र की आभ्यन्तरिक वस्तु धर्म है । धर्म ही मूलभूत सांस्कृतिक शक्ति है, जो उस राष्ट्र का सर्वविध संरक्षण करती है । क्योंकि --

धारणाद्द धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजा: ।
य: स्याद्द धारणसंयुक्त: स धर्म इति कथ्यते ।।

तथा

तस्माद्द धर्ममित्याहु धर्मो धारयते जगत् ।

इस प्रकार जो इस लोक और परलोक में नि:श्रेयस साधक हो, जनता की उस जीवनशक्ति का नाम धर्म है । वृषकेतु शब्द से राष्ट्र की सांस्कृतिक मूलशक्ति की ओर इंगित किया गया है ।

2· वृषकेतु या धर्मध्वज -

स्वराष्ट्र का दूसरा लक्षण है "वृषकेतु" अर्थात् वृष के समान केतु वाला । शास्त्रों में वृष को धर्म का रूप कहा गया है । वृषकेतु का दूसरा पर्याय "धर्मध्वज" होता है । धर्म की ध्वजा का प्रतीक राष्ट्र ही स्वराष्ट्र है । किसी संस्था या राष्ट्र के सिद्धांतों के प्रतीक रूप में जो चिह्न विशेष होता है उसे ध्वजा कहते हैं । इस ध्वजा के दर्शनमात्र से ही उस संस्था या राष्ट्र की विचारधारा एवं सिद्धांतों का पता लग जाता है । यह स्वराष्ट्र का बहिरंग वर्णन हुआ । किसी भी देश के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि उस देश की सभ्यता, संस्कृति एवं सामाजिक परम्पराओं पर उस देश के धर्मगुरुओं का अक्षुण्ण प्रभाव पड़ता है । राष्ट्र को जनता की धार्मिक प्रवृत्तियों (वह मूलभावना जो उनका संरक्षण करती है) का प्रतीक होना चाहिए ।

2· वृषकेतु या धर्मध्वज -

भारतीयों में "वृषभ" को ब्राह्मण के समान उच्च माना गया है । ऋग्वेद के अग्निसूक्त में कहा गया है --

"चत्वारिशृंगास्त्रयो अस्यपादा, द्वेशीर्षेसप्तहस्तासो अस्य ।
त्रेधाबद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां आविवेश ।।"[1]

वृषकेतु या वृषध्वजयों भी कल्याण का द्योतक है । इसीलिए आचार्य प्रवर ने वृषकेतु या धर्मध्वज को स्वराष्ट्र का द्वितीय प्रतीक कहा है ।

3· पितृपुण्यभूत्व -

राष्ट्र का तृतीय लक्षण पितृभूत्व एवं पुण्यभूत्व है । पितृभूत्व और पुण्यभूत्व ये दोनों परस्पर सम्बन्धित विशेषण हैं । अर्थात् राष्ट्र वह है जो पितृभू रूप हो, और पुण्यभू रूप भी हो । धर्मशास्त्रों के नियमानुसार पिता का उत्तराधिकारी पूर्णरूपेण पुत्र ही हो सकता है । क्योंकि वह "औरस" होता है । उसे "आत्मा वै जायते स:" आप्त प्रमाण के अनुसार आत्मन या आत्मा का प्रतिबिम्ब कहा जाता है । राष्ट्र एक पिता है । राष्ट्रिय पुरुष उसके पुत्र हैं । जो राष्ट्र को पिता नहीं मानते वह उस राष्ट्र के अधिकारी नहीं । यही भाव पितृ पुण्य भूत्व कहलाता है । अत: जो राष्ट्र को अपना पिता समझते हैं और साथ ही पुण्यभूमि भी, वे ही सच्चे राष्ट्रिय हैं । सच्चे राष्ट्रिय पुरुष की व्याख्या में आचार्यपाद[2] ने लिखा है --

कि राष्ट्र के राष्ट्रिय के लिए राष्ट्र में राष्ट्र की सर्वविध संरक्षा की दृष्टि से पूर्णरूपेण पितृभावना और पुण्यभावना होना अत्यावश्यक है । पितृभू और पुण्यभू ये दोनों शब्द मिलकर ही राष्ट्रियता की पूर्ति करते हैं । राष्ट्र का

---

1· ऋग्वेद, अग्निसूक्त·

2· पितृभूत्वं पुण्यभूत्वं द्वयं यस्य न विद्यते ।
तस्य स्वत्वं तत्र राष्ट्रे भवितुं न किला इति ।। -राष्ट्रालोक, श्लोक 5, पृ0 8·

आधार संस्कृति है । संस्कृति का अर्थ समान परम्पराएं हैं । जिन व्यक्तियों की धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परम्परायें समान हों, उन्ही का समूह एक "राष्ट्र" है । श्री आचार्य महोदय ने कहा है --

"समान संस्कृतिमता यावती पितृपुण्यभू: ।
तावती भुवभावृत्य राष्ट्रमेकं निगद्यते ।।"[1]

अर्थात् समान संस्कृति वाले मनुष्यों की जितनी पितृपुण्यभू हो उतनी ही पृथ्वी को "एक राष्ट्र" कहा जाता है । राष्ट्र का आधार राष्ट्रवासियों की "राष्ट्रियता" है और उस राष्ट्रियता का ही दूसरा नाम संस्कृति है । राज्य और राष्ट्र में बहुत अन्तर है । राज्य का आधार स्वार्थमयी वृत्ति है । राज्यों का निर्माण भी इसी वृत्ति के आधार पर होता है । जिससे वास्तविक कल्याण ही पूर्ण आशा नहीं हो सकती । किन्तु राष्ट्र की वृत्ति आनन्दमयी है । वे धार्मिक शुभ परम्पराएं हैं । जिन आधार के द्वारा मानवमात्र "सत्यं-शिवं-सुन्दरं" का दर्शन करता है । स्वातंत्र वीर श्री सावरकर जी ने हिन्दुत्व की परिभाषा देते हुए कहा है --

"आसिन्धुसिन्धुपर्यन्ता यस्य भारत भूमिका ।
पितृभू: पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृत: ।।"

अर्थात् समुद्र से लेकर सिन्धु नदी पर्यन्त भारत भू भाग को जो अपनी पितृभूमि और पुण्यभूमि मानता है वही हिन्दु है । इससे स्पष्ट होता है कि वास्तविक राष्ट्र विधायक तत्त्व संस्कृति है और उसका आधार उस राष्ट्र के प्रति पितृनिष्ठा एवं पुण्यनिष्ठा है, अत: वास्तविक राष्ट्र का लक्षण पितृराष्ट्र (बपौती) पुण्यराष्ट्र (उसके प्रति अनन्य भक्ति) का समन्वय सर्वथा उचित ही है ।

4· <u>स्वीयत्व</u> -

राष्ट्र का चतुर्थ लक्षण "स्वीयत्व" है । स्वीयत्व से तात्पर्य है कि राष्ट्र

---

1· राष्ट्रालोक, श्लोक 3, पृ० 8·

के प्रति यह भावना कि यह राष्ट्र सर्वतोभावेन ह मेरा ही है । जब तक किसी वस्तु के प्रति ममत्व उत्पन्न नहीं होता तब तक उसके लाभालाभ या समुन्नति अवनति के संबंध में मनुष्य ध्यान नहीं देता । जिन व्यक्तियों का राष्ट्र ही जीवन एवं प्राण होता है और जो राष्ट्रदेवता के अनन्य भक्त होते हैं उनके द्वारा राष्ट्र के प्रति की गई भक्तिभावना पारमार्थिक ममत्व संज्ञा में परिगणित होती है । यही स्वीयत्व भाव राष्ट्रिय व्यक्ति के लिए स्वराष्ट्र के प्रति पूर्ण निष्ठावान बनाता है ।

राष्ट्रदृष्टि -
----------

ग्रन्थ के द्वितीय श्लोक में कविवर ने राष्ट्रदृष्टि को नमस्कार किया है ।[1] राष्ट्र का मंगल करने वाली राष्ट्रदृष्टि के बिना हम राष्ट्र को नहीं देख सकते । राष्ट्र के प्रति राष्ट्रियों की वह अमिट अटूट उत्कट भावना जिसके कारण राष्ट्रिय राष्ट्र पर स्वकीय सर्वस्व समर्पण करते हैं, राष्ट्रदृष्टि कहलाती है । राष्ट्र की सर्वाधिक समुन्नति के लिए यह भावना सर्वोपरि होना नितान्त आवश्यक है । ग्रंथ के आमुख भाग मे लिखा है --

ऐन्द्रीं भूतिं नित्यां दत्त्वा शौक्लीं कीर्तिं विस्तार्यैषा ।
शक्तिं मौरीं पूर्त्तिं नीत्वा राष्ट्रं गौरीहङ्· नः पापा त ।।[2]

अर्थात् यह गौरी दृष्टि {भगवती विज्ञानरूपा सरस्वती की ज्योति} हमारे राष्ट्र में सम्पत्तियां नित्य देती हुई शुभ्र कीर्त्ति का विस्तार करती हुई, सूर्य की भांति

---

1· राष्ट्रदृष्टिं नमस्यामो राष्ट्रमंगलकारिणीम् ।
यया विना न पश्यन्ति राष्ट्रं स्वनिकटस्थितम् ।।
--श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 2, पृ० 7·

2· श्रीराष्ट्रालोक, आमुखम्, पृ० 1·

राष्ट्र को वर्चस्व बनाती हुई, राष्ट्र की रक्षा करें । राष्ट्र की सबसे अधिक महत्त्वशाली वस्तु राष्ट्र के प्रति दृष्टि ही हो सकती है जिसके द्वारा राष्ट्र का अन्तर्बाह्य रूप से दर्शन कर सर्वविध समुन्नति की संभावना हो सकती है । राष्ट्र दृष्टि रूपी कल्याणकारिणी राष्ट्रभावना के बिना राष्ट्र को निकट होते हुए भी नहीं देखा जा सकता । जब तक हमारे अन्दर आत्मदर्शन की भांति राष्ट्रदर्शन क्षमता नहीं आती तब तक हम सच्चे राष्ट्रिय नहीं हो सकते । परमराष्ट्रवेत्ता आचार्यपाद ने राष्ट्रालोक में इसी राष्ट्रदृष्टि का वर्णन करते हुए लिखा है --

> दरिद्रास्ते स्ति दुर्भाग्या रोगैस्ते समभिप्लुता: ।
> येषां नराणां सा राष्ट्रहित दृष्टिर्नविद्यते ।।
> मानवानां कुलेजन्मलब्धा येरर्जिता न हि ।
> राष्ट्रदृष्टि: पुच्छहीना: कोलास्ते गूथमक्षिण: ।।
> ग्रस्तं राष्ट्रग्रहपतिं दुष्टाराष्ट्रिय राहुणां ।
> राष्ट्रदृष्टि विहीनास्तु कथं पश्यन्तु कौशिका: ।।[1]

अर्थात राष्ट्र का हित करने वाली यह दृष्टि जिन पुरुषों को नहीं होती वे पुरुष दरिद्री अतिदुर्भाग्य तथा रोगों से घिरे होते हैं । मनुष्यों के वंश में जन्म पाकर भी जिन्होंने वह राष्ट्रदृष्टि नहीं पाई वे विष्ठा भक्षण करने वाले बिना पूंछ के शूकर हैं । दुष्ट अराष्ट्रिय रूपी राहु से ग्रसे हुए राष्ट्ररूपी ग्रहपति सूर्य को राष्ट्रहित से रहित (अन्धे) उल्लू किस प्रकार देखें ।

राष्ट्र-शक्ति -

राष्ट्र के स्थायित्व एवं संरक्षण हेतु शक्ति की आवश्यकता होती है । यह शक्ति तीन प्रकार की है । इस के किसी भी एक पक्ष के अभाव में राष्ट्र पंगु

---

1. राष्ट्रालोक, श्लोक सं० 8,9,10, पृ० 9.

हो जाता है । आचार्य महोदय ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है --

स्वातन्त्र्यं भिक्षयानैव कदाचिदपि लभ्यते ।
योगक्षेमसमर्थैका राष्ट्रशक्ति: प्रभाविनी ।।
राष्ट्रकाली राष्ट्रलक्ष्मीस्तथा राष्ट्रसरस्वती ।
सेवनीया प्रयत्नेन भोगमोक्षप्रदायिनी ।।[1]

अर्थात भिक्षा मांगने से कभी स्वतंत्रता नहीं मिलती । राष्ट्रशक्ति ही योग क्षेम प्राप्ति में केवल समर्थ होती है । राष्ट्रशक्ति से आशय राष्ट्र की तीन शक्तियों -- राष्ट्र-काली, राष्ट्रलक्ष्मी और राष्ट्रसरस्वती से है ।

व्यवहारिक शब्दों में सैन्यशक्ति, धनशक्ति और ज्ञानशक्ति ही सम्मिलित रूप से राष्ट्र की शक्तियां हैं । जिस राष्ट्र में जितनी मात्रा में इन शक्तियों का प्रादुर्भाव विकसित होता है उतनी ही मात्रा में वह राष्ट्र उन्नत होता है । ये शक्तियां स्वयं उदभू नहीं है । इनका प्राकट्य महाशक्ति से होता है । यथा - महा-शक्ति रूप स्वयम्भू ज्योतिर्बिन्दु से ही महाकल्यादि तीनों देवियों का उद्भव होता है । इसी प्रकार सैन्य, धन और ज्ञान का विकास जन में ही होता है । जनसमूह राष्ट्र है । इस प्रकार राष्ट्रशक्ति जनसमूह से उत्पन्न होती है ।

प्रत्येक राष्ट्रिय को अपने राष्ट्र को परतन्त्रता की बेड़ी से बचाने के लिए राष्ट्र पर बलिदान होने का भाव सर्वथा ग्रहण करना चाहिए । जो लोग ऐसा नहीं करते वे राष्ट्रद्रोही होते हैं ।[2]

---

1· राष्ट्रालोक, श्लोक सं0 82, 83, पृ0 27·

2· पारतन्त्र्यस्य निगडं दृढीकुर्वन्ति ते नरा: ।
ये राष्ट्रार्थं न जानन्ति मर्त्त्यमात्माविरोधिन: ।।-श्रीराष्ट्रालोक,श्लोक 12, पृ0 10·

शिक्षा की सम्पन्नता से ही ज्ञान का विकास संभव है । स्वराष्ट्र शिक्षा के द्वारा व्यक्ति में दूरदृष्टि का विकास होता है और वह इस लोक तथा परलोक में सौभाग्य को प्राप्त होता है ।[1]

धन राष्ट्र के विकास के लिए अत्यावश्यक साधन है । अत: राष्ट्र के समृद्ध बनाने के लिए प्रतिवर्ष प्रत्येक राष्ट्रिय से उसकी आमदनी का दशमांश लेकर राष्ट्र-कोष की समृद्धि की जानी चाहिए । एतदर्थ व्यापार के नियम, मूल्यों की स्थापना, शुल्क की योजना -- ये सभी कार्य राष्ट्रियों को स्वयं करने चाहिए ।[2] आचार्यप्रवर के इस कथन पर मनुस्मृति के राजधर्म का पर्याप्त प्रभाव है । मनुस्मृति में कहा है--

शुल्कस्थानेषु कुशला: सर्वपण्यविचक्षणा: ।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ।।[3]

अर्थात् शुल्क संबंधी विषय मे कुशल, बाजार में बिकने वाली चीजों का तत्त्व जानने के वाले मनुष्य, जिस वस्तु का जो दाम निर्णय करें उसके लाभ का 20वां भाग राजा लें । और भी --

------------------------

1. स्वराष्ट्रशिक्षां गृह्णीयाच्चिकीर्षु: स्वां समुन्नतिम् ।
दूरदृष्टिर्यया भूत्वा न कदा पि विषीदति ।।
सदा चरन्त: कार्याणि राष्ट्रशिक्षांजना जिता: ।
इहा मुत्र च सौभाग्यं प्राप्नुवन्ति नरोत्तमा: ।।
--श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 16, 17, पृ0 11.

2. आयतो दशमांशो पि प्रत्यब्दं प्रतिराष्ट्रियात् ।
राष्ट्रकोषो विधातव्यो गृहीतो राष्ट्रचालकै: ।।
व्यापारनियमा मूल्यस्थापना शुल्कयोजना ।
राष्ट्रियैरेव कर्त्तव्या राष्ट्रे तेषां निजत्वत: ।।-
--श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 79, 80, पृ0 26-27.

3. मनुस्मृति, अध्याय 8, श्लोक 398, पृ0 422.

पंचरागे पंचरात्रे पक्षेपक्षे थवा गते ।
कुर्वाति चेषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृप: ।
तुलामानं प्रतीमाणं सर्वं चस्यात्सुलक्षितम्
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव पराक्षयेत् ।।[1]

अर्थात् - पांच पांच दिन पीछे या एक-एक पखवाड़े पर राजा व्यापार कुशल पुरुषों द्वारा व्यापारियों की वस्तुओं की दर निश्चय करे । सोना तौलने का तोला मासा और रत्ती आदि तथा अनाज तौलने के सेर पसेरी बांट वजन पूरे है या नहीं, इन सबकी प्रति छ: माह पश्चात् जांच करायी जावे ।

इस प्रकार के उल्लेख कथन के पीछे जो आचार्य दृष्टि है उसमें राष्ट्र के कल्याण का स्वरूप स्पष्ट झलकता है । सजग प्रहरी न होने के कारण ही राष्ट्र में चोरियां होती हैं । यह एक शिक्षा है जिसमें राष्ट्र के अपनापन का भाव विद्यमान है ।

## राष्ट्र की उन्नति के साधन -

राष्ट्र की उन्नति राष्ट्रिय शक्ति के अभ्युदय के साथ निहित है । जितनी राष्ट्रिय शक्ति सजग होगी उतनी ही किसी भी राष्ट्र की उन्नति संभव है । आचार्य महोदय ने प्रस्तुत आर्ष ग्रन्थ में राष्ट्र की उन्नति में ज्ञान को विशेष महत्त्व दिया है । संभवत: इसकी पृष्ठभूमि में आचार्य का "स्वयम् स्वयम् चरित्रम् शिक्षेरन् पृथिव्या: सर्वमानवा:" का आदर्शरूप स्थापित रहा हो । उनके अनुसार राष्ट्रभाषा व धर्म्मभाषा के पुस्तकालयों, वाचनालयों, समाचारपत्रों तथा नवीन वाङ्मय के निर्माण से राष्ट्र को सुदृढ बनना चाहिए । पर्वमाहात्म्य आदि का ज्ञान देना चाहिए । शिक्षित वर्ग ही नहीं ग्राम के किसानों, पनिहारियों, और ग्वालों को भी राष्ट्रीयता का ज्ञान देना चाहिए इसीसे राष्ट्र की उन्नति संभव है । यही

---

1· मनुस्मृति, अध्याय 8, श्लोक 402, 403, पृ० 422-24·

जन-जाग्रति है और जन-जाग्रति से ही जनपद या राष्ट्र नित्य उन्नति की ओर अग्रसर हो सकता है ।[1]

ग्रामीण निवासियों को राष्ट्रीयता का ज्ञान देने के व्यवहारिक पक्ष से आचार्य का हृदय भारतीयता की ओर दृष्टिगत होता है । वस्तुत: भारतीय आत्मा ग्रामीण अंचल के उस पवित्र वर्ग में स्थित है जो छल छद्म से दूर अपने पूर्ण परिश्रम के साथ अपने देश के गौरव को बनाये हुए हैं । यदि उनके मानस में राष्ट्रियता के पोषक तत्त्वों का ज्ञान समाहित कर दिया जावे तो सत्यरूप में वहां संक्रान्ति उत्पन्न हो सकती है । संक्रान्ति ही राष्ट्र रक्षण का विशेषत: जाग्रत भाव है जिसकी जाग्रति से हममें "राष्ट्रवादी" होने का प्रयत्न उत्पन्न हो जाता है । यह संक्रान्ति क्रान्ति से सर्वथा भिन्न है जो राष्ट्र में शान्ति की स्थापना करती है । आचार्य महोदय का कथन है --

---

1· राष्ट्रभाषाधर्म्यभाषा पुस्तकालय योजना ।
ग्रामे ग्रामे विधातव्या राष्ट्रियै राष्ट्रवर्धकै: ।।
ग्रामे ग्रामे विधातव्या: शोभना वाचनालया: ।
राष्ट्रपोषीणि पत्राणि प्रसार्याणि बहूनि च ।।
नवं नवं वाङ्मय च रचयेद्राष्ट्रापोषणम् ।
सर्वदा राष्ट्रभाषायां धर्म्यभाषामयं तथा ।।
प्रति ग्रामं विधातव्या राष्ट्रज्ञानस्यशोभना: ।
प्रचारिण्य: परिषदो राष्ट्रोन्नतिचिकीर्षुभि: ।।
तेषु तेषु च पर्वसु पर्वमाहात्म्यकोविदा: ।
पर्वेतिहासं सम्पूर्ण श्रावयेयु: स्वराष्ट्रियान् ।।
कृषाणा जलहारिण्यो गोपाला अपि यत्नत: ।
राष्ट्रज्ञानेषु निपुणा: कार्या राष्ट्रहितैषिभि: ।।-श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 38, 39, 40, पृ० 16-17·

2· श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक ५0, पृ० 29·

या क्रान्ति:क्रियते लोके दण्डनाया ततायिनाम् ।
सा शान्तिदायिनी श्रेष्ठा लोकाद्वयशुभावहा ।।

अर्थात् जो क्रान्ति आततायियों को दण्ड देने के लिए की जाती है, शाति देने वाली तथा दोनो लोकों में कल्याण प्राप्त कराने वाली यह क्रान्ति श्रेष्ठ क्रान्ति है उसे ही संक्रान्ति कहते है ।

राष्ट्र की उन्नति के इच्छुक राष्ट्रिय को सर्वथा क्रान्ति से दूर रहना चाहिए । इतना ही अपनी शांति भंग होने के भय से क्रान्ति को कभी भी सहन नहीं करना चाहिए । आचार्य महोदय क्रान्ति को सहन करने वाले लोगों को राष्ट्रघाती मानते हैं ।[1] वे स्वयं में कायरता का दुर्गुण तो उत्पन्न करते ही है राष्ट्र के लिए भी अपने धर्म का पालन नहीं करते । ऐसा राष्ट्र शनै: शनै: पराधीन हो जाता है ।

राष्ट्र की नीतियों को क्रियान्वयन कराने हेतु राष्ट्र नायक की आवश्यकता होती है । आचार्यश्री की दृष्टि से राष्ट्र नायक कोई वंश-परम्परा से संबंधित नहीं चाहिए । अपितु जिस व्यक्ति में राष्ट्र को सुचारु रूप से चलाने की क्षमता हो तथा जो दण्डनीति के सदुपयोग के द्वारा राष्ट्र को अनुशासित कर सके वही व्यक्ति राष्ट्रनायक बनने की क्षमता रख सकता है । श्रीराष्ट्रालोक में उस नेता के गुणों का विस्तार से वर्णन मिलता है ।

---

1. अराष्ट्रियकृतां क्रान्ति सहन्ते ये त्वबुद्धय: ।
शांतिभंगभिया राष्ट्रे नूनं ते राष्ट्रघातिन: ।।
यया शान्त्या पराधीनं राष्ट्रं भवति सा न हि ।
शान्ति: किन्तु नितान्तं सा केवलं क्लीबता मता ।।
--श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 84,85, पृ0 28.

राष्ट्रनायक के गुण -

राष्ट्रनायक की रीति-नीतियों के आधार पर ही राष्ट्रियों का चरित्र-निर्माण होता है । जैसा देश वैसा वेश वाली कहावत के अनुसार नायक के व्यक्तित्व पर ही राष्ट्र का विकास बनता है । राष्ट्र नेता के गुणों का अनुसरण ही जनसमुदाय किया करता है । आचार्य महोदय राष्ट्रनायक में राष्ट्रभाषा से प्रेम, धर्मग्रन्थों का अध्येता, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र की तात्त्विक दृष्टि से सम्पन्न आदि गुणों की आकांक्षा रखते हैं ।[1] इसके अतिरिक्त वे शासक को धर्म तथा अर्थज्ञान में कोविद, राष्ट्रिय, दयालु तथा लोभहीन पुरुष के रूप में स्वीकारते हैं ।[2]

दोष -

यदि राष्ट्रनायक अराष्ट्रियों को बनाये हुए नियमों का सम्मान करता है तो दुर्बुद्धि को धारण करता है । उत्कोच लेने वाला नायक राष्ट्र के साथ द्रोह करता है । इसके अतिरिक्त यदि वह राष्ट्र के द्रव को राष्ट्र के नाशकारी साधनों में लगाता है, तो वह राष्ट्रद्रोही है । महान् अभिमानी तथा राष्ट्र को भोग्य वस्तु मानने वाला शासक निश्चय ही राष्ट्र का सर्वनाश कर देता है । ऐसे व्यक्ति को राष्ट्र-नायक के रूप में कदापि स्वीकार नहीं करना चाहिए ।[3]

---

1. राष्ट्रनेता राष्ट्रभाषां धर्मग्रन्थान् विशेषतः ।
समभ्यस्येदर्थकाममोक्षशास्त्राणि तत्त्वतः ।। --श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 44, पृ० 18

2. राष्ट्रियाः शासकाः स्याप्या धर्मार्थज्ञानकोविदाः ।
दयालवो लोभहीना नूनं राष्ट्रहितैषिभिः ।।--श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 58, पृ० 21.

3. ये मानयन्ति नियमानराष्ट्रियकृतान किल ।
दुर्भगास्ते नाशयन्ति राष्ट्रभाशु कुबुद्धयः ।।
उत्कोचग्राहिणो राष्ट्रद्रोहिणो व्यसने रताः ।
अराष्ट्रियाश्च भवितुं नार्हन्ति किल शासकाः ।।
राष्ट्रद्रव्यं राष्ट्रनाशे नियुंजाना महामदाः ।
अराष्ट्रिया राष्ट्रभुगो राष्ट्रं नार्हन्ति शासितुम् ।।-श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 63, 64, 65, पृ० 22-23.

श्रीराष्ट्रालोक का भावगत महत्त्व -

श्रीराष्ट्रालोक राष्ट्रवादी विचारधारा का मौलिक ग्रन्थ है । इसके महत्त्व को प्रकट करते हुए स्वयं कवि महोदय का कथन है --"इस ग्रन्थ के अध्ययन से सम्पूर्ण मानवों को तथा सम्पूर्ण भूतमात्र को सुखी किया जा सकता है । यह ग्रन्थ संसार के प्रेय: साधन में परमोपयोगी तो है ही, साथ ही परम्परयाश्रेय: साधन में भी परमोपयोगी सिद्ध होगा ।"[1]

इस ग्रन्थ के अध्ययन से निम्नलिखित भावों की उत्पत्ति होती है --

1· राष्ट्रीयता की भावना का जागरण
2· अन्याय के प्रति संघर्ष
3· विश्वबन्धुत्व की जागृति
4· शासन-व्यवस्था के प्रति आस्था·

राष्ट्रीयता की भावना का जागरण -

सम्पूर्ण राष्ट्रालोक राष्ट्रीयता के भावों से ओत-प्रोत है । पुरुषार्थ चतुष्टय का हेतु राष्ट्र है --

चतुर्णां पुरुषार्थनां हेतवे वृषकेतवे ।
पितृपुण्यभुवे तस्मै स्वराष्ट्राय नमोनम: ।।[2]

श्री रमानन्द शास्त्री सारस्वत का कथन है --"मनुष्य की समस्त अनंत आकांक्षाओं, इच्छाओं और लालसाओं का पूर्ण केन्द्रबिन्दु स्वराष्ट्र है । परराष्ट्र भले ही आंशिक उन्नति किसी रूप मे हो जाय पर सर्वात्मना तो स्वराष्ट्र मे ही हो सकती हे ।"[3] इस कथन से राष्ट्रीयता की भावना का जागरण निश्चित रूप से

---

1· श्रीराष्ट्रालोक, अवतरणिका, पृ0 3·

2· वही, श्लोक 1, पृ0 7·

3· श्रीस्वाध्याय पत्रिका, हेमतांक वर्ष 9, सं0 2006, सं0 2 पौष श्री राष्ट्रावलोकनम्, पृ0 8·

होता है । श्री सारस्वत आगे लिखते हैं --"राष्ट्र का आधार राष्ट्रवादियों की राष्ट्रीयता है और उस राष्ट्रियता का ही दूसरा नाम संस्कृति है ।"[1] इस प्रकार यह ग्रन्थ संस्कृति के प्रति भी प्रेम का भाव जागृत करता है ।

अन्याय के प्रति संघर्ष -

प्रत्येक प्राणी में आत्मरक्षा की भावना जागृत रहती है एतदर्थ वह अन्याय के प्रति सर्वदा जागरूक रहता है । यह ग्रन्थ जो राष्ट्रवादी परम्परा का मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करता है अन्याय के प्रति संघर्ष के भाव उत्पन्न करता है । राष्ट्र के प्रति अन्याय करने वाले लोग राष्ट्रघाती होते हैं । अन्याय से भयभीत शान्ति कायरता का ही रूप है अत: सर्वदा अन्याय के प्रति संघर्ष करते रहना चाहिए । कवि की ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं --

अराष्ट्रियकृतां क्रान्तिं सहन्ते ये त्वबुद्धयः ।
शान्तिभंगभिया राष्ट्रे नूनं ते राष्ट्रघातिन: ।।
यया शान्त्या पराधीनं राष्ट्रं भवति सा न हि ।
शान्ति: किन्तु नितान्तं सा केवलं क्लीवता मता ।।[2]

विश्वबन्धुत्व की जागृति -

राष्ट्रालोक के अध्ययन से विश्वबन्धुत्व का भाव जाग्रत होता है । आर्य लोग सदैव सभी का सभी प्रकार से कल्याण चाहते हैं । वे निर्लोभ तथा समदर्शी होते हैं और निग्रह तथा अनुग्रह से संसार की सम्यक उन्नति करते हैं । आचार्य महोदय का कथन है --

निग्रहा नुग्रहाभ्यां ये निर्लोभा: समदर्शिन: ।
समुन्नयन्ति संसारं त एवार्या: स्मृता बुधै: ।।[3]

1· श्रीस्वाध्याय पत्रिका, ग्रीष्मांक, वर्ष 9, सं02007, सं04, आषाढ, पृ066·
2· श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 84-85, पृ0 28·
3· वही, श्लोक 87, पृ0 28·

शासन व्यवस्था के प्रति आस्था -

राष्ट्रालोक राष्ट्रवादी शासन-व्यवस्था के प्रति आस्था के भाव जाग्रत करता है। कुशासन की निन्दा और सुशासन की प्रशंसा से कुत्सित शासन के प्रति घृणा तथा श्रेष्ठ शासन के प्रति श्रद्धा के भाव स्वत: ही उत्पन्न होने लगते हैं। आचार्य के मतानुसार श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था वह है जिसमें सभी को उचित शिक्षा तथा वृत्ति पाने का पूरा-पूरा अधिकार है।

वे लिखते हैं --

राष्ट्रभाषाधर्म्यभाषापुस्तकालय योजना।
ग्रामे ग्रामे विधातव्या राष्ट्रियै राष्ट्रवर्धकै:।[1]
वृत्तियुक्ता विधातव्या राष्ट्रिया राष्ट्रनेतृभि:।
राष्ट्रियाणां समस्तानां राष्ट्रे स्वत्वेन जन्मत:।।[2]

आचार्य महोदय की मान्यता है कि सुशासन व्यवस्था में सभी अपाहिजों को भोजन, वस्त्र व रहने की व्यवस्था होनी चाहिए।

पंगवन्धबधिरा शक्तारोगिणो राष्ट्रियास्तु ये।
तेभ्यो पि वृत्तिर्दातव्या राष्ट्रे तेषां निजत्वत:।।[3]

इस प्रकार श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था अपने सभी राष्ट्रियों का भली प्रकार कल्याण करने के लिए प्रयत्नशील रहती है।

---

1. श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 37, पृ० 16.
2. वही, श्लोक 50, पृ० 19.
3. वही, श्लोक 51, पृ० 19.

## श्रीक्रान्तिकौमुदी रचना की समालोचना

### क्रान्तिकौमुदी रचना का स्रोत -

क्रान्तिकौमुदी रचना का स्रोत आचार्यपाद की प्रसिद्ध दार्शनिक रचना "श्रीआत्मविलास:" तथा "श्रीराष्ट्रालोक:" है। "श्रीआत्मविलास" के "स्वातन्त्र्य-निरूपणम्" नामक तृतीय प्रकरण में लिखा है --

सुखातिवांछा हृदये वर्त्तते यदि यत्यताम् ।
पूर्णस्वतन्त्रताप्राप्त्यै सैव पूर्णसुखप्रदा ।।[1]

अर्थात् यदि आपके हृदय में सुख-प्राप्ति की उत्कृष्ट इच्छा है तो पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए। क्योंकि पूर्ण स्वतंत्रता ही पूर्ण सुख देने वाली है।

स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु संघर्ष करना पड़ता है। आत्मिक स्वातन्त्र्य के लिए कल्मषों के साथ और बाह्य स्वातन्त्र्य के लिए अनार्यों के साथ संघर्ष करने से ही सफलता प्राप्त होती है। यह संघर्ष स्वाभाविक होता है। यहां कोई बाह्यशक्ति प्रेरक नहीं बनती, अपितु स्वयं की अपने विषय में एक अनुभूति होती है जिससे वह "मैं क्या हूं ?" उसे जानने की, बलवती इच्छा से प्रेरित हो उठता है। यह आत्मिक अनुसन्धान है। परतन्त्रता के अनुसंधान से परतन्त्रता की प्राप्ति होती है और स्वतंत्रता के अनुसंधान से परतंत्रता नष्ट हो जाती है। यही क्रान्ति का उद्देश्य कहलाता है। आचार्यप्रवर लिखते हैं -

पारतन्त्र्यानुसंधानात् सम्प्राप्तं पारतन्त्र्यकम् ।
स्वतन्त्रतानुसंधानं विनाशयति तत्क्षणात् ।।[2]

स्वतंत्रता प्राप्ति की बलवती इच्छा और संसार-सागर से उत्तीर्ण हो जाने की भावना ही दुष्ट भावनाओं को नष्ट करने के लिए सद्प्रेरणाएं उत्पन्न करती है

---

1. श्रीआत्मविलास:, तृतीय प्रकरणम्, स्वातन्त्र्यनिरूपणम्, श्लोक 7, पृ0 47.
2. वही, तृतीय प्रकरणम्, स्वातन्त्र्य निरूपणम्, श्लोक 20, पृ0 64.

जिसे आर्याक्रान्ति देवी भैरवी अपनी विलासलीलाओं से प्रारंभ कर देती हैं । इन लीलाओं के फलस्वरूप समस्त विश्व में शांति स्थापित हो जाती है । समस्त जीव अधूरेपन का अनुभव त्याग कर वस्तुत: पूर्ण भाव का अनुभव करने लगते हैं । स्वात्म-विज्ञान ही स्वतंत्रता है । यह स्वतंत्रता क्रान्ति से ही संभव है । इस प्रकार प्राणी परतन्त्रता की सीमा से निकल कर स्वतंत्रता के सार्वभौम राज्य में परमसुख का अनुभव करता है ।

श्रीराष्ट्रालोक में भी क्रान्ति के विषय में आचार्यश्री ने अपने विचार व्यक्त किए हैं । आर्या छन्द में सामासिक शैली का आश्रय लेकर कहे गये वचनों को ही विस्तार रूप से क्रान्तिकौमुदी में प्रतिपादित किया गया है । क्रान्ति को शान्तिदायिनी और अशान्तिदायिनी दो रूपों में विभाजित कर शान्तिदायिनी को श्रेष्ठ बतलाया गया है । शान्तिदायिनी क्रान्ति आततायियों को दण्ड देकर दोनों लोकों में कल्याण प्राप्त कराती है, जबकि अशान्तिदायिनी लोक तथा परलोक का नाश करने वाली होती है ।[1]

"सर्वभूतहितेरता:" की भावना से प्रेरित होकर प्राणी शान्तिदायिनी क्रान्ति को अपना आश्रय बनाता है । इसके अनाश्रय भाव से वह न तो स्वयं सुखी बन पाता है और न लोक कल्याण ही कर सकता है । लोककल्याण की इस सद्‌ प्रवृत्ति ने ही कवि हृदय में क्रान्तिकौमुदी के भाव जाग्रत किये हैं ।

---

1. क्रान्तिरुक्ता द्विप्रकारा प्रथमा शान्तिदायिनी ।
अशान्तिकारिणी चान्या पूर्वाश्रेष्ठा परा न हि ।।
या क्रान्ति: क्रियते लोके दण्डनायाततायिनाम् ।
सा शान्तिदायिनी श्रेष्ठालोकद्वयशुभावहा ।।
राष्ट्रान्तरेषु क्रियते दुष्टै: क्रान्तिरराष्ट्रियै: ।
अशान्तिकारिणी दुष्टा सा लोकद्वयनाशिनी ।।
--श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 89-91, पृ0 29.

रचना का प्रयोजन -

"पूर्वा परत्यागग्रहौक्रान्ति:" । क्रान्तिकौमुदी की रचना का प्रयोजन प्रस्तुत करते हुए आचार्यपाद ने उसके मंगलाचरण में लिखा है --

शिष्टानुग्रहदुष्टनिग्रहमिषात्कल्याणमातन्वती-
विश्वस्य क्रमविक्रमा क्रममयी धर्मस्वरूपा शिवा ।
आनन्दामृतवर्षिणी शिवमहासत्ता चिदम्भोनिधि-
र्देवी क्रान्तिरुदारधीर्विजयतामार्या परा भैरवी ।।

प्राचीनकाल से ही सत् तथा असत् भावों का विकास विश्व में होता रहा है । अपनी-अपनी सत्ता के निर्धारण में इन दोनों का होना परमावश्यक है । सत् के बिना असत् का और असत् के बिना सत् का अस्तित्व निर्धारित करना असम्भव है । सत्वगुण की प्रधानता के कारण सत् भावनाएं शनैः शनैः विकसित होती हैं । किन्तु तमोगुण की प्रधानता के कारण असत् भावनाएं शीघ्रता से विकसित होती हैं जिसके कारण दुष्टों का प्रभाव समय-समय पर विश्व में बढ़ जाया करता है । क्रान्तिदेवी ऐसे समय में दुष्टों के नियमन के व्याज से तथा सज्जनों का कल्याण करने की भावना से परशिवरूपा भैरवी के रूप में इस पृथ्वी पर अवतरित होती है । वह संसार के क्रम विक्रम और और अक्रम को धारण करने वाली, धर्मस्वरूपिणी, कल्याणमयी, आनन्दसुधावर्षिणी शिवमहासत्ता चैतन्यसमुद्र उदार बुद्धिवाली आर्या के रूप में विचरण कर विश्वशान्ति स्थापित करती है ।

आचार्यपाद की विश्वकल्याणमयी चिन्तनाशक्ति में दुष्ट शासन व्यवस्था के प्रति गहन पीड़ा व्याप्त थी । उस समय देश परतन्त्र था । "सर्वं परवशं दु:खम्" के भाव ने पारतन्त्र्य को परम दु:ख का कारण माना । इससे मुक्ति के लिए "क्रान्ति" की महती आवश्यकता की अनुभूति उन्हें हुई और इसी उद्देश्य

से उन्होंने पारतन्त्र्य से मुक्ति पाने हेतु "क्रान्तिकौमुदी" की रचना । स्वातन्त्र्य ही परम सुख है । मोक्ष है । अतः प्रत्येक प्राणीका स्वतंत्र रहना ही परमसुख प्राप्ति है । क्रान्ति के बिना न तो स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है और उसकी रक्षा ही हो सकती है । अतः पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्ति व उसकी रक्षा के उपाय बतलाना ही इस रचना का मुख्य प्रयोजन है ।

विषय-वस्तु की समालोचना -

क्रान्तिकौमुदी में क्रान्ति का स्वरूप, उद्भव कारण, प्रयोजन, भेद, राष्ट्रदृष्टि और राष्ट्रियशासन व्यवस्था के विषय में संक्षिप्त एवं सारगर्भित विवेचन किया गया है ।

1) क्रान्ति का स्वरूप -

इस रचना में क्रान्ति के स्वरूप को विविध प्रकार से वर्णित किया है । जो इस प्रकार है -

क) पूर्वा परस्यत्यागग्रह की क्रान्ति है -

पूर्व का त्याग और अपर का ग्रहण ही क्रान्ति कहलाता है । एक दूसरे पर अवलम्बित और परस्पर विरोधमान अवभासित वस्तुतः त्याग और ग्रह ये दोनों समानरूप से अन्यतर उपादान से भी निर्वाह्य होकर भी समान ही हैं ।

ख) परिचाल ही क्रान्ति है -

परम्परागत दोषपूर्ण व्यवस्था को छोड़ना तथा नवीन व्यवस्था को ग्रहण करना परिचाल या परिव्रात से ही संभव है । इस प्रकार की गति ही क्रान्ति कहलाती है ।

ग) अकल्याणकर्ता भावों पर विजयप्रदात्री ही क्रान्ति है -

देव-अदेवों को अनुग्रह-निग्रह के द्वारा कल्याण के लिए अनन्त रूपों से आविर्भूत एवं तिरोभूत होती हुई विजय को प्राप्त कराने वाली क्रान्ति ही है । ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न समदृष्टि वाले तत्त्वदर्शी इसको निपुण के रूप में निरूपित

करते हैं । क्रम-अक्रम और विक्रम से चमकती हुई यह श्रेष्ठा अपने उपासक के सर्वथा कल्याण करने वाली है ।

2) क्रान्ति का उद्भव कारण -

क्रान्ति परशिव रूप में असकृत के लिए होती है । वह सनातनी है यह चिरसिद्धांत है । क्रान्ति निश्चय ही समस्त संसार को सुललित स्वरूप है । वह संसार का प्रतिपत्ति मूल है । रहस्यविद्‌ कहते हैं कि चिदानन्द - इच्छा - ज्ञान - क्रिया - स्वभाव आत्मविलासरूपिणी क्रान्ति निश्चय ही स्वभावभूत होने से नानाभावों में उद्भासित होकर दीप्ति वाली होती है । भावा भाव उल्लसित होकर विन्दुभाव से अपने ही घर में उत्पन्न होता है तथा भावबोध से आर्याक्रान्ति के रूप मे सर्वत्र छा जाता है ।

क्रान्ति सर्वत्र प्रलय करती है । उस नश्यमान अवस्था में सापेक्ष के उत्पन्न भाव होने पर वह अपने आनन्द के लिए स्व का अवच्छेद करती है, इससे किसी की हानि नहीं होती । इसके पश्चात अपनी ही कल्पना से उत्पाद-विनाश स्व-विलास से अवगाहन करके आर्य कल्याण हेतु अनुग्रह रूप में तथा अनार्य अवरुद्ध हेतु निग्रह रूप में दोनों को समरस की अधिष्ठान भूमि पर स्थापित करती है । इस स्थापना के लिए क्रान्ति का उद्भव स्वाभाविक होता है ।

3) क्रान्ति का प्रयोजन -

सभी प्रकार की क्रान्ति का मूल उद्देश्य स्वपूर्णानन्द का उपभोग है । पूर्णानन्द के अनन्तर पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्ति कभी नहीं मानी जाती । पूर्णानन्द पूर्ण शान्ति है इस प्रकार ये दोनों अन्तर्भाव से पर्याय हैं । पूर्ण स्वातन्त्र्य क्रान्ति के बिना उपभोग करने में समर्थ नहीं है । आध्यात्मिक दृष्टि से भी स्वपूर्णानन्द उपभोग ही परिपूर्ण है । वह स्वात्मा में अवस्थित है । वह परब्रह्मभाव है । इस प्रकार दार्शनिकों के द्वारा भी क्रान्तितत्त्व का वर्णन किया गया है । अतः क्रान्ति ही परमपुरुषार्थ दात्री है ।

इसका लौकिक उद्देश्य है -- अनार्य का निग्रहण और आर्यों का अनुग्रहण। ये दोनों भी पूर्णानन्द के उपभोग के लिए ही होते हैं। सभी का कल्याण चाहने वाले नीतिप्रधान आर्य लोग सभी को अनुग्रहण करके क्रान्ति की उपासना करते हैं।

4) क्रान्ति के भेद -

उत्पाद-विनाश स्वविलास हेतु क्रान्ति दो प्रकार से अवगाहन करती है। एक तो सभी के कल्याणार्थ और दूसरी एक के कल्याण हेतु। सभी का कल्याण करने वाली क्रान्ति आर्या होती है, उसके उपासक आर्य कहलाते हैं। एक का कल्याण करने वाली क्रान्ति अनार्या होती है, उसके उपासक अनार्य होते हैं। आर्या क्रान्ति सत् उद्देश्यों से असद् रूप को उत्पन्न करती है और अनार्या असत् उद्देश्यों से असद् रूप को। आर्या क्रान्ति विश्वजनीन हित के लिए है अतः वह उपास्य है और अनार्या क सर्वदा अहित के लिए होने के कारण हेय है, वर्जित है। विश्वकल्याण के इच्छुक मनीषी को दोनों का ज्ञान आवश्यक है। स्वातन्त्र्य विकास की तारतम्यता के अवस्थित होने पर, जड़ाजड़ के मण्डल से मण्डित होने पर भी विश्व के लिए विश्वचक्र में आत्मदर्शन के द्वारा सभी के कल्याण हेतु निर्धारित क्रम - अक्रम - विक्रम से त्रिमूर्ति स्वरूपा महाशक्ति क्रान्ति देवी सभी प्रकार के दरिद्रों को दूर कर देती है। अनन्त रूपा भी यह स्थूल और सूक्ष्म दृष्टि से वर्णित की गई समदर्शिनी समरूपों में अनुग्रहण करती है। उस समय यह क्रमा अभिमानिनी ब्राह्मणी सार्गिका होती है, अक्रमा अभिमानिनी यह वैष्णवी पालिका होती है और विक्रम अभिमानिनी यह रौद्री संहारिका होती है। यही राष्ट्र सरस्वती, राष्ट्र लक्ष्मी और राष्ट्र काली रूप में होती है। तीनों प्रकार की यह निग्रह - अनुग्रह बन्धनी होकर ईश्वरी नाम से जानी जाती है। अनुग्रह प्रधाना यह मोक्षदायिनी सदाशिवा के नाम से जानी जाती है। भोगदा यह ईश्वरी पारतन्त्र्य प्रदान कर अनार्यों द्वारा उपासनीय होकर अनार्या होती है। मोक्षदा यह सदाशिवा स्वातन्त्र्य प्रदान करने से आर्या उपासनीय होकर आर्या कहलाती है।

5) राष्ट्र दृष्टि -

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं एक राष्ट्रदृष्टि वाले और दूसरे राज्यदृष्टि वाले। वे विविध होते हुए भी दो प्रकार के हैं --(1) आर्य और (2) अनार्य। सभी प्रकार सभी के साथ भद्रता का अवलम्बन करने वाले आर्य और एक ओर से ही भद्रता करने पर अवलम्बित अनार्य कहलाते हैं। अपने राष्ट्र की स्वतंत्रता से ही अपने राष्ट्रियों का संचालन करना, परराष्ट्र को मित्ररूप में ही स्वीकार करना इस प्रकार की मर्यादा की स्थापना आर्य राष्ट्र दृष्टियां करती हैं। ये दृष्टियां सभी राष्ट्रों की स्वतंत्रता को बरतते हुए तथा परराष्ट्रों को किसी भी प्रकार की पीड़ा न देने की उद्घोषणा करती हैं। उनके अनुसार राष्ट्र संचालक लोग अपने राष्ट्र पर सभी प्रकार से कल्याणकारी शासन करें केवल एक के कल्याण की भावना से नहीं। राष्ट्र का राष्ट्रिय परिषद द्वारा संचालन कराया जावे। अनार्य राष्ट्र दृष्टि के अनुसार अन्य सभी राष्ट्र येन-केन-उपायेन भोगने योग्य होते हैं। उनके अनुसार परराष्ट्र कभी भी सब प्रकार के कल्याण करने वाले शासन के योग्य होते ही नहीं। अपने राष्ट्र भी सब प्रकार के कल्याण करने हेतु शासित नहीं होने चाहिए।

ये आर्या तथा अनार्या राष्ट्रदृष्टियां उत्तम-अधम और मध्यम भेद से तीन प्रकार की होकर कुल छ: प्रकार की हुई। इसी प्रकार की दृष्टि राज्यदृष्टि की भी होती है। राज्यदृष्टि में राजा की नीति आर्या और अनार्या रूप से कार्य करती है।

6) राष्ट्रिय-शासन व्यवस्था -

शिथिल आर्य शासन ही अनार्य शासन बन जाता है तथा शिथिल अनार्य शासन आर्य शासन को लाता है। एक के कल्याण के लिए शासन तथा राजपरतंत्र या राष्ट्रपरतन्त्र के लिए शासन ये दोनों ही अनार्य शासन है। सभी के कल्याण

के लिए किया जाने वाला शासन तथा राजस्वातन्त्र्य का राष्ट्र स्वातन्त्र्य के लिए किया जाने वाला शासन दोनों ही आर्या शासन है । आर्य अनुग्रह करते हैं । सभी की कल्याणनीति अनुग्रह है । अनार्य निग्रह करते हैं । एक की कल्याणनीति निग्रह है । अतः आर्य लोग भगवती क्रान्ति की अनुग्रह रूप में उपासना करते हैं तथा अनार्य लोग निग्रह के रूप में ।

## क्रान्ति-कौमुदी का भावगत महत्त्व -

क्रान्तिकौमुदी राष्ट्रियों में अन्याय के प्रति संघर्ष की भावना को जाग्रत करती है । क्रान्ति एक स्वाभाविक प्रक्रिया है । अनादिकाल से देव-अदेवों के अनुग्रह-निग्रह के लिए चली आ रही सनातन परम्परा है । अतः क्रान्ति को विध्वंसकारी रूप में ग्रहण करने मात्र से उसकी अनार्या उपासना है । विश्वशान्ति की स्थापना तथा अराष्ट्रियजनों के दमन हेतु क्रान्ति की महती आवश्यकता है । परशिवारूपिणी यह भैरवी विश्वकल्याण में परम सहायिका है ।

क्रान्ति का आध्यात्मिक महत्त्व भी है । "आत्मपुरुष" सर्वभूतहितेरताः होता है । वह उदारचेता होता है । और "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" हुआ करती है । राष्ट्र भी एक पुरुष है जिसकी दृष्टि सर्वकल्याण के लिए होती है । महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली के रूप में व्याप्त ज्ञान, धन और शक्ति ये राष्ट्र की तीन शक्तियां हैं इन तीनों का साम्य होने से राष्ट्र समृद्ध हो सकता है । ये तीनों को क्रान्ति के त्रिविध रूप कहते हैं ।

अतः क्रान्ति विश्वजनीन कल्याण के लिए अत्यंत आवश्यक एवं अपरिहार्य है ।

श्रीसंक्रान्तिपंचदशी की समालोचना -

संक्रान्तिपंचदशी का स्रोत -

"क्रान्तिकौमुदी" तथा श्रीराष्ट्रालोक: संजीवनी भाष्य में आचार्य महाभाग ने क्रान्ति के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की । राष्ट्रालोक में क्रान्ति के दो भेद कहे गये हैं --

क्रान्तिरुक्ता द्विप्रकारा प्रथमाशान्तिदायिनी ।
अशान्तिकारिणी चान्या पूर्वा श्रेष्ठा परा न हि ।।[1]

अर्थात् क्रान्ति दो प्रकार की है उनमें पहली शांति देने वाली है और दूसरी अशांति करने वाली । इनमें पहली श्रेष्ठ है और दूसरी दुष्ट ।

आचार्यपाद ने श्रेष्ठ क्रान्ति के विषय में लिखा है --

या क्रान्ति:क्रियते लोके दण्डनाया त तायिनाम् ।
सा शान्तिदायिनी श्रेष्ठा लोकद्वयशुभावहा ।।[2]

अर्थात् जो क्रान्ति आततायियों को दण्ड देने के लिए की जाती है ऐसी लोक व परलोक दोनों का कल्याण करने वाली क्रान्ति श्रेष्ठ क्रान्ति कहलाती है ।

दुष्ट क्रान्ति की भावना को प्रस्तुत करते हुए लिखा गया है --

राष्ट्रान्तरेषु क्रियते दुष्टै: क्रान्तिरराष्ट्रियै: ।
अशान्तिकारिणी दुष्टा सा लोकद्वयनाशिनी ।।[3]

अर्थात् दुष्ट अराष्ट्रियों के द्वारा राष्ट्रान्तरों में जो क्रान्ति की जाती है ऐसी दोनों लोकों में अशान्ति फैलाने वाली क्रान्ति दुष्ट क्रान्ति है ।

---

1. श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 89, पृ० 29.

2. वही, श्लोक 90, पृ० 29.

3. वही, श्लोक 91, पृ० 29.

क्रान्ति के श्रेष्ठ स्वरूप की स्थापना में ही कवि महोदय की भावना संक्रान्ति की व्याख्या करने के लिए उद्भूत हुई । मूल रहस्यात्मक स्थिति में साधक की मनोदशा का वर्णन ही संक्रान्ति के रूप में वर्णित है । साधक की शिव संकल्पशक्ति संक्रान्ति है और अशिव भावना क्रान्ति ।

दूसरे शब्दों में जो श्रेय है वह संक्रान्ति रूप है और इससे इतर क्रान्ति रूप । संक्रान्ति वेला वह समय है जिसमें दो स्थितियां एक शुभ संकल्प के साथ नियमन होकर मानसिक भावनाओं को परिपुष्ट करती हैं । यह स्थिति परम-शिवात्मा का विलासरूप होती है, जिसमें साधक शुभ संकल्पों को संजोकर कल्याण के भाव में स्थित स्वरूप बनता है । यहां संकल्प-विकल्प का भाव नहीं होता । एकरूपता का दृढ़भाव ही विद्यमान रहता है । लोकहित की साधना में चिंतनशील साधक का यह व्यावहारिक फलागम है जिसमें लोककल्याण की भावना जाग्रत होकर सम्पूर्ण लोक को आनन्दमय बनाकर प्रेम और सौहार्द्र के स्रोत की अविरल धारा प्रवाहित करती है । इसी धाराप्रवाह से कवि सिकता प्रदेश मे संक्रान्ति के बीज पुष्पित-पल्लवित होकर जनसाधारण या राष्ट्रिय को संजीवनी प्रदान करते हैं । यही वह परम अमृतमय निर्माणस्रोत है जिससे इस लोककल्याण की भावना से सम्पन्न रचना का प्रवाह प्रवाहित हुआ है । इस प्रवाह में हिलोरे ले रहा है मानसिक-स्पन्दन जो कि श्रेष्ठता के भाव-कणों को सर्वत्र बिखेर कर मानव मात्र म अविरल आनन्द की अनुभूति कराता रहता है । यही आनन्दित अनुभूति का प्रवाह स्रोत संक्रान्ति पंचदशी के रचयिता का मौलिक स्रोत है जिसके आधार पर मूल इस रचना का निर्माण किया गया है ।

रचना का प्रयोजन -

श्रीसंक्रान्तिपंचदशी श्रीमद्अमृतवाग्भवाचार्य की अत्यंत लघु रचना है । इसमें मात्र 15 छन्द हैं जिनमें राष्ट्रवादिता की भक्तिभावना ओत-प्रोत है । वस्तुत: इस लघु रचना के लिए "गागर में सागर" की कहावत चरितार्थ होती

है । राष्ट्रीयता से युक्त भावलोक में विचरण करने वाले मनुष्य के लिए इस रचना का प्रत्येक श्लोक एक ऋचा है जिसमें भावों व भावनाओं को देशभक्ति की सरस धारा में स्नान कराकर स्वयं का व विश्व का कल्याण किया जा सकता है । इसकी प्रस्तावना में स्वयं आचार्यप्रवर ने लिखा है। --

---

1. "कारण गुणा: कार्यगुणानारभन्ते" इति स्थित्या क्रान्तिमूलंसर्वमपि क्रान्ति प्रियासित्या च परमाणोरा च परममहत: सर्वभ्क्रान्तिविजृम्भते । तत्र स्वातन्त्र्यविकासतारतम्यमवलभ्व्य कल्पित जडाजड विभाग विभाजिते पदार्थ सार्थमात्रे क्रान्तिकर्तृत्वं, क्रान्तिकरणत्वं क्रान्तिकार्यत्वं च व्यवस्था विषयमवगाहते । करणपदे, कार्यपदे चा वस्ढं वस्तु परतन्त्रमिति क्रान्तिकर्भुपदेशा नहमेव । स्वतन्त्रस्येव कर्तृपदलाभसंभवात । स्वतंत्रता एव चा त्र क्रान्ति कर्तृपदेशविषये विनयग्राहिण: । आर्या नुग्रहणा न्तर्य निग्रहेन विश्वस्मिन्नपि विश्वमण्डले मंगलनिवृत्तिपूर्वकं मंगलस्थापनाये समुपास्यतया यां क्रान्ति समुपदिशन्ति ~~तत्रैव~~× तामेव संक्रान्तिरिति राष्ट्रवादिनो विनयाचार्यवार्था: संस्तुनन्ति । संस्तव एव चा यं तस्य तस्य सर्वस्या पि विधिकोटि प्रवेशपदं लभ्भयते संस्तुतं तं तमर्थम् । "य: स्तूयते स विधीयते " इति हि कर्ममीमांसा कुशला नां पण्डितानां सिद्धान्तम् । ततश्च संक्रान्ति समुपासना हि नाम प्रशस्ततमं कर्मेति प्रियस्वतन्त्र्याणामार्याणां स्वभाव सहजं कर्मेति निष्पद्यते ।"

-- श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, पृ० 6 व 7.

"कारण के गुणों से कार्य के गुणों का प्रारंभ होता है, इस नियम से यह सम्पूर्ण विश्व, जिसका मूल क्रान्ति है, क्रान्ति हैं, क्रान्तिप्रिय है। अत: परमाणु से लेकर परम महत् तक सर्वत्र क्रान्ति का ही साम्राज्य है। स्वातन्त्र्य विकास अवलम्बन कर जड़ चेतनरूप कृत्रिम विभाग में विभक्त, सम्पूर्ण पदार्थों में क्रान्ति, कर्त्ता के रूप में करण {साधन} के रूप में तथा कार्य के रूप में व्यवस्था का विषय है। करणरूप में और कार्य रूप में स्थित वस्तु दूसरे के अधीन होती है अत: उस रूप में उनको क्रान्ति का उपदेश करना व्यर्थ है। अत: कर्तृशब्द का व्यवहार उसी के लिए होता है जो क्रिया के करने में पुरुष स्वतंत्र होता है। क्रान्तिकारी के योग्य उपदेश अधिकारी स्वतंत्र पुरुष के लिए ही हो सकते हैं। यत: क्रान्तिविषयक नीति को ग्रहण करने की क्षमता उन्हीं में होती है। राष्ट्र-वादी प्रवीण नीतिज्ञों का कथन है कि आर्यों पर कृपा और अनार्यों का दमन करने के कारण सम्पूर्ण संसार में अमंगल को निवृत्ति के साथ-साथ मंगल की स्थापना के लिए जिस क्रान्ति की उपासना विहित है वह क्रान्ति ही संक्रान्ति है।

अतएव राष्ट्रनीति के आचार्य उस संक्रान्ति की भली प्रकार स्तुति करते हैं। जिस पदार्थ की अच्छी स्तुति {प्रशंसा} अथवा अच्छा परिचय कराया जाता है उस पदार्थ की वह प्रशंसा ही उस पदार्थ को स्वीकार करने में प्रेरणा करती है अर्थात् संक्रान्ति जैसा सर्वत: प्रशस्त कर्म स्वातन्त्र्यप्रिय आर्यों का स्वाभाविक पवित्रतम कर्त्तव्य हो जाता है। कर्ममीमांसा के कुशल पण्डितों का सर्वश्रेष्ठ यही सिद्धांत है कि "जिसकी प्रशंसा हो वह विधेय है।"

अपने इस कथन में आचार्य महाभाग ने क्रान्ति के शिवरूप को संक्रान्ति माना है। सृष्टि रचना के व्यवहार पक्ष में महात्रिपुरसुन्दरी की कामकला ही क्रान्ति है। इस मान्यता के अनुसार महामहेश्वर परशिव हीआत्मानन्द के लिए ही भर्गोरूपिणी आत्मकला से दमन और दया के तारतम्य की कल्पना करके आत्मरूप नाट्यशाला में आर्य अनार्य रूपों की रचना कर इस संसार की संचालना करते हैं। आचार्य महोदय ने अपनी "क्रान्तिकौमुदी" रचना के मंगल श्लोक

में क्रान्ति के इसी दया और दमन के भाव को इस प्रकार प्रस्तुत किया है --

शिष्टा नुग्रहदुष्टनिग्रहमिषात्कल्याणमातन्वती ।
विश्वस्य क्रमविक्रमा क्रममयी धर्मस्वरूपा शिवा ।।
आनन्दा मृतवर्षिणी शिवमहासत्ता चिदम्भोनिधि-
र्देवी क्रान्तिरुदारधीर्विजयतामार्या परा भैरवी ।।[1]

अर्थात् सज्जनों पर कृपा और दुष्टों के नियमन के व्याज से संसार का कल्याण करती हुई, संसार के क्रम, विक्रम और अक्रम को धारण करने वाली, धर्मस्वरूपिणी, कल्याणमयी, आनन्दसुधावर्षिणी, शिवमहासत्ता चैतन्यसमुद्र उदारबुद्धि वाली आर्या पराभैरवी क्रान्ति देवी की जय हो ।

इस मंगलाचरण में "सज्जन" शब्द आर्य का वाचक और दुष्ट शब्द अनार्य का वाचक है । आर्य की परिभाषा देते हुए आचार्य महाभाग ने श्रीराष्ट्रालोक में लिखा है --

निग्रहा नुग्रहाभ्यां ये निर्लोभा: समदर्शिन: ।
समुन्नयन्ति संसारं त एवार्या: स्मृता: बुधै: ।।[2]

अर्थात् जो निर्लोभ तथा समदर्शी पुरुष निग्रह और अनुग्रह से संसार की सम्यक् उन्नति करते हैं बुद्धिमान लोग उन्हीं को आर्य कहते हैं ।

इसी प्रकार अनार्यों के दुष्ट कर्मों को प्रकट करते हुए अनार्य लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया है --

श्ववृत्त्या जीवनं राष्ट्रद्रो राष्ट्रियनेतृता ।
आर्यैरेतत्त्रयं त्याज्यमनार्यैरेव सेव्यते ।।[3]

---

1. क्रान्तिकौमुदी, मंगलाचरणम्.

2. श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 87, पृ0 28.

3. वही, श्लोक 88, पृ0 29.

अर्थात् श्ववृत्ति से जीवन, राष्ट्र का द्रोह, राष्ट्रियों के नेतृत्व स्वीकार न करना -- ये तीन बातें ही अनार्य के लक्षणों को प्रकट करती हैं ।

दुष्टों {अनार्यों} की इस दुष्ट प्रवृत्ति को सद्प्रवृत्ति में बदलने की नियमन शक्ति का ही नाम संक्रान्ति है ।

विषय-वस्तु की समालोचना -

संक्रान्ति शब्द सम् + क्रान्ति से बना है । किसी परिवर्तन की अभिलाषा से हलचल का प्रादुर्भाव क्रान्ति कहलाता है । इसके साथ सम् का संयोग हो जाने से इसका अर्थ हुआ "आर्यानुमोदित वैध क्रान्ति" । स्पन्दनशीलता ही जीवन कहलाती है । स्पन्दनहीन जीवन असम्भव है । यदि स्पन्दन सम्यक् या आर्यानु-मोदित न हो तो व्यक्ति सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त ही नहीं हो सकेगा । क्रान्ति वीभत्स करुणामीय चित्कारों में राष्ट्रहित संक्रान्ति के द्वारा ही साध्य हो सकता है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - इन पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति संक्रान्ति के द्वारा ही संभव है । दार्शनिक दृष्टि से समस्त भुवनों का मूलाधार संक्रान्ति ही है । आचार्य महाभाग ने समस्त प्राणिमात्र के जीवन का अस्तित्व स्वीकारते हुए तथा उसके कल्याण की भावना को ध्यान में रखते हुए आलोच्य रचना में निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर संक्रान्ति देवी की आराधना की है -

1. संक्रान्ति सर्वभूतहितकारिणी कामधेनु -

संक्रान्ति समस्त प्राणियों का हित करने वाली तथा विश्व का कल्याण करने के लिए कामधेनु के समान है । समस्त राष्ट्रियों के पुरुषार्थ मूल तथा हित-चिन्तन में ही संक्रान्ति का उदय होता है । उसी के द्वारा समस्त विश्व

में शान्ति की संभावनाएं हैं ।[1] यज्ञरूप में प्रकट होने वाली संक्रान्ति विश्वहित के लिए कामधेनु के सदृश्य है । वह अपने वात्सल्य भाव से सुर, नर तथा अन्य प्राणियों का सर्वथा कल्याण करती है । अत: कवि ने उसे सदा वृणुध्वम् कहकर उसको हृदय में धारण करने का उपदेश दिया है ।[2]

2. संक्रान्ति मालिन्य से परे परशिवरूपिणी -

भारतवर्ष में उत्पन्न आर्य लोगों को संसार ने जगद्गुरु माना है । जैसाकि मनुस्मृति में भी कहा गया है --

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन: ।
स्वयं स्वयं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्या: सर्वमानवा: ।।[3]

मनु महाराज के इस कथन में आर्यों को जन्म, संस्कार और विद्या में श्रेष्ठ माना गया है । यही कारण है कि उन्हें चरित्रों {शुद्ध व्यवहार} की शिक्षा देने वाला जगद् गुरु कहा गया है । यह संक्रान्ति अतिगूढरूप से सदैव उन्हीं

---

1. राष्ट्रामखिलपुमर्थहेतुभूता,
जन्तूनां पुरुहित कारिणीमचिन्त्याम् ।
विद्वांसो । निखिलजगत्सुशान्तिधानीं,
संक्रान्ति भजत निरन्तरं भवानीम् ।। --- श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 1, पृ0 1.

2. सर्गादौ प्रकटितनैजयज्ञरूपां,
कल्याणीं भुवनहिताय कामधेनुम् ।
वात्सल्याद सुरनरतिर्यगात्मभूतां
संक्रान्ति हृदि सुजना: । सदा वृणुध्वम्" - वही, श्लोक 3, पृ0 13.

3. मनुस्मृति, अध्याय , पृ0

विश्ववन्द्य आर्यों की हृदयगुहा में छुपी रहती है । इसका निवास परम पावन-स्थल होने के कारण मालिन्य से परे माना है । फलतः वह परशिवरूपिणी है । आचार्य महोदय लिखते हैं --

आर्याणां सकलजगत्पुरोहितानां
विप्राणां हृदयगुहासु गूढगूढाम् ।
स्वच्छन्दां परशिवरूपिणी पुमांसः
संक्रान्तिं भजत निरन्तरं नवेन ।।[1]

3. पारतन्त्र्य को समूल नष्ट कर स्वातन्त्र्य की जन्मदात्री -

संक्रान्ति पारतन्त्र्य को समूल नष्ट कर देती है । पारतन्त्र्य महापातक है । इसी से समस्त महापाप उत्पन्न होते हैं । भगवती भागीरथ के समान यह संक्रान्ति त्रिविध तापपाप संहारिणी है और मनुष्य को स्वातन्त्र्य की ओर उन्मुख कराती है ।[2] पूर्ण स्वतंत्र विचारवान् व्यक्ति के अधिकार में ही बुद्धि, लक्ष्मी और स्त्री रहा करती है । इन तीनों की धारणा में ममत्व की जागृति रहती है । स्वराष्ट्र की भावना के साथ आत्मीयता उत्पन्न होना ही

---

1. श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 2, पृ0 12.

2. विश्वेषां विनयविदो विदां वरिष्ठाः,
पाप्मानं परवशतो परामृशन्तः ।
आमूलं तदुपशमाय पापहन्त्रीं,
संक्रान्तिं सुरसरितं समाजयन्तु ।।
--श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 5, पृ0 15.

स्वातन्त्र्य का प्रथम चरण है ।[1] अतः संसार में शान्ति स्थापना करने हेतु सहृदय तथा सुबुद्धि लोगों द्वारा सम्मानित और दुर्बुद्धियों को दुष्प्राप्य आर्यप्रिय स्वातन्त्र्य संक्रान्ति के द्वारा ही प्राप्त करते हैं । यही संक्रान्ति स्वातन्त्र्य की जन्मदात्री होकर समस्त वैभवों से सम्पन्न कराने की क्षमता प्रदात्री भी है ।[2]

4. अन्याय को समूल नष्ट कर न्याय की व्यवस्था देने वाली -

संक्रान्ति वीरों के हृदय में अन्याय को नष्ट कर न्याय की व्यवस्था करती है । संक्रान्ति ही वीरवृन्द वन्दनीय जाग्रति की जन्मदात्री है । उसके द्वारा सामाजिक व राजनैतिक नेताओं के हृदय में एक प्रचण्ड किन्तु कल्याणकारी शक्ति का प्रादुर्भाव होकर न्याय की व्यवस्था होती है । वह न्याय व्यवस्था सभी राष्ट्रियों की सुरक्षा व समृद्धता के लिए ....

---

1. धीः श्रीः स्त्री सततनिहास्ति तस्य हस्ते,
यद्धस्ते ननु सकला स्वतन्त्रता स्ति ।
स्वायत्ते भवति च सा स्वराष्ट्र एव,
संक्रान्ति तदधिगमाय भावयन्तु ।।
--श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 4, पृ0 19.

2. स्वातन्त्र्ये कुमतिदुरापमार्यजुष्टं
शान्त्यर्थं जगति विहाय ना स्त्युपायः ।
लोकानां हृदयवतां जनास्तदर्थं
संक्रान्ति शरणामुमामिमां व्रजन्तु ।।
--श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 15, पृ0 21-22.

कार्य करती है ।[1] संक्रान्ति के आश्रय को प्राप्त होकर वीरों को अविचल धैर्य की प्राप्ति होती है । कायरता तथा हेयभाव उनके हृदय से छिन्न-भिन्न हो जाते हैं । यह संक्रान्ति उन्हें सब भांति भय से मुक्त कराती है ।[2] संक्रान्ति से ही सद्प्रेरणा प्राप्त करके शूरवीर युद्ध यज्ञ में प्राणों की आहुति देकर देवत्व को प्राप्त कर लेते हैं । उनमें अमित तेज और यश जाग्रत होता है । इस अमित तेज के प्रभाव के कारण शत्रुपक्ष अपना सिर सदैव उनके समक्ष नत रखते हैं । वस्तुत: उस संक्रान्ति की प्रेरणा से ही धीर पुरुष संसार के रक्षण में निरन्तर तल्लीन रहते हैं । उनके सत्कर्म लोककल्याण के लिए ही हुआ करते हैं ।

भय-भावों तथा कलिमलों का शमन कर कामनाओं व सम्पदाओं की रक्षा करने वाली -

संक्रान्ति सभी प्रकार के भय-भावों व कलिमलों का शमन करके समस्त कामनाओं व सम्पदाओं की पूर्ति कर उनकी रक्षा भी करती है । मानव हृदयाकाश

---

1· जागर्ति जनयति वीरवृन्दवन्द्या-
मन्यायं विदलयितुं समूलधातम् ।
प्राणेषु प्रकटयति प्रचण्डशक्तिं
संक्रान्ति भजत सदैव तां भवानीम् ।। -संक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 6, पृ0 15-16·

2· वीराणाम् ननु हृदयानि धारयन्ती,
दुष्टानां दूरदलितानि दारयन्तीम् ।
भिन्दानां भयभरितानि कातराणाम्,
संक्रान्ति प्रणमत मानवा: । पराम्बाम् ।।
--संक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 7, पृ0 16·

में इसके उदित होते ही सम्पूर्ण भय भुवनभास्कर के उदय होने से गहनतम अंधकार की तरह समस्त भय भाव तिरोहित हो जाते हैं। यह समस्त कामनाओं की पूर्ति करती है और सर्वसम्पदाओं की रक्षा करने में पूर्ण समर्थ भी है।[1] यह संक्रान्ति दुष्टों को दमन करने में पूर्ण समर्थ के अजेय अस्त्र और कलिकाल के पातकों से समृद्ध दुष्टजनों के लिए महिषासुर मर्दिनी असुरनिकन्दिनी माँ दुर्गास्वरूप है। इसके भय के कारण कलिमल मानव जाति पर किसी भी प्रकार के अन्याय व अत्याचार करने का दु:साहस नहीं कर सकते हैं।[2] समस्त दु:खों का मूल दारिद्रय ही होता है। संक्रान्ति के सम्मुख यह दारिद्रय टिक ही नहीं सकता। दुर्मनस्कता और दुर्भाग्य के लिए तो संक्रान्ति साक्षात संहारिणी माँ भगवती के रूप में विद्यमान रहती है। उसके भय से ये शीघ्र ही तिरोहित हो जाते हैं। इतना ही नहीं वह भगवती संहारिणी संक्रान्ति माँ दुष्टों के मन में उत्पन्न हुई दु:श्चिन्तताओं का शमन भी कर देती है।[3] दुष्ट भावनाओं से युक्त आततायी लोग इस

---

1· ध्वंसाय प्रभवति सर्वसाध्वसानां,
क्षेमाय प्रभवति सर्वसम्पदानाम् ।
योगाय प्रभवति सर्वकामनानां
संक्रान्ति भजत हिताय तां पुमांस: ।। - श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 9, पृ0 18·

2· साधूनां ननु परिपालनाय लोके,
दुष्टानां खलु दमनाय दुर्मदानाम् ।
नाशार्कं कलिकलुषादय दुर्जनानां,
संक्रान्ति सुकृतिवरां भजन्तु दुर्गाम् ।।-- वही, श्लोक 10, पृ0 10·

3· दारिद्रयं दलयति दु:खदानदक्षं
दौर्भाग्यं दहति दृढं च दौर्मनस्यम् ।
दौश्चित्यं शमयति दुष्टदुर्हृदोत्थं
संक्रान्ति प्रणयत तां परावर ज्ञा: ।। -- वही, श्लोक 11, पृ0 19·

भूमण्डल को अनेक प्रकार के कष्टों से त्रसित करते रहते हैं, जिसके कारण सामान्य जीवन अस्त-व्यस्त हो जाया करता है जीवन की अस्त-व्यस्तता एवं चित्त की मलीनता व अस्थिरता के कारण ही दारिद्रय उत्पन्न होता है । उनके इन कुकृत्यों के फलस्वरूप लोक में इतना दारिद्रय फैल जाता है कि प्राणिमात्र अपनी क्षुधा को अपनी विशाल उदर गुहा में रखने का प्रबल प्रयत्न करता है । उस प्रबल प्रचण्ड विध्वंसकारी दुर्भिक्ष का शमन संक्रान्ति से ही संभव है ।[1] प्रचंडशाली पाखण्ड लोकमानस में अपना उत्कृष्ट प्रभाव जमा लेता है जिसके परिणामस्वरूप लोक में अनेक प्रकार के नैतिक एवं धार्मिक विकल्पों का प्रादुर्भाव हुआ करता है । इसके कारण संसार को बहुत हानि उठानी पड़ती है । संक्रान्ति ही इस प्रकार के पाखण्डों को समूल नष्ट कर देने वाली है ।[2] संक्रान्ति सत्पुरुषों में श्रेष्ठ तथा प्रज्ञान में तीव्र बुद्धि के समान होती है जोकि सदसद् विवेक का उद्बोधन कराती है । समस्त संसार को सुख देने वाली वह संक्रान्ति समस्त कलिमल का विनाश कर श्रेष्ठता को प्रदान कर संसार को समस्त सुख-वैभव एवं त्रिविध कष्टों से दूर

---------------------------

1. दुर्भिक्षं दृढदलदृप्तदस्युदत्तं,
देशेषु प्रतिपलधस्मरं प्रसारि ।
दृष्ट्वा पि व्यथितमनाः सदार्यजुष्टां
संक्रान्तिं जगति भजेत को न विद्वान् ।।

-- श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 12, पृ० 20.

2. पाखण्डं प्रसृमरमज्ञलोकचित्ते-
ष्वास्तीर्णं मृदुमतिमुण्डकैः प्रकीर्णम् ।
आमूलं विरमयितुं पदार्थविज्ञाः
संक्रान्तिं परमुपायश्वाश्रयन्ते ।।

--श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 13, पृ० 20.

कर देती है ।[1]

श्रीसंक्रान्तिपंचदशी का भावगत महत्त्व -

आर्यानुमोदित क्रान्ति संक्रान्ति कहलाती है । परिवर्तन की अभिलाषा से हलचल का प्रादुर्भाव क्रान्ति होता है । अत: यह स्पष्ट है भावों का परिवर्तन परिवर्तित रूप ही क्रान्ति का स्वरूप है । प्रस्तुत रचना के अध्ययन से निम्नलिखित भावों का उदय होता है --

1. अन्याय के प्रति जागृति
2. सद्प्रेरणा का उदय
3. दारिद्रय विनाश
4. स्वातन्त्र्य-प्रियता

1. अन्याय के प्रति जागृति -

श्रीसंक्रान्तिपंचदशी के अध्ययन से अन्याय के प्रति न्याय की जागृति का भाव उदय होता है । यह संक्रान्ति वीरवृन्दवन्दनीय होने के कारण अन्याय को समूल नष्ट करने हेतु सामाजिक नेताओं एवं वीरों के मन में जागृति के भाव उत्पन्न करती है ।[2]

---

1. सन्नीति प्रथनपरम्पराविमर्श-
प्रज्ञानप्रखरधियां सतां धुरीणा: ।
संसारं सुखयितुमेतमारभन्ते
संक्रान्ति कलिमलखण्डनी वरेण्याम् ।।--श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 14, पृ0 21.

2. जागर्ति जनयति वीरवृन्दवन्द्या -
मन्यायं विदलयितुं समूलघातम् ।
प्राणेषु प्रकटयति प्रचण्डशक्ति
संक्रान्तिं भजत सदैव तां भवानीम् ।।- वही, श्लोक 6, पृ0 15-16.

2. सद्प्रेरणा का उदय -

श्रीसंक्रान्ति वीरों के हृदय में अविचल धैर्य का अविरल स्रोत प्रवाहित करने के भाव उत्पन्न करती है।[1] वह शूरवीरों में युद्ध, यज्ञ में प्राणों की आहुति का भाव उदय करती है तथा धीर पुरुषों में संसार के रक्षण हेतु निरंतर प्रवाहित करती है, संसार के प्राणियों को दुःखमोचन हेतु एवं सुख प्रदान करने के उत्कृष्ट भावना को प्राणियों के हृदय में उदय कर संक्रान्ति जनसाधारण में सद्-प्रेरणा के भावों को उदय करती है जिससे प्राणिमात्र स्वत्व के भाव से मुक्त होकर "परत्व" हितचिन्तन में तल्लीन हो जाता है।[2]

3. दारिद्रय विनाश -

समस्त दुःखों के मूल में दरिद्रता है। दरिद्र को सभी दुःख सन्ताप देते हैं। संक्रान्ति इस दारिद्रय को नष्ट के भाव मन में उत्पन्न करती है। प्रबल प्रचण्ड विश्वविध्वंसकारी दुर्भिक्ष से सहृदय विद्वानों को हृदय भी विचलित हो जाया करता है। दुर्भिक्ष की पीड़ा बहुत ही असहनीय होती है। संक्रान्ति उसे

---

1. वीराणाम् ननु हृदयानि धारयंतीं
   दुष्टानां दरदलितानि दारयन्तीम्।
   भिन्दानां भयभरितानि कातराणां
   संक्रान्ति प्रणमत मानवाः पराम्बाम्।। -श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 7, पृ0 16.

2. शूराणाम् रणमरणेन चा मराणाम्
   धीराणां जनशरणाय सादराणाम्।
   वीराणां रणवरणे विभाकराणां
   संक्रान्तिं कलयत कामकल्पवल्लीम्।।
   ध्वंसाय प्रभवति सर्वसाध्वसानां
   क्षेमायप्रभवति सर्वसम्पदानाम्।
   योगाय प्रभवति सर्वकामनानां
   संक्रान्तिं भजतहिताय तां पुमांसः।। - वही, श्लोक 8 व 9, पृ0 17-18.

समूल नष्ट के भाव हमारे मन में उत्पन्न करती है और उस दारिद्रय से लड़ने के प्रेरित भावों को जन्म देकर दरिद्रता को दूर करने के प्रयत्नों में यत्नशील करती है ।[1]

4. स्वातन्त्र्यप्रियता -

सहृदय एवं सुबुद्धिलोग स्वातन्त्र्यप्रिय होते हैं । परतन्त्रता दुःख का कारण है । "सर्वं आत्मवशं सुखम् परवशं च दुःखम्" । स्वातन्त्र्य के भाव संक्रान्ति से ही उदित होकर जनचेतना का प्रसार करते हैं । बुद्धि, लक्ष्मी और स्त्री सदैव उसी के अधिकार में रह सकती है जिसे पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो । स्वराष्ट्र में ही उस स्वतंत्रता की प्राप्ति हो सकती है । संसार में पारतन्त्र्य से परे कोई महापाप की जन्मदात्री नहीं है । इन समस्त भावों की जागृति संक्रान्ति से ही संभव है ।

श्रीराष्ट्रालोक के मंगलाचरण में वर्णित "चतुर्णां पुरुषार्थानां हेतवे वृषकेतवे" के द्वारा राष्ट्र को चारों पुरुषार्थ का प्रदाता कहा गया है । वृष केतु धर्म का

---

1. दारिद्र्यं दलयति दुःखदानदक्षं
दौर्भाग्यं दहति दृढं च दौर्मनस्यम् ।
दौश्चिवत्त्यं शमयति दुष्टदुर्हृदोत्थं
संक्रान्तिं प्रणयत तां परावरज्ञाः ।।
दुर्भिक्षं दृढदलदृप्तदस्युदत्तं
देशेषु प्रतिवलघस्मरं प्रसारि ।
दृष्ट्वा पि व्यथितमनाः सदार्यजुष्टां
संक्रान्ति जगति भजेतको न विद्वान् ।। -श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक ।। व 12, पृ० 19-20.

2. धीःश्रीः स्त्री सततमिहास्ति तस्य हस्ते
यद्धस्ते ननु सकला स्वतन्त्रता स्ति ।

प्रतीक है । श्रेष्ठ राष्ट्र वही है जिसमें धार्मिक लोग निवास करते हों । आर्या राष्ट्रदृष्टि सभी के कल्याणभाव से युक्त होती है । क्रान्ति परशिवा स्वरूपिणी है जो राष्ट्र के लिए ज्ञानरूप में महासरस्वती, धनरूप में महालक्ष्मी तथा शक्तिरूप में महाकाली है । परमशिवतत्त्व शक्तिरूपा इस भगवती भैरवी की उपासना का राष्ट्रकल्याण के लिए बहुत महत्त्व है । धर्म-व्यवस्था के लिए धार्मिक ग्रन्थों की रचना करना भी कवि को अभीष्ट था, अतः अगले अध्याय में उनकी धार्मिक रचनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

---

पादटिप्पणी 2 क्रमशः

स्वायत्ते भवति च सा स्वराष्ट्र एव
संक्रान्तिंतदधिगमाय भावयन्तु ।।
विश्वेषां विनयविदो विदां वरिष्ठाः
पाप्मानं परवशतां परामृशन्तः ।
आमूलं तदुपशमाय पापहन्त्रीं
संक्रान्तिं सुरसरितं सभाजयन्तु ।।
स्वातन्त्र्यं कुमतिदुरापमार्यजुष्टं
शान्त्यर्थं जगति विहाय नास्त्युपायः ।
लोकानां हृदयक्तां जनास्तदर्थं
संक्रान्तिं शरणमुमामिमां व्रजन्तु ।।

--श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 4,5, व 15, पृ0 14,15, 21-22

# पञ्चम-अध्याय

## धार्मिक रचनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन

1. **शिव स्तोत्रम्**

   (क) श्री परशिवाष्टकम्
   (ख) श्री परशिव प्रार्थना
   (ग) श्री त्रिगुणेश्वर स्तोत्रम्
   (घ) श्री आपूपिकेश्वर स्तोत्रम्

2. **देवी स्तोत्रम्**

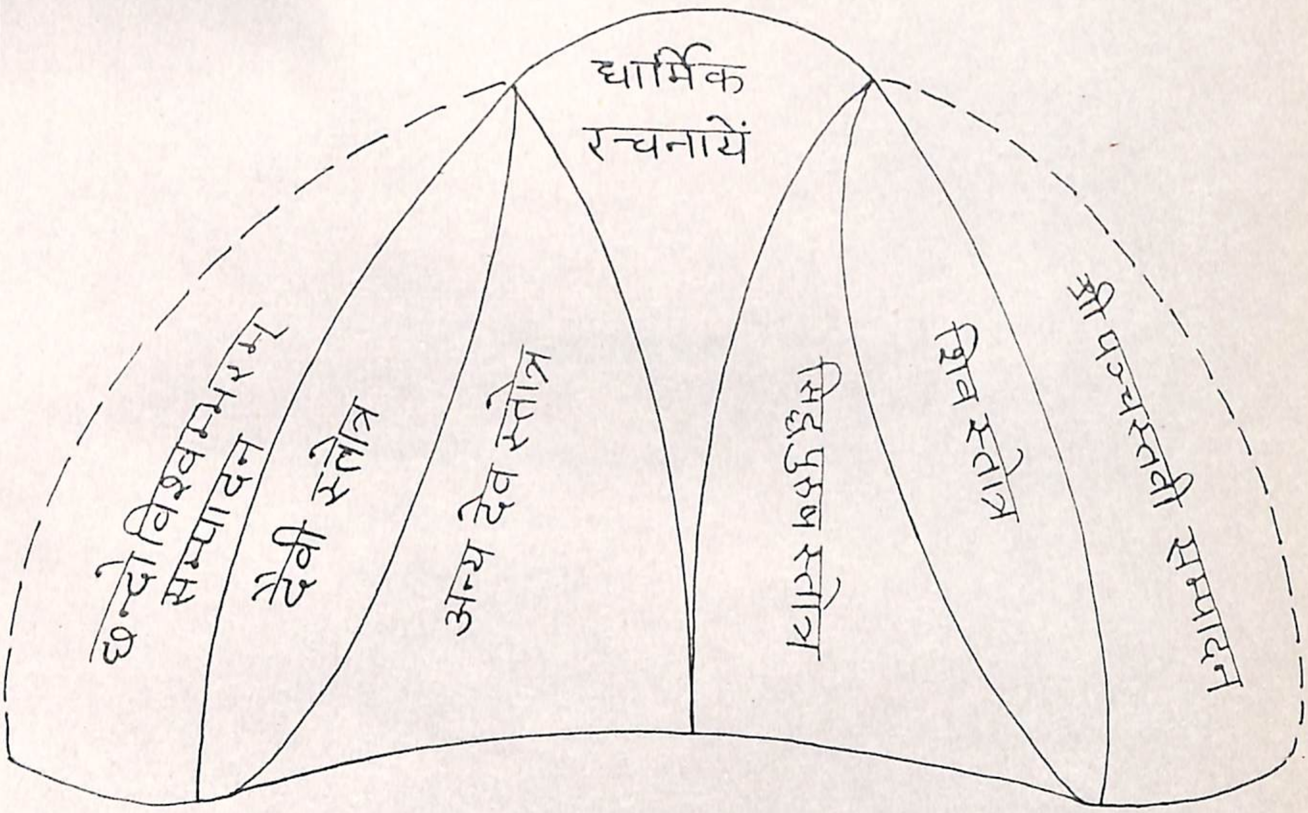
   (क) श्री मन्दाक्रान्ता स्तोत्रम्
   (ख) श्री देव्याः स्तोत्रम्
   (ग) बालकं मां पाहि
   (घ) श्री महानुभव शक्तिस्तवः

3. **अन्य देव स्तोत्रम्**

   (क) श्री पवननन्दनाष्टकम्
   (ख) श्री महागुरु श्रीकृष्ण स्तोत्रम्
   (ग) श्री बालकृष्ण दशकम्
   (घ) श्री रामाश्वघाटी चतुष्ट्यम्

4. **सिद्ध पुरुष स्तोत्रम्**

   (क) श्री परशुराम स्तोत्रम्
   (ख) श्री अवधूताभिवादनम्
   (ग) श्री सञ्जीवनी दर्शनम्
   (घ) श्री देशिक दर्शनम्


धार्मिक रचनायें
छन्दोविश्वम्भरम् सम्पादन
देवी स्तोत्र
अन्य देव स्तोत्र
सिद्धपुरुष स्तोत्र
शिव स्तोत्र
श्री पञ्चस्तवी सम्पादन

धार्मिक-भाव-प्रबोध

# शिव स्तोत्रम्

## शिव-भक्ति परम्परा -- एक परिचय -

### शैव-धर्म की अतिप्राचीनता -

सिन्धुघाटी में प्राप्त प्रागैतिहासिक युग के अवशेषों से यह सिद्ध होता है कि उत्तरी भारत में वैदिक सभ्यता से पूर्व ही शैव धर्म प्रचलित था । मोहंजोदड़ो और हड़प्पा में पाये गये लिंगपूजा, योनिपूजा, मातृदेवी ﴾शक्ति﴿-पूजा और पशुपति पूजा के अवशेष भी शैव-धर्म की प्राचीनता के द्योतक है । मोहंजोदड़ो में प्राप्त त्रिमूर्तिशिव की मूर्ति से अभिव्यक्त होने वाली एक विशेष प्रकार की ज्ञानमुद्रा और योगासन योग के अभ्यास की ओर संकेत देते हैं । शाम्भवी -मुद्रा की प्रस्तरमूर्ति भी वहां प्राप्त हुई है । इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि आज से पांच सहस्र वर्ष पूर्व के भारत में योगाभ्यास तथा शैवधर्म का पर्याप्त प्रचार था ।

### वेद में शैव धर्म -

ऋग्वेद का प्रधान देवता इन्द्र है, परन्तु आगे चलकर यजुर्वेद के युग में वह प्रधानता रुद्र में आ जाती है । विद्वानों के मतानुसार यजुर्वेद के ये रुद्र देवता ही पशुपति शिव हैं । श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में शैवदर्शन के सिद्धांत तथा साधना का उल्लेख भी प्राप्त होता है ।[1]

---

1. क﴿ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । कठोपनिषद्,2/6/11.

ख﴿ त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणिमनसा सन्निरुध्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।।
--श्वेताश्वतर, 3/2/8

उत्तरवैदिक शैवधर्म -

लिंगपूजा तथा मूर्तिपूजा को मानने वाले यहूदी धर्म की उत्पत्ति और उसका विस्तार शैव धर्म पर निर्भर था । चौदहवीं शती में यह विचारधारा कश्मीर में पहुंची । जगन्नाथपुरी के प्रसिद्ध मंदिर की तथा दक्षिण भारत के अनेक देवस्थानों की शृंगारमयी प्रस्तर कला भी शैव-धर्म का प्रतीक है । कश्मीर के स्मार्त हिन्दु धर्म में शैव धर्म के अंश विद्यमान थे । वाराणसी की तरह और दक्षिण भारत की तरह शिव और शक्ति की पूजा कश्मीर में भी थी । शैव धर्म से संबंधित प्राचीन ग्रन्थ शिवसूत्र ही पाया जाता है जो कि ईसा के नवम शतक में रचा गया । इसमें शाम्भवी उपासना का वर्णन मिलता है ।

शैवधर्म एक सनातन धर्म -

शैव धर्म एक सनातन धर्म है । वैदिक, बौद्ध, जैन, वैष्णव आदि संतों की वाणी के अनुरूप ही शैव धर्म भी सनातनकाल से लोकप्रिय रहा है । यह धर्म अधिकार व अनाधिकार की सीमाओं से परे रहा है । अत: इस धर्म के अपनाने में कोई भी जाति, वर्ण या लिंग आदि का विचार नहीं किया जाता । जिस मानव के हृदय में परमेश्वर के प्रति सच्ची भक्ति हो और तत्त्व की जिज्ञासा हो, वह चाहे किसी भी धर्म से, जाति, समाज से, परिवार से, वर्ण से या लिंग से सम्बन्ध रखता हो, उसे इस धर्म को अपनाने का पूरा-पूरा अधिकार रहा है । शैव सन्तों की इस उदार भावना ने ही इस धर्म को व्यापक धर्म बनाया ।

श्रीपरशिवाष्टकम् स्तोत्र की समालोचना -

विषय-वस्तु की विवेचना -

यह रचना परशिव की भक्ति रचना है । विह्वल भाव से युक्त होकर भक्त इस संसार के कष्टों व पापों से मुक्ति पाने के लिए विह्वल हो उठता है ।

भक्त कवि ने इस रचना को भी इसी उद्देश्य से लिखा है । आठों श्लोकों में चतुर्थ चरण के रूप में प्रयुक्त "भावये परशिवं शिवायुतम्" शिव-पार्वती की अद्वैत प्रार्थना की ओर ध्यान आकर्षित करती है । शास्त्रों में शिव के अर्द्धनारीश्वर होने का बहुत उल्लेख मिलता है ।[1] भगवान् दुर्वासा से प्राप्त दीक्षा में परमयोग (शाम्भव योग) के निरन्तर अभ्यास द्वारा ही कवि को परमशिव व अन्य अनेक अलौकिक विद्याओं का ज्ञान हुआ था । उस शाम्भव योग के निरन्तर अभ्यास से ही साधक निःश्रेयस्युभ्यदयप्राप्ति कर सकता है । स्तोत्र में अर्द्धनारीश्वर भगवान् परमशिव की भावना की गई है । शिवशक्ति से रहित और भिन्न कभी नहीं होता और शक्ति शिव से रहित और भिन्न कभी नहीं होती, दोनों परस्पर अभिन्न और एक हैं तथा समरस रूप हैं । आचार्य सोमानन्द शिवदृष्टि में लिखते हैं --

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीदृशान् ।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ।।[2]

वास्तविक सत्य के कल्पनात्मक ज्ञान का निरन्तर यह अभ्यास करना कि विश्वोत्तीर्णता में और विश्वमयता में तथा उस विश्वमयता की भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में सर्वत्र ही परमेश्वर शिव शक्ति दोनों ही हैं, भावना कहलाता है । इसी भावना को अर्द्धनारीश्वर शिव में देखा गया है । भगवान् श्रीकृष्ण ने भी

---

1. अर्धोद्घाटितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपगतो त्रिस्पन्दभावान्तरे ।
ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितमेकं पुमांसं परं ।
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु चरमं वाच्यं मिकत्राधिकम् ।।
- अनुभवनिवेदनस्तोत्रम्, अभिनवगुप्त, श्लोक 2.

2. शिवदृष्टि, आचार्य सोमानन्द, 3-2,3.

परिचायक है । "भावये" अर्थात् भावना कर रहा हूं इस पद में भावना शब्द का अर्थ है "वास्तविक सत्य के कल्पनात्मक ज्ञान का अभ्यास" । प्रत्येक श्लोक के अंतिम चरण के रूप में इस भावना करने का तात्पर्य है कि भक्त अनेक स्थितियों में विद्यमान होकर भी अत्यंत आतुरता के साथ वास्तविक सत्य "शिव-पार्वती" में निरन्तर ध्यान का अभ्यास करता रहता है । निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न अनेक कल्पनाओं का सत्य ज्ञान वास्तविक ज्ञान का ही रूप है । यथा - स्वर्णकार स्वर्ण से अनेक प्रकार के नवीनतम आभूषण बनाकर शृंगारियों के हृदय को आकर्षित करता है और अपने कल्पनात्मक ज्ञान से वास्तविक सत्य को अनेक रूपों में निर्मित करता है उसी प्रकार भक्त भी अपने ज्ञान से विविध कल्पनाओं में उस वास्तविक सत्य का दिव्यदर्शन करता है ।

भगवान् शिव की जटाओं में विद्यमान गंगा के पवित्र जल की फुहारों से भक्त पवित्र होकर परशिव का दर्शन करने में समर्थ हो जाता है । यह स्तोत्र शाम्भव योग विद्या की ओर भी संकेत करता है जिससे भक्ति-भावों की उत्पत्ति होती है । स्तोत्र से निम्नलिखित भावों का उद्गम होकर मधुर रस की उत्पत्ति होती है --

1. भक्ति-भावना का उदय,
2. पापों से निवृत्ति, और
3. परमशिव का भक्तों के प्रति करुण-भाव ।

भक्ति-भावना का उदय -

स्तोत्र के पठन से परशिव के प्रति भक्ति-भावना का उदय हो उठता है । परमेश्वर दीनों के रक्षक, परमऐश्वर्यशाली है वही भक्तों को त्रिविध तापों से मुक्त कर सकता है । भक्त की मुक्तिभावनाओं की रट सुनकर भगवान् भक्त की रक्षा करते हैं ।

दीननाथ, भगवन्, दयानिधे
पाहि पाहि शरणागतं प्रभो ।
क्षम्यतां मयि शिवेति चारन्
भावये परशिवं शिवायुतम् ।[1]

पापों से निवृत्ति -

परशिव की आराधना से समस्त पापों की निवृत्ति हो जाती है । भगवान् शिव पापयुक्त व्यक्ति की भी रक्षा करते हैं । वे अपने भक्त को तन-मन व हृदय से पवित्र कर देते हैं --

दुष्कृतानि निखिलानि दूरत:,
साम्प्रतं परिगतानि सन्ति मे ।
निर्मलीकृतवपु: स्वमानसे,
भावये परशिवं शिवायुतम् ।।[2]

परमशिव का भक्तों के प्रति करुण-भाव -

परमशिव अपने भक्तों के प्रति सर्वथा करुण-भाव रखते हैं । भक्त जब दीन बनकर भगवान् की शरण में जाता है तो वह उनकी दया-दृष्टि का कृपापात्र बन जाता है --

नाथ, सम्प्रति दयार्द्र-चक्षुषा,
पश्य मां झटिति दीनजीवितम् ।
मन्तुमन्तमपि रक्ष आरटन्,
भावये परशिवं शिवायुतम् ।।[3]

इस प्रकार यह रचना दु:खों का नाश करने वाली तथा समस्त प्राणियों का कल्याण करने वाली रचना है ।

---

1. परशिवाष्टक स्तोत्र, श्लोक 6, पृ० ।।.
2. वही.

3. वही.

श्री परशिवप्रार्थना -

प्रार्थना का स्वरूप -

यह प्रार्थना भगवान् शिव की आराधना में रची गई है । आचार्यपाद ने इसे सिद्धमहामन्त्रस्वरूपिणी प्रार्थना कहा है । आचार्यपाद ने इसका जपविधान इस प्रकार बतलाया है --

"साधक भक्त को सोमवार अथवा किसी भी महाशिवरात्रि जैसे शुभदिन (जब चन्द्रमा जन्मराशि से अष्टम न हो), शिवालय में आशुतोष भगवान् शिव का पूजन कर मन में यह सोचते हुए कि भगवान् ही "प्रभो" "शंभो" की दीक्षा दे रहे हैं, इस सिद्ध मंत्र का अर्थसहित तीन बार पाठ करना चाहिए । तत्पश्चात नित्यप्रति रात्रि को निद्रामान होने से पूर्व और प्रातः निद्रा त्यागकर शय्या पर ही इस मन्त्र का तीन बार पाठ करने से कष्ट निवारण हो जाता है । अन्य अभीष्ट कार्यों के लिए श्रद्धानुसार जप अधिक से अधिक संख्या में करना चाहिए । उदाहरणार्थ नित्य दो माला जपने से परीक्षा में निश्चित सफलता मिलती है । किसी भी कठिन दार्शनिक विषय को समझने क से पूर्व ग्यारह बार पाठ से विषय सुगम हो जाता है ।" इस प्रकार की सिद्धमहामन्त्रस्वरूपिणी प्रार्थना का स्वरूप है --

प्रभो । शम्भो । दीनं विहितशरणं त्वच्चरणयो-
र्भवारण्यादस्माद्विषभविषयाशीविषवृतात् ।
समुद्धृत्य श्रद्धा विधुरमपि बद्धादरकरं
दयादृष्ट्या पश्यन्निजतनयमात्मीकुरु शिव ।[1]

(हे सर्वशक्तिमान । समस्त संसार का कल्याण करने वाले कल्याणरूप भगवान् शंकर । आपके चरणों में मैं दीनभाव से आया हूं । विषयरूपी भयंकर विषधर सर्पों

---

1. श्री परशिवप्रार्थना, प्रकाशकीय निवेदन, रवि त्रिवेदी, पृ० 6.

से भरे हुए इस संसाररूपी जंगल से बाहर निकाल कर अपनी दयादृष्टि से देखते हुए आप मुझ अपने पुत्र को अपना आत्मीय बना लीजिए। यद्यपि श्रद्धा आदि का मुझे ज्ञान नहीं है, तथापि चारों ओर से भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए मैं आपकी शरण में आया हूं, अतः इस दीनपुत्र को हे शिव। बस अब तो अपना ही कि लीजिए।)

आचार्यश्री ने इसे "श्रीसिद्धमहामन्त्र" के रूप में ही मानव मात्र के कल्याण हेतु प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्वयं उद्भूत इस मन्त्र को पहले कठोर साधना से सिद्ध किया तत्पश्चात उसे श्रद्धालु भक्त एवं साधकों को साधना हेतु प्रदान किया।

सिद्धमहामन्त्रप्राप्तीतिहास -
---------------------

श्रीआचार्यपाद ने इस सिद्धमहामन्त्र की प्राप्ति के विषय में उल्लेख किया है कि "सायंकाल का नित्य-कृत्य समाप्त कर अपने निर्मल पूजागृह में आसन पर बैठे हुए प्रातःकाल में अपने बनाये श्रीशिव की प्रार्थना में अशुद्धि सोच रहा था, इतने में ही अकस्मात एक दिव्य शरीरधारी घुटनों तक पुराना कपड़ा जिसका एक छोर नीचे लटक रहा था, पहने हुए, रोओं, के गुच्छों से भरे हुए छिद्र वाले बड़े कान जिनके थे, ऐसे पुरुष प्रकट हुए। उनका वर्ण पूर्ण चन्द्रमा की तरह चमकीला था। सम्पूर्ण शरीर पर घुंघराले बाल तथा आंखों की पुतलियां बिजली की चमक से भी अधिक चमकीली थीं। उस महापुरुष ने अपनी तर्जनी अंगुली को ऊंची उठाकर घुमाते हुए कहा कि यह श्लोक अशुद्ध नहीं है, उसमें कोई इधर-उधर परिवर्तन नहीं करना, तुम तो बुद्धिमान हो, ऐसा समास करने पर (बद्धादरकरं) कौन--सी अशुद्धि की तुमको शंका हो रही है। ऐसा कहकर वे अदृश्य हो गये।

इस घटना से विदित होता है कि वे महापुरुष स्वयं भगवान "शिव" ही थे, अन्य कोई नहीं।

## प्रार्थना में छन्द का महत्त्व -

"रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलगः शिखरिणी"

नवरस तथा अष्ट रुद्र इस प्रकार कुल 17 मात्राओं से युक्त शिखरिणी छन्द होता है । शैवदर्शन में संहार के देवता रुद्र को सत्त्वगुण प्रधान माना गया है । भगवान् रुद्र सहार करते हुए समस्त प्रमेय प्रपंच को प्रमातृ प्रकाश में विलीन करने लगते हैं । उनका तृतीय नेत्र इसी माहात्म्य का सूचक है ।[1] नन्दी, वीरभद्रादि रुद्र के अनेक गण हैं । रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहते हैं ।[2] "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति"[3] रस तथा रुद्रों के संयोग से बने शिखरिणी छन्द मे वर्णित इस प्रार्थना का महत्त्व भी रसानुभूति के सदृश्य विभिन्न रसों के आनन्द की अनुभूति तथा रुद्रों के महत्त्व को सूचित करने वाला है ।

## प्रार्थना का भावगत महत्त्व -

यह प्रार्थना सिद्धमहामन्त्र है जो कि साधक को रोग, दरिद्रता तथा अन्य आपत्तियों से सुरक्षित रखती है । इसके पा० से मनोनुकूल फलप्राप्ति होती है । साधक भगवान् सर्वशक्तिमान शंकर के सम्मुख दीनभाव से जाकर अत्यंत व्याकुलता के साथ आत्मीय बनाने हेतु प्रार्थना करता है । इसका प्रमुख महत्त्व यह है कि यहां साधक न तो साधना की इच्छा करता है और न अपने उद्धार के लिए प्रार्थना करता है अपितु वह केवल अपना लेने हेतु प्रार्थना करता है । अपने आपको शिव का दीनपुत्र कहा गया है । अपने पुत्र का अनिष्ट कोई भी पिता नहीं चाहता । पिता-पुत्र के भाव में एक अत्यंत सन्निकटता की प्रतीती होती

---

1. "संहाराख्यायां दशायां तस्यामधिष्ठातृदेवतात्वं ..... भजमानो भट्टारक ईश्वर एव रुद्रो भगवान् ।"
2. काव्यप्रकाश, मम्मटाचार्य, पृ०
3. तैत्तिरियोपनिषद्

है । यहां एक आत्मीय भाव होता है । श्रीमद्भागवतपुराण में पुत्र को आत्मा कहा गया है । श्रद्धा-विधुरमपि कहकर श्रद्धा से रहित भाव और भी निश्छलता को प्रकट करता है ।

श्री त्रिगुणेश्वरशिवस्तोत्रम् की समालोचना --

विषय-वस्तु की विवेचना -

इस स्तोत्र के प्रथम तीन श्लोकों में परमशिव का ध्यान किया गया है । बुद्धि को आलम्बन बनाकर जिस धारणा का अभ्यास किया जाता है, उसे ध्यानयोग कहते हैं । इस ध्यानयोग में साधक को प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण इन तीन की भावना के द्वारा संघट्टात्मक एकरूपता में देखना होता है । शैव दर्शन परम्परा में प्रमाण को सूर्य, प्रमेय को चन्द्रमा और प्रमाता को अग्नि नाम दिया गया है ।[1] इन तीनों का ही आधार परमेश्वर चित्-प्रकाश है जो स्वभाव से ही आनन्दघन है । भगवान् शिव अपने भक्तों को उसी चिदानन्दघन प्रकाशरूपता की स्थिति पर पहुंचा देते हैं । इसी भाव को इस स्तोत्र में इस प्रकार वर्णित किया है --

धामत्रयी परमधामनि साणि यस्मिन्
विश्रान्तिमेति परनिर्वृतिभावरम्ये ।
स्वेभ्यो ददाति कृपया तदपि प्रसन्नम्
तस्मै नमो भगवते त्रिगुणेश्वराय"[2]

परमशिव को त्रिगुणात्मक ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन तीनों कारणों

---

1. तत्र प्रमातृप्रमाण प्रमेयरूपस्य वह्न्यर्कसोमात्मकस्य संघट्टं ध्यायेत"
--तन्त्रसार, आचार्य अभिनवगुप्त, पृ० 36.

2. श्रीत्रिगुणेश्वरशिवस्तोत्रम्, श्लोक 7, पृ० 43.

से उत्तीर्ण कहा है । शिव की ज्ञानशक्ति जब संकुचित होकर जीव में प्रकट हो जाती है, तो वहां वह जीव का सत्वगुण कहलाती है । इसी तरह से शिव की क्रियाशक्ति जीव के रजोगुण के रूप में प्रकट हो जाती है । शिव की मायाशक्ति का ही संकुचित आकार जीव का तमोगुण कहलाता है । ये तीन गुण लोक व्यवहार में पुरुष के सुख, दु:ख और मोद बन जाते हैं । इस तरह से इन तीन गुणों का बीज शिव की तीन शक्तियों के भीतर विद्यमान रहता है । ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में आचार्य उत्पलदेव का कथन है --

स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।
माया तृतीये त एव पशो: सत्वरजस्तम: ।।[1]

इसी भाव को प्रकट करते हुए आचार्यपाद इस स्तोत्र में लिखते हैं --

ब्रह्मा हरिर्हर इति त्रिगुणीमतीत्य
यस्तन्मयो वरकलो जयति त्रिलोक्याम् ।
विश्व-प्रपंच-रचना-चतुराय महयं
तस्मै नमो भगवते त्रिगुणेश्वराय ।।[2]

रजोगुण का स्वभाव प्रवृत्ति है उससे सृष्टि होती है । जिसका संपादन ब्रह्माजी करते हैं । तमोगुण का स्वभाव प्रवृत्ति की शिथिलता है जिससे सृष्ट जगत ठहरता है । इस स्थिति में विष्णु विद्यमान रहते हैं और प्रमेय जगत को प्रमातृ तत्त्व में लय को संहार कहते हैं । इसमें आत्मानन्द जागृत होता है । यह सत्त्वगुण का स्वभाव है इसके देवता रुद्र है । ईश्वर शिव इन तीनों से परे हैं ।

वैखरी, मध्या और पश्यन्ती ये तीन वाणियां हैं । चौथी परावाणी

---

1· ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, आचार्य उत्पलदेव, 4-1-4·

2· श्रीत्रिगुणेश्वर शिवस्तोत्रम्, श्लोक 4, पृ0 41·

में शब्द और अर्थ में पारस्परिक अभेद होता है । ऋक्, यजु: और साम वे तीन धर्म के प्रतिपादक वेद हैं । अथर्ववेद व्यावहारिक ज्ञान का प्रतिपादक है और गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणग्नि -- ये तीन होम अग्नि हैं । परमशिव वाणियों के पति, वेदों के आराध्यदेव तथा अग्नियों की ज्वाला रूप हैं । इन सभी का वर्णन इस स्तोत्र में किया गया है ।

चित्, निर्वृत्ति (आनन्द), इच्छा, ज्ञान और क्रिया -- ये पांच परमेश्वर की अन्तरंग और मुख्य शक्तियां हैं । इनमे से चित्त और आनन्द का सामरस्य परमेश्वर का स्वरूप है । इच्छा उसका स्वभाव है और ज्ञानक्रिया उसके स्वभाव का विकास या फल है । दाक्षिणात्य शैवशास्त्र के पांच उपदेशक - ईशान, तत्पुरुष, वामदेव, सद्योजात और अघोर परमेश्वर इन अन्तरंग शक्तियो के सशरीर रूप हैं । आचार्य अभिनवगुप्त तंत्रालोक में इसी का वर्णन करते हुए लिखते हैं -- "तत्रहि परमेश्वर एव चिदानन्देच्छाज्ञानाक्रियात्मकवक्त्रपंचकासूत्रणेनसदाशिवेश्वर-दशामधिशयानस्तद्वक्त्रपंचकमेलनया पंचस्रोतोभयम् अभेदभेदाभेद भेददशोद्ंकनेन तत्तद्वैचित्र्यात्म निखिलं शास्त्रमवतारयति ।"[1]

शैव दर्शन के इस गूढ़ विषय को आचार्यपाद ने अत्यंत सरल शब्दों में इस प्रकार प्रकट कर दिया है --

"शक्तित्रयी घनतया श्रयते यतो मुं
तुर्यो पि पंचतनुते सततं वृत्ती: स्वा: ।
पंचानन: सुरनरा सुरसंघ-पूज्य
तस्मै नमो भगवते त्रिगुणेश्वराय ।।"[2]

---

1. तंत्रालोक, आ. अभिनवगुप्त, 1 - 18.

2. श्रीत्रिगुणेश्वरशिव स्तोत्र, श्लोक 8, पृ0 44.

शक्तित्रयी -- इच्छा, ज्ञान और क्रिया के लिए कहा है । परमेश्वरता से सम्पन्न चित् प्रकाश, प्रकाश की स्थिति में ठहरना तुरीया दशा कहलाती है । परमेश्वर के पांच परमेश्वरी कृत्य हैं +-- सृष्टि, स्थिति, संहार, विधान और अनुग्रह, तथा पांच मुख -- ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर । देवता सत्वगुण प्रधान, मानव रजोगुण प्रधान और असुर तमोगुण प्रधान होते हैं । इस प्रकार दर्शन की अत्यंत गूढ़ विचारधारा को सरस पदावली में कहकर सहज बोधगम्य बना दिया गया है ।

## स्तोत्र का भावगत महत्त्व -

इस स्तोत्र के अध्ययन से शैव-दर्शन के अनेक भावों का उदय होकर शिव-भक्ति-रस की उत्पत्ति होती है । मुख्यत: ये भाव इस प्रकार से हैं --

1· समाधिस्थ शिव के प्रति भक्ति भावना का जागरण

2· परमेश्वर का आनन्द-घन स्वरूप

3· शिव की त्रिगुणेश्वरता ।

## समाधिस्थ शिव के प्रति भक्ति भावना का जागरण -

इस स्तोत्र के पाठ से समाधिस्था शिव के प्रति भक्ति भावना का जागरण होता है । समाधिस्थ शिव का शाम्भवयोग मुद्रा में स्वाभाविक वर्णन किया गया है । एक श्लोक में स्वाभाविक वर्णन द्रष्टव्य है --

शान्तं त्रिनेत्रमलिकेब्ज-कलां वहन्तं
नागेन्द्र-चर्म-वसनं भुजंगोपवीतम् ।
अन्तर्बहिश्च रमणीयतम-स्वरूपं
विद्यामृताभय वरो श्रयदानदक्षतकम् ।।[1]

---

1· श्रीत्रिगुणेश्वरशिवस्तोत्रम्, श्लोक 2, पृ0 40·

समाधिस्थ शिव का स्वरूप भीतर से भी और बाहर से भी बहुत अधिक रमणीय है । वह शिव विद्या को, अभयता को तथा आश्रय को देने में अतीव निपुण है । संसार से मुक्ति शिव ही देते हैं । मुक्ति दशा ही अमृत है । इस प्रकार शिव-भक्ति से अमृतत्व की प्राप्ति के भावों की जागृति होती है ।

परमेश्वर का आनन्द घनस्वरूप -

इस स्तोत्र में परमेश्वर के आनन्द घनस्वरूप का वृहद्द वर्णन है । सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि का आधार परमेश्वर चिद प्रकाश है जो स्वभाव से ही आनन्द घन है । भगवान् शिव अपने भक्तों को उसी चिदानन्द घन प्रकाशरूपता की स्थिति पर पहुंचा देते हैं । ऐसे परमशिव के प्रति गहन भक्ति-भाव को प्रकट करने वाले इस स्तोत्र का एक श्लोक यहां उद्धृत है --

धामत्रयी परमधामनि सापि यस्मिन्
विश्रान्तिमेति परनिर्वृतिभाजरम्ये ।
स्वेभ्यो ददाति कृपया तदपि प्रसन्नम्,
तस्मै नमो भगवते त्रिगुणेश्वराय ।।[1]

शिव की त्रिगुणेश्वरता -

सत, रज और तम तीन गुण माने जाते हैं । इनमें से रजोगुण का स्वभाव प्रवृत्ति होती है उससे सृष्टि होती है जिसका सम्पादन ब्रह्माजी करते हैं । तमोगुण का स्वभाव भारीपन और प्रवृत्ति का ढीलापन होता है उससे सृष्ट जगत कुछ समय के लिए ठहरता है इसके मुख्य देवता विष्णु हैं । प्रमेय जगत को प्रमातृ तत्त्व में लय करने को संहार कहते हैं उससे आत्मानन्द निखर उठता है ।

---

1. श्रीत्रिगुणेश्वर शिवस्तोत्र, श्लोक 7, पृ० 43.

सुखमय होने के कारण यह सत्त्वगुण का स्वभाव है । शिव इन तीनों गुणों से परे हैं और इन तीनों के रूप में प्रकट होते रहते हैं । इस प्रकार के परमशिव की त्रिगुणेश्वरता का भक्तिभाव प्रकट करने वाले इस स्तोत्र का एक श्लोक द्रष्टव्य है --

ब्रह्मा हरिर्हर इति त्रिगुणीमतीत्य
यस्तन्मयो वरकलो जयति त्रिलोक्याम् ।
विश्व-प्रपंच-रचना-चतुराय मह्यं
तस्मै नमो भगवते त्रिगुणेश्वराय ।।[1]

आपृपिकेश्वर-स्तोत्रम् की समालोचना -

कथावस्तु की समालोचना -

यह रचना हलवाई-संगठन के भक्तों की ईच्छा-पूर्ति हेतु साधक कवि आचार्यपाद ने अपने इष्टदेव भगवान् शिव की आराधना में रची है । "सर्वे भवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामया" की मंगलकामना रखने वाले श्रीआचार्यपाद ने भगवान् शिव से हलवाई-संगठन के सदस्यों की सुख-समृद्धि मांगी है । काव्य-प्रयोजन की दृष्टि से यहां "शिवेतररक्षतये" का पूर्ण निर्वाह किया गया है ।

आलोच्य रचना की विषय-वस्तु हलवाई-संगठन की सुख-समृद्धि हेतु की गई स्तुति है । जिस समाज के सदस्य सर्वजनहिताय तथा सर्वजनसुखाय की भावना से कार्य करते हैं उस समाज की ईश्वर सर्वथा सुख-समृद्धि में वृद्धि किया करता है । आचार्यपाद की समाज के लिए की गई इस स्तुति से राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को

---

1. श्रीत्रिगुणेश्वर शिवस्तोत्र, श्लोक 4, पृ० 41.

अभिव्यक्त करती है -

"आस्वादयन् घृतमयान् मधुरानपूपान्,
आपूपिकेश्वर महेश सदा प्रसीद ।"[1]

इस कथन से बलवान व पौरुषयुक्त समाज की इच्छा की गई है । पौष्टिक भोजन से ही वीर्यवान बन सकते हैं । भगवान् के लिए जिस प्रकार के व्यंजनों से भोग लगाया जाता है, सेवकगण उसी प्रकार का प्रसाद प्राप्त करते हैं । इतना ही नहीं स्वादिष्ट भोजन तैयार करने का आशय है - समाज की खुशहाली । धनी समाज ही अच्छे प्रकार का भोजन कर सकता है । इसी प्रकार की श्रेष्ठ प्रार्थना से परमशिव की उपासना की गई है ।

स्तोत्र का भावगत महत्त्व -

यह रचना प्रतिष्ठा के समय की गई देवाराधना है । इसमें भगवान् शिव को समस्त सुखों की समृद्धि हेतु आह्वान किया है । रचना से आशुतोष भगवान् शिव की मंगलकारी भावनाओं के प्रति भक्त की सहज श्रद्धा उमड़ पड़ती है । विशेषतः निम्नलिखित भाव सहज उत्पन्न होते है --

1. देव का सज्जनों से प्रेम

2. देव-दया से समस्त सुख व समृद्धि की प्राप्ति ।

1. देव का सज्जनों से प्रेम - परमशिव सदैव अपने भक्तों व सज्जनों को प्रेम करते हैं । वे उन पर कृपा दृष्टि रखकर कष्टों से मुक्त रखते हैं । यथा --

"प्रेम्णा सतामधिपुरं कृपया कुरुष्व"

2. देव-दया से समस्त सुख व समृद्धि की प्राप्ति - देवदया से सभी प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं । ईश्वर की दया-दृष्टि ही समृद्धियों की जननी होती है । यथा-

"दृष्ट्वा दयायरितया सततं स्वदृष्ट्या,
आपूपिकान् रचय सर्वसुखैः समृद्धान् ।।"

इस काव्य के पठन व श्रवण मात्र से भगवान् शिव के प्रति सहज भक्ति-भाव की जागृति हो जाती है ।

---

1. आपूपिकेश्वरस्तोत्रम्, श्लोक 2, पृ0 46.

# देवी स्तोत्रम्

## देवीभक्ति परम्परा -- एक परिचय

संस्कृत वाङ्‌मय में स्तोत्र-साहित्य बहुत विशाल सरस तथा हृदयस्पर्शी है। भक्ति भावनाओं से सम्पृक्त हृदयधारी भक्त अपने हृदय की बातें अपने इष्टदेव के सम्मुख प्रकट करने तथा उसकी महिमा की अभिव्यक्ति में अपने कोमल एवं भक्तिपूरित हृदय को अविरल गति से अपनी निर्मल वाणी द्वारा अभिव्यक्त करता रहता है। भक्त कवि हृदय अपने इष्ट की दिव्य-विभूतियों के दर्शन से आश्चर्यान्वित होकर उस इष्ट के विशाल हृदय, असीम अनुकम्पा और दीनजनों पर अकारण स्नेह की गाथा गाता हुआ आत्मविस्मृत हो उठता है। अपने पूर्व जन्मों से सम्बद्ध कर्मों पर दृष्टिपात करके वह क्षुद्रता से बेचैन हो जाता है और उनसे मुक्ति पाने हेतु हृदय-तन्त्र की समस्त ग्रन्थियों को खोल देता है। उसके हृदय की दीनता और दयनीयता ही कोमल शब्दों में प्रकट होकर उसकी सच्ची भावुकता का परिचय देती है। इन्हीं भावुकता एवं सहृदयतापूर्ण गुणों के कारण स्तोत्र-काव्यों में बड़ी मोहकता रहती है। उनमें चित्त को द्रवित करने की अनुपम शक्ति है। संगीतात्मकता के मिश्रण से यह शक्ति अद्वितीय हो जाती है। जो पाठक के हृदय को सहज ही अपना बना लेती है।

भगवतीदेवी परम्परा में बाणभट्ट का "चण्डीशतक" प्राचीनतम स्तोत्र है। इसमें भगवती दुर्गा की स्रग्धरा वृत्त में बड़ी प्रशस्त स्तुति की गई है। बाण के लगभग पचास वर्ष के अन्तराल में आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव हुआ। ये भगवान् की एक दिव्य विभूति थे। जिनकी कीर्ति कौमुदी आज भी उसी प्रशस्त रूप से समस्त जगत् को प्रद्योतित कर रही है। उन्होंने अनेक देवी-देवताओं की परम रमणीय स्तुतियां लिखीं। उनके स्तोत्र स्तोत्रसाहित्य के शृंगार हैं। उनकी कविता का परम सौन्दर्य एकत्र रूप में "सौन्दर्यलहरी" में द्रष्टव्य है। भगवती त्रिपुर-सुन्दरी के दिव्य सौन्दर्य की छटा इस लहरी में विशदता से प्रस्फुटित हुई है।

शाक्तस्तोत्र के प्रणेता के रूप में दुर्वासा की ख्याति पर्याप्तरूपेण विस्तृत है, परन्तु वे एक महनीय दार्शनिक शैव-स्तोत्र के निर्माण के कारण अत्यंत प्रख्यात हैं। इस स्तोत्र का नाम है "परशम्भुमहिम्नःस्तवः"। यह तेरह प्रकरणों में विभक्त, तान्त्रिक, तथ्यबहुल, गम्भीरार्थ - प्रकाशक शैवस्तोत्र है, जिसके कतिपय प्रकरणों के अभिधान ही वर्ण्य विषय के द्योतक है -- पराशक्तिस्कन्धरश्मि, इच्छाशक्तिस्कन्धरश्मि, ज्ञानशक्तिस्कन्धरश्मि, कुण्डलिनीशक्तिस्कन्धरश्मि, षडन्वयरश्मिविवेक आदि।[1]

भगवती त्रिपुर सुन्दरी की स्तुति में शाक्त कवियों ने अपनी अलौकिक काव्य प्रतिभा का दिव्य चमत्कार प्रदर्शित किया है। त्रिपुरा ही ललिता के नाम से प्रख्यात है। प्रख्यात शाक्त आचार्य तथा कवि एवं उनकी रचनाओं का परिचय इस प्रकार है --

1) <u>ललितास्तवरत्न</u> - महर्षि दुर्वासा द्वारा लिखित यह स्तोत्र अत्यंत गौरवशाली है। त्रिपुरा सम्प्रदाय में क्रोध भट्टारक की उपाधि से मण्डित दुर्वासा बड़े ही गम्भीर साम्प्रदायिक रहस्यवेत्ता मुनि माने जाते हैं। वे सदनुग्रह तथा असद् निग्रह के निमित्त देहधारी भगवान् ही माने जाते हैं तथा समस्त उपनिषदों के प्रथम देशिक (गुरु या आचार्य) होने का श्रेय उन्हें प्राप्त है। 213 आर्या वाली यह स्तुति "आर्याद्विशती" के नाम से विश्रुत है। दूसरी रचना "त्रिपुरसुन्दरीमहिम्न स्तोत्र" के नाम से प्रख्यात है।[2]

2) <u>पंचस्तवी</u> -- कालिदास की रचनारूप में विश्रुत पंचस्तवी में पांच विभिन्न स्तवों के समूह हैं --

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० 373.

2. वही, पृ० 367

1§ लघुस्तुति §21§, 2· घटस्तव §21§, 3· चर्चास्तुति §23§, 4· अम्बास्तुति §23§, तथा सकलजननीस्तव §35§ । इन स्तवों में साहित्यिक सौन्दर्य के साथ ही साथ तान्त्रिक तथ्यों का भी मनोरम उद्घाटन है ।

3· सुभगोदयस्तुति -- शंकराचार्य के दादागुरु "गौडपादाचार्य" की यह रचना तान्त्रिक तथ्यों के विश्लेषण तथा श्रीचक्र के विवरण के लिए नितान्त प्रख्यात है । इसमें 52 शिखरणी वृत्त हैं । कविता नितान्त उदात्त तथा आवर्जक है ।

4· सौन्दर्यलहरी -- आचार्य शंकर की यह अनुपम कृति है । शंकराचार्य त्रिपुरासुन्दरी के महनीय उपासक थे और आज भी शृंगेरी म० में भगवती की उपासना परम्परा प्रचलित है ।

5· मूक पंचसती - मूककवि द्वारा रचित पांच शतकों का यह समूह अत्यंत प्रसिद्ध रहा है । ये हैं -- §1§ कटाक्षशतक, §2§ मन्दस्मितशतक, §3§ पादारविन्द-शतक, §4§ आर्याशतक, §5§ स्तुतिशतक ।

6· देवीशतक -- यह आनन्दवर्धनाचार्य की अनुपम कृति है । कवि ने पूरे शतक में चित्र-काव्य की शैली से पद्यों का संगठन किया है ।

अन्य शाक्त स्तोत्रों में उल्लेखनीय हैं --

1§ सामराजदीक्षित §मथुरा 16वीं शती के उत्तरार्ध में । कृत्ति त्रिपुरसुन्दरी-मानसपूजा स्तोत्र ।§

2§ द्रविडकवि सुन्दराचार्य कृत "गीतिशतक" ।

3§ दक्षिण के प्रख्यात कवि नीलकण्ठ दीक्षित §17वीं शती§ कृति आनन्दसागरस्तव ।

4§ लक्ष्म कवि §महाराष्ट्र§ चण्डीकुचपंचाशिका ।

5§ कृष्णक पण्डितकृत महाराज्ञीस्तोत्र ।

6§ लल्लादीक्षितकृत आनन्द मन्दिर स्तोत्र ।

देवीस्तोत्र का मूल स्रोत -

ऋग्वेद समस्त आध्यात्मिक शक्तियों का आदि स्रोत है। उसके दसवें मण्डल के दसवें अध्याय में एक सौ पच्चीसवां सूक्त देवीसूक्त के नाम से वर्णित है। इस सूक्त में आठ ऋचाएं हैं। महर्षि अम्भृण की कन्या का नाम वाक् था। वह बड़ी ब्रह्मज्ञानिनी थी। उसने आद्याशक्ति से अभिन्नता प्राप्त की थी। इस सूत्र के ऋषि आम्भृणीवाक् तथा इसके देवता परमात्मा है।

अम्भृण कन्या वाक् ने उत्तम पुरुष के रूप में अपने दिव्यस्वरूप को वर्णित किया है। तदनुसार वह एक महान् शक्ति के रूप में ब्रह्म की आद्याशक्ति तथा उत्पादिका शक्ति है। वह सब देवताओं की प्रेरक है तथा उनके कर्त्तव्यों का पालन कराने में सहायक होती है।[1] समस्त औषधियां व धन-धान्य उसी के द्वारा प्रदत्त हैं जिनसे साधक व विश्व का कल्याण होता है।[2] वह ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण चिकितुषी की उपाधि से युक्त है। भौतिक सत्ता की अद्भुत शक्ति तथा समस्त ज्ञान का विपुल भण्डार उसी में निहित है। देवों ने अनेक रूपों में उसकी उपासना की है।[3]

---

1. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नि अहमश्विनोभा।।
--ऋग्वेद, 10/10/125/1.

2. अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुतपूषणं भगम्।
अहं देधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते।।
--वही, 10/10/125/2.

3. अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकीतुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।।
- वही, 10/10/125/3.

ब्रह्म की यह व्यवहार शक्ति सब कार्यों के पीछे वर्तमान रहती है और जीवन-प्रदायिका है । समस्त इन्द्रियां इसके द्वारा ही नियन्त्रित है ।[1] देवताओं तथा मनुष्यों का कल्याण चाहने वाले ही उस शक्ति के कारण शक्तिशाली बनकर संवर्द्धित होते रहते हैं ।[2] दुष्ट दमन हेतु अपने रौद्र रूप में वह अनन्द शक्ति संजाए रहती है । मनुष्यों में प्रतियोगिता की भावना में उसी का स्वरूप विद्यमान है ।[3] अपने विश्व रूप में वह सर्वव्यापक है । परोक्ष रूप से वह सृष्टि की जीवन-दात्री है ।[4] वायु की तरह निरन्तर प्रवाहित रहने वाली वह शक्ति आकाश से भी परे और पृथ्वी से निम्नवर्ती स्थानों पर अपना सर्वस्व साम्राज्य स्थापित किये रहती है ।[5]

---

1. मया सो अन्नेमत्तियो विपश्याति यः प्राणिति य ईंगृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उपेक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेवं ते वदामि ।।
--ऋग्वेद, 10/10/125/4.

2. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरूत मानुषेभिः ।
य कामये त तंमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।।
-- वही, 10/10/125/5.

3. अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्माद्विषे शखे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ।।
-- वही, 10/10/125/6.

4. अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व न्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वाताभूं द्यां व ष्मणोपस्पृशामि ।।
-- वही, 10/10/125/7.

5. अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिनासं बभूव ।।
--वही, 10/10/125/8.

श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम् की समालोचना -

कथावस्तु का विवेचन -

श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम् श्रीविद्या की मूल अधिष्ठात्री श्रीबालात्रिपुरसुंदरी की उपासना में समर्पित भावनाओं की रचना है । साधक कवि ने रचना के प्रारंभ में जन्म-जन्मान्तरों के आवागमन से व्याकुल मानव को भोग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति हेतु मंगलाचरण का निर्माण किया । "पुनरपिजननं पुनरपि मरणं" के सिद्धान्तानुसार जीव विविध योनियों में भ्रमण करता रहता है । अनन्य शरण भाव से भक्तिपूर्वक जगदम्बा के चरण कमलों की उपासना भुक्ति और मुक्तिप्रद होती है । मां जगदम्बा अपने वात्सल्य भाव से स्तोत्रकार और स्तोत्र से स्तवन करने वाले की सर्वदा रक्षा करती है ।

श्रीभगवती का दिव्यधाम -

चन्द्रमण्डल में भगवती का स्थान है, ऐसा सिद्धसम्प्रदाय द्वारा अभिहित है । चन्द्रमण्डल के स्तवन से पूर्ण चन्द्रमा की षोडशी अमृतकला-स्वरूपा महाविद्या को निवास के लिए कवि का कथन है --"सौधं सौधं तुहिनकिरणा कीर्णकोणान्तरालं" ।

श्रीभगवती का ध्यान -

स्तोत्र में भगवती का ध्यान करने के लिए तन्त्रामय परम्परा का निर्वाह किया गया है । यथा - पूर्णप्रकाशमान रात्रि, रक्तवसना, अक्षमाला आदि को धारण करने वाली तथा अभयमुद्रा और अभिलाषितार्थ प्रदान करने वाली ।

निजजननी भाव से विश्व-मातृत्व शक्ति की आराधना -

इस स्तोत्र में पहले निज जननी भाव से वैयक्तिक निष्ठा तदनन्तर व्यष्टि से समष्टि भाव में बढ़ते हुए विश्व-मातृत्व शक्ति के रूप में पराम्बा का स्तवन किया गया है । पुण्य कर्मनिष्ठ व्यक्ति सर्वदा उसकी कृपादृष्टि के पात्र होते हैं । साधक अपने [illegible] करते हैं ।

अद्वैतदृष्टि प्राप्ति का मूल कारण -

जीव ब्रह्म का अंश होता है। जिस प्रकार प्रकाश लुप्त होने पर महा-प्रकाश में मिल जाता है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म में मिलने के लिए सचेष्ट रहता है, यही पुरुषार्थ की चरम परिणति है। जीव और ब्रह्म की भेद-दृष्टि का पर्यवसान परमज्ञान से होता है एवं यह अद्वैतज्ञान भी जन्मान्तरों की साधना के फलस्वरूप जो अर्जित होता है, वह पूर्णाहन्ताविमर्श भी पराम्बा के अनुग्रह से ही प्राप्त होता है।

विविध बीजों की फल स्तुति -

रचनाकार ने श्रीभगवतीस्तवन से विविध बीजों की फल स्तुति की है। यथा - सारस्वत बीज से कवित्व शक्ति की प्राप्ति[1], वाग्वादिनी बीज से चिच्छाक्ति का स्फुरण होकर जीवन मुक्ति की प्राप्ति[2], मध्यम बीज ख की उपासना से सम्मोहन शक्ति की प्राप्ति[3], कामराज बीज की उपासना से दरिद्रता को तुरन्त नष्ट करने की प्राप्ति[4], तीर्य बीज की उपासना से तेज की वृद्धि होती है, इसके द्वारा तीनों लोकों के जीव उसके आधीन रहते हैं।[5] इसे शक्तिबीज भी कहा गया है।

श्रीभगवती जगदम्बा की पादादिकेशान्त स्तुति -

स्तोत्र-वाङ्मय में ऐसा विधान है कि गृहस्थों को पादादि स्तुति करने

---

1. धन्या:केचित् कविमुकुटता प्राप्तिहेतुं स्मरन्ति।
2. वाचां बीजं शिरसि सततं संस्मरन्तो हसन्त:।
3. त्रलोक्यं ते क्षणसमयत: के पि सम्मोहयन्ति।
4. दारिद्रयोत्थां सकलविपदं तत्क्षणाद् द्रावयन्ति।
5. ये ध्यायन्ति त्रिभुवनवशीकारदक्षा नरास्ते।

से लौकिक फलों की सद्यः प्राप्ति होती है, पारलौकिक फलों की प्राप्ति के लिए केशादिपादान्त स्तुति करनी चाहिए, वैसे दोनों ही प्रकार के स्तोत्र भुक्ति-मुक्ति प्रदाता हैं। इस रचना पादादिकेशान्त स्तुति है। सर्वप्रथम चरणारविन्द, तत्पश्चात् ऊरुद्वय, नितम्बप्रदेश, उदरभाग, प्रथम दक्षिणहस्त, प्रथम वामहस्त, द्वितीय दक्षिणहस्त, द्वितीय वामहस्त, कंचुकी, वक्षःस्थली, मुखमण्डल, नासिका, मन्दस्मित, ताटंक, गण्डयुगल, नेत्रकटाक्ष, नेत्रयुगल, भ्रूयुगल, मस्तक, केश, केश-वक्रिमा, वेणी तथा सर्वव्यापक तेजस्वी प्रभामण्डल का तादात्म्य भाव वर्णन किया गया है।

जगद्गुरु शंकराचार्य ने सौन्दर्यलहरी में मुकुट से लेकर चरणारविन्द तक का शिख-नख वर्णन किया है। पारलौकिक फल प्राप्ति के लिए इसी प्रकार का वर्णन किया जाता है।

स्तोत्र का भावगत महत्त्व -

इस चराचर संसार के समस्त व्यापार का नियमन किसी अव्यक्त शक्ति के द्वारा निरन्तर होता रहा है। यही अव्यक्त शक्ति सर्वधिष्ठातृ और सर्व-व्यापिका है। इसे ही पराशक्ति कहते हैं। वह पराशक्ति ही अपने वामा, ज्येष्ठा और रौद्री स्वरूपों से तथा इच्छा, ज्ञान और क्रिया के बल से निग्रहा-नुग्रहादि पंचकृत्यों को करती है। कहीं उसमें शिव का आभास होता है, कहीं शिवशक्तिमयता का, किन्तु वह सब आभासों में विद्यमान रहती हुई भी उनसे परे है, यही उसकी विलक्षणता है। इसी विलक्षणता को आगमों में स्वातन्त्र्य कहा गया है।

सांसारिक दृष्टि से शक्ति का प्रत्यक्ष मनोरम रूप जननी ही है। यह जननी निसर्ग-करुणामयी होने के साथ ही सर्वदा अपनी संतान की हित-कामना करने वाली रहती है, अतः अधिकतर भावुक भक्तों ने महाशक्ति का जननी-भाव से ही सादर स्तवन किया है। यह स्तवन श्रीविद्या की मूल अधिष्ठात्री

श्रीबाला-त्रिपुरसुन्दरी की उपासना में किया जाता रहा है । प्रस्तुत स्तोत्र भी इसी उपासना की एक शृंखला है । इस स्तोत्र के अध्ययन से निम्नलिखित भावों का उदय होता है ।

क॥ जन्म-जन्मान्तर ग्रहण से मुक्ति

ख॥ अन्तर्बाह्य विशुद्धि

ग॥ सांसारिक कष्टों से उद्धार

घ॥ बाल-सुलभ वृत्ति से सान्निध्य प्राप्ति

च॥ विश्व-मातृत्व शक्ति की आराधना

छ॥ भगवती की साकार उपासना कल्याणमयी·

क॥ जन्म-जन्मान्तर ग्रहण से मुक्ति -

साधक कवि ने माँ भगवती से जन्म-जन्मान्तर ग्रहण करने के चन्द्र से मुक्ति चाही है । जीव विविध योनियों में भटकता हुआ अन्त में मनुष्य देह की इस कर्म योनि को प्राप्त होता है । अतः वह इससे मुक्त होना चाहता है । कवि ने इच्छा प्रकट की है --

भ्रामं भ्रामं विविधजननीगर्भगेहान्तरेषु,
श्रान्तश्श्रान्तस्तवपदयुगं प्राप्यविश्रान्ति हेतोः ।
शान्तस्स्वान्तश्चरणपतितः पर्त्थयेत्वां नितान्तं,
मातर्मा तः । परमनुभवं जन्मनोदेहि मह्यम् ।।[1]

ख॥ अन्तर्बाह्य विशुद्धि -

जब तक जीव का पापसमूह विद्यमान रहता है तब तक वह जन्म-मरण के चक्र में भ्रमित रहता है । इस क्रम में उसे अन्तः और बाह्य अनेक प्रकार के

1· श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, श्लोक 1, पृ0 2·

मल मलिन करते रहते हैं । इनसे छुटकारा पाकर ही वह भगवतीस्तवन का अधिकारी बनता है । यह सब ज्ञान में होता है अथवा अज्ञान में इसका बोध जीव को नहीं होता । कवि का कथन है --

भन्तूनन्तं गमय विहितान् जानता जानता वा
तन्तूँस्तन्यून् विदलय मदुल्लासितांहो म्बररय ।
किन्तून् किन्तूदितबहुदये । स्वान्ततोन्यस्य बाह्ये,
रन्तुं नन्तुं त्रिसमयमये । सन्तु ते पादधूल्य: ।।[1]

माँ भगवती को अत्यंत दयालु (बहुदये:) कहकर इन आन्त: और बाह्य मलों से मुक्ति की प्रार्थना की है ।

ग) सांसारिक कष्टों से उद्धार -

भगवती की कृपा से सांसारिक कष्टों से मुक्ति मिल जाती है। संसाररूपी समुद्र में डूबे हुए लोगों को तारने वाली भगवती ही हैं । इस भाव से स्तोत्रकार कहते हैं --

संसाराब्धौ कलुषभसृणे मज्जतां त्वं नराणां
पोत: को पि स्फुरति इति यच्छ्रूयते भक्तवर्गे ।
तच्चेत् सत्यं जननि । गणनातीतकारुण्यमूर्ते ।
निर्वेदं मे हर हरमुखादुद्गते । त्वत्सुतस्य ।।[2]

"हरमुखादुद्गते" सम्बोधन ध्वनि-परक है । तंत्र-शास्त्र में भगवती की उत्पत्ति भगवान् शंकर के मुख से मानी गई है । आगमानुसार भगवान् शंकर संहार-मूर्ति भी माने गये हैं, संहार-मूर्ति से ही जिनकी उत्पत्ति है, ऐसी महादेवी

1. श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, श्लोक 2, पृ0 3.

2. वही, पृ0 7, श्लोक 7.

के स्मरण-मात्र से संहृति या अनिष्ट के भय का निर्मूल होना स्वाभाविक है । इस प्रकार माँ भगवती ही सांसारिक बाधाओं को समाप्त करती हैं ऐसा श्रद्धा-भाव यहाँ उदय होता है ।

घ) बाल-सुलभ-वृत्ति से सान्निध्य प्राप्ति -

भक्त जब बाल-सुलभ वृत्ति द्वारा माँ भगवती से प्रार्थना करता है तो माँ का हृदय अवश्य ही करुणार्द्र हो जाता है । लोकनीति में पिता से पहले पुत्र पर माता का अधिकार होता है । भक्त कवि ने आर्त स्वर में भक्ति की अतिशयता से इस स्तोत्र में प्रार्थना की है । यह प्रार्थना बाल-सुलभ-वृत्ति से भगवती के सान्निध्य भाव को प्रकट करती है । एक श्लोक द्रष्टव्य है --

अम्बा डिम्भं त्यजति वद किं क्वापि दुर्नीतियुक्तं
शिक्षां सम्यग्वितरतितरां प्रत्युत स्वांक गाय ।
एवं लोके जननि । सततं दृश्यते वो ब्रुवे हं
शिक्षामात्रं कुरु झटिति नाभंकमारोप्य पश्चात् ।।[1]

यहाँ बालभक्त के कथन का भाव है कि यदि मैं किसी भाँति अयोग्य भी हूं तो यह आपका ही दोष है । भक्त साधक अपने आराध्य से इस प्रकार के उपालम्भ किया करते हैं ।

च) विश्व-मातृत्व शक्ति की आराधना -

विश्व-मातृत्व शक्ति की आराधना से ही पुण्य धर्म करने की भावना का उदय होता है । पुण्य कर्मों से उत्तम लोक प्राप्त होते हैं । तादात्म्य-भाव वाले व्यक्तियों को ही भगवद् विग्रह की अनुभूति होती है । ध्यान की

---

१. श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, श्लोक १, पृ० १.

चरमोत्कर्षावस्था में पुलकित नयन और गद्गद वाणी वाले व्यक्तियों को ही अपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है । यही सिद्धावस्था है जिसमें विद्यमान होकर भक्त विश्व-मातृत्वशक्ति की आराधना में तल्लीन हो जाया करता है । स्तोत्रकार कहते हैं --

श्रद्धाभक्तिप्रणयमधुरोदारबद्धाञ्जलीना-
मानन्दोद्यन्नयनविगलद्वाष्पपूरोज्ज्वलानाम् ।
हर्षोत्कर्षा स्फुटतयवचश्चातुरीधुर्वहानां
जंघालानां त्वमसि सुलभा व्याजकारुण्यमूर्ते ।।[1]

मां भगवती नैसर्गिक करुणा की मूर्ति है । उनकी कृपा श्रद्धा और भक्ति से युक्त ध्यानमग्न व्यक्तियों को सुलभता से प्राप्त हो जाती है । सहज ही भक्त आनन्द से पुलकित होकर नेत्रों से वाष्पपूरित उज्ज्वल आनन्दाश्रु बहाने लगता है ।

छ) भगवती की साकार उपासना का भाव -

भगवती के चरणकमलों में निरन्तर ध्यान रखने से वांछित कामनाएं पूर्ण हो जाती है । अरूद्वय का ध्यान करने वाले मनुष्यों के प्रति आकृष्ट होकर प्रेम करने लगती है । नितम्ब बिम्ब कष्टों से मुक्त कर देते हैं । उदर भाग का ध्यान जन्म-जन्मान्तरों के भ्रमण को विनष्ट कर देता है । दक्षिणहस्त से वरदान प्राप्त होकर समस्त भ्रम व अज्ञानता नष्ट हो जाती है । वाम हस्त से निर्भयता का विश्वास उत्पन्न होता है । कंचुकी साधक के समस्त पापों को पी जाती है । वक्षःस्थल और मुखमण्डल का ध्यान भक्तों को अनुपम पवित्रता देता है । नासिका कष्टों का निवारण करती है । नेत्रकटाक्ष का ध्यान समस्त सम्पत्तियों का प्रदान करने वाला है । भ्रू युगल के ध्यान से अंकारी चित्तवृत्तियों का दमन होता है । मस्तक के ध्यान से शंकाओं का निवारण तथा केशों के ध्यान से समस्त पापों की कालिमा नष्ट हो जाती है ।

---

1. श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, श्लोक 13, पृ0 11.

श्रीदेव्यास्तोत्रम् की समालोचना

विषय-वस्तु की विवेचना -

भगवती भवानी के लिए समर्पित इस स्तोत्र में साधक कवि ने भवानीमाँ को समस्त पापों का हरण करने वाली, अभय व वरदान देने वाली, वात्सल्य स्नेह की महिमामयी माता के रूप में स्मरण किया है। माँ भवानी के अतिरिक्त इस भूमण्डल पर शरणागत की रक्षा करने की सामर्थ्य अन्य किसी में भी नहीं है। आचार्यपाद लिखते हैं --

अयि माम् वद शर्व भामिनि शरणं,
संप्रति कुत्र यान्यहम् ।
त्वदृते नहि किंचिदस्ति मे,
वसुधायां शरणं मनागपि ।।[1]

श्रीदुर्गासप्तशती में भी इसी प्रकार की प्रार्थना की गई है[2] -

रोगानशेषानपहंसि तुष्टा
रुष्टा तु कामान् सकलानभीष्टान् ।
त्वामाश्रितानां न विपन्नराणां
त्वामाश्रिता ह्याश्रयतां प्रयान्ति ।।

आचार्यपाद ने जगज्जननी की करुणामयी माँ के रूप में प्रार्थना करते हुए बतलाया है कि माँ को अपना दुष्ट-पुत्र भी प्यारा होता है वह उसके दोषों को जानते हुए भी कभी उसकी उपेक्षा नहीं करती।

प्रिय एव खलोपि जायते,
जननीनां स्वसुतो ह्यसंशयम् ।

---

1. श्रीदेव्यास्तोत्रम्, श्लोक 1, पृ0 2.

2. श्रीदुर्गासप्तशती, अध्याय 11, श्लोक 21, पृ0 165.

अहमस्मि शिशुस्तवाम्बिके,
करुणार्द्र कुरु वीक्षणं मयि ।।[1]

आद्याशक्ति के तीन रूप ही इस संसार में प्रसिद्ध हैं । महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली । महासरस्वती के रूप में भारती माँ समस्त कविवृन्द को कवित्वशक्ति प्रदान करती हैं । आचार्यपाद के मतानुसार भी माँ भगवती के चरण-कमलों की सेवा से ही कवित्व शक्ति प्राप्त हुई है अत: वे वंदना करते हैं :-

सकलं कविवृन्दमम्ब ते,
अकलंकं भजते ध्रि पंकजम् ।
समलं कुरु मंगलेन माम्,
समलं मां किमुशंकसे सुतम् ।।[2]

श्रीशंकराचार्य ने भी इस आशय को इस प्रकार प्रकट किया है[3]

कवीन्द्राणां चेत: कमलवनबालातपरुचिम्,
भजन्ते ये सन्त: कतिचिदरुणमेव भवतीम् ।
विरिंचिप्रेयस्यास्तरुणतर शृंगारलहरी-
गभीराभिर्वाग्भिर्विदधति सतां रंजनमभी ।।

भगवती भवानी अभयदान देकर समस्त विश्व को संसार के भय-भाव से दूर कर देती हैं । साधक के मन में जो संसार-सागर में मग्न होने का भय है वह उनकी कृपा से शीघ्र नष्ट हो जाता है । जब साधक अत्यंत आतुरता के साथ श्रीमाँ के चरणों में अपने आप को पूर्णत: समर्पित कर देता है तब माँ उसके समस्त कष्टों को दूर करके भव-भय से मुक्त कर देती है ।

---

1. श्रीदेव्यास्तोत्रम्, श्लोक 3, पृ० 2.
2. वही, श्लोक 5, पृ० 2.
3. सौन्दर्यलहरी, श्रीशंकराचार्य, श्लोक 16, पृ० 23.

स्तोत्र का भाक्त महत्त्व -

भक्तिप्रधान रचनाओं में देवविषयक रति को ही भाव माना गया है । इस स्तोत्र के अध्ययन से भक्ति भावों का विकास होता है । भवानी माँ अपने भक्तों पर सर्वथा करुणापूर्ण दृष्टि डालकर उन्हें मंगलों से अलंकृत करती हैं । जिस प्रकार कोई भी माँ अपने पुत्र को दोषी नहीं समझती उसी प्रकार भवानीमाँ भी शरणागत आये भक्त में कोई दोष नहीं देखती । जब भवानीमाँ का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है तब समस्त पाप स्वत: ही नष्ट हो जाते हैं । कष्टों को समूल नष्ट करने की क्षमता भवानी के अतिरिक्त और किसी में नहीं है । माँ के आश्रय प्राप्त करके ही भय-भाव दूर होते हैं । अभयदान प्राप्त करके ही साधक अपनी साधना में तल्लीन रह सकता है । इस प्रकार की भावनाओं को जन्म देने वाला यह स्तोत्र देवी-भक्तों के मन मन में शाक्त-पूजा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है । श्रद्धेया माँ की करुणाधारा से भक्त-पुत्र का कल्याण होता है । वह संसार-सागर में मग्न होने के भय से मुक्त हो जाता है । आचार्यपाद का कथन है --

हर मे हर वामलोचने
सकलां त्वं मलपंक संहतिम् ।
भवभूरि भयापहारिणी
भवसिंधौ भवभीतिचेतसाम् ।।

निरन्तर भक्तिभावना में स्थित होकर परमविह्वलता से जो भक्त अश्रु-पूरित नेत्रों से साधना करता है वही परमपद को प्राप्त होता है । अपने आपको इष्ट के समर्पित कर देना ही भक्त की भक्ति-भावना है । द्रष्टव्य है आचार्यपाद की श्रीमाँ के चरणों में यह समर्पित श्लोक --

मम मातरिदं श्रृणुष्व मे
वचनं नेत्र-जलेन मिश्रितम् ।
वद रोदिमि कस्य संमुखं
{वहते{ न्दस्थल मेवनास्ति मे ।

"बालकं मां पाहि" की समालोचना -

कथावस्तु का विवेचन -

"बालकं मां पाहि" देवीस्तोत्र है । जगन्माता मां भगवती से आचार्यपाद अपने उद्धार की प्रार्थना करते हैं । साधककवि ने आपको आलम्बनहीन बालक माना है । बालक अपने माता-पिता पर ही निर्भर रहता है । इस स्तोत्र में कवि ने सांसारिक सगे-सम्बन्धियों को अपना आश्रयदाता न मानकर केवल भवानीमां को ही अपना आसरा माना है । जन्मजन्मान्तर के कष्टों से शीघ्र मुक्ति हेतु और त्रिविध दुःखों से छुटकारा पाने के लिए साधक-भक्त के पास इष्टदेव के अतिरिक्त और कोई भी सहारा नहीं होता । सांसारिक प्राणी किसी न किसी मोहवश ही प्रेमभाव रखते हैं । कवि की मां के प्रति दीन प्रार्थना द्रष्टव्य है --

विलम्बं हेतुतः कस्मात् करोषित्वं मुधामातः ।
उपेक्षातो मदीयाया अधो धो जायते पातः ।।[1]

भक्त कवि के हृदय की विह्वलता का उत्कृष्ट रूप इस स्तोत्र में वर्णित किया गया है । सांसारिक विषय-वासनाओं से आक्रान्त होकर भक्त निस्सहाय रूप में इष्ट को ही एकमात्र आश्रय मानता है । हृदय की यह विह्वलता भक्त की पवित्रता का प्रतीक होती है । इस श्लोक में इसी भाव को प्रस्तुत किया है--

एकतानो पेक्षते यं वारिवहं यथा चातः ।
त्वामतो दीनबन्धो मां पाहि शरणागतं मातः ।।[2]

स्तोत्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि साधक कवि भवानी मां का

---

1. बालकं मां पाहि, श्लोक 3, पृ० 13.

2. वही, श्लोक 4, पृ० 14.

प्रिय भक्त है जो जन्म-जन्मान्तर से उसकी साधना करता हुआ मुक्ति हेतु विचरण कर रहा है । यथा --

मयि त्वं साम्प्रतं स्तुत्या यदि प्रीतासि हे मात: ।
कृतार्थो नेन तर्हि स्यां त्वदीय: काशिको जात: ।।[1]

"काशिको जात:" ऐसा कहने से यह आभासित होता है कि माँ भवानी भक्त को पहले से ही जानती हैं । उन्हीं की कृपा से वह जन्म-जन्मान्तर में उनका परमशिष्य रहा है ।

यह स्तोत्र भक्ति-भावना का चरम स्तोत्र है । जिसमें भक्त का समर्पण भाव प्रस्तुत हुआ है । भक्त हृदय की निश्छलता, भवानी माँ का अनुग्रह प्राप्त करने की अभिलाषा तथा अपने कष्टों से मुक्ति पाने की उत्कृष्ट विह्वलता इस स्तोत्र में समाहित होकर व्यक्त की गई है ।

स्तोत्र का भावगत महत्त्व -

इस रचना के अध्ययन से निम्नलिखित भक्तिभाव उत्पन्न होते हैं --

1. भवानी का सदालम्बन रूप
2. भवानी के प्रति अनन्य भक्ति
3. मातृत्व-भाव (वात्सल्य-स्नेह).

भवानी का सदालम्बनरूप -

इस रचना में भगवती माँ को सदासर्वदा आलम्बन के रूप में स्मरण किया है । भवानीमाँ ही प्राणियों का आलम्बन है । उसकी कृपा-दृष्टि के बिना कोई भी जीव मुक्त नहीं हो सकता है । आचार्यपाद लिखते हैं--

---

1. बालकं मां पाहि, श्लोक 5, पृ0 14.

बालकं मां पाहि सद्यो निरालम्बं जगन्मातः ।
त्वमेवालम्बन मद्यमिदानीं सर्वमेकातः ।।

भवानी के प्रति अनन्य भक्ति -

इस स्तोत्र में माँ भगवती के प्रति अनन्य भक्ति का स्वरूप प्रकट किया है । कोई भी सांसारिक प्राणी सदैव कल्याण की मंगल-कामना भी नहीं करता । माँ भगवती ही अपने परिवार में सभी जीवों का कल्याण करने वाली हैं --

न माता नैव मे भ्रातास्वसा नैवास्ति मे तातः ।
सुहृदात्वां विहायैका हितैषी को पि हे मातः ।।

मातृत्व-भाव -

स्तोत्र में साधक कवि ने अपने आपको एक पवित्र बालक के रूप में प्रस्तुत किया है । कुपुत्र को भी माता अपना पुत्र मानकर उसके प्रति स्नेह रखती है । कवि ने अपने जन्म-जन्मान्तरों में माँ भवानी के पुत्र होने का स्मरण भी कराया है । यथा --

मानसेत्वं मन्यसे किं महापापो यमस्तीति ।
न माता हीनचारित्रं सुतं त्यक्तुं समर्था तः ।।
मयित्वं साम्प्रतं स्तुत्या यदि प्रीतासि हे मातः ।
कृतार्थो नेन तर्हि स्यां त्वदीयः काशिको जातः ।।

श्रीमहानुभवशक्तिस्तवः की समालोचना -

विषय-वस्तु की विवेचना -

सिद्धजन योगादि अभ्यास से आत्मसाक्षात्कार का अनुभव करते हैं । आत्मानुभव पूर्ण आनन्दमय हुआ करता है । अनुभव के पश्चात् व्युत्थान की दशा में उस अनुभव का संस्कार मानव को मस्त बना देता है । इसी मस्ती के दौर में

उसके मुख से ऐसे शब्द निकलते हैं जिनमें उस अनुभव की झलक सी चमकती है । वेदादि उच्चकोटि का वाङ्मय इसी प्रकार प्रकट हुआ । प्रकृत स्तोत्र भी इसी प्रकार के महान् अनुभव को प्रस्तुत करता है ।

परमेश्वर का स्वरूप -

परमेश्वर पूर्णचैतन्य स्वरूप है । उसे "सच्चिदानन्दकन्द" कहा जाता है । सत्, चित् और आनन्द वस्तुत: भिन्न-भिन्न वस्तुएं न होकर एक ही वस्तु के नाम हैं । वह परमेश्वर शुद्ध-बुद्ध निरंजन है । वह चेतन है । चैतन्य ही उनका पूर्ण आनन्द है । परमेश्वर वस्तुत: पूर्णतया प्रकाशरूप है । वही विमर्श है । परिपूर्ण प्रकाश को कल्पना से प्रकाश रूप मानकर परमेश्वर को शिव और विमर्श रूप मानकर उसे शक्ति कहते हैं । इस तरह शिव और शक्ति एक ही परमशिव के दो नाम है । कल्पना से इनमें द्वैत का भान होता है, किन्तु अविकल्प साक्षात्कार में उनकी शिवशक्तिरूपता का भास होता रहता है ।

परमेश्वर की स्पन्द शक्ति -

परमेश्वर की विमर्श शक्ति को स्पन्द कहते हैं । इस स्पंद शक्ति के कारण पूर्ण होते हुए भी परमेश्वर अपूर्ण से लगते हैं । एक होते हुए भी अनेक से प्रतीत होते हैं । अपूर्ण जैसे बनकर विश्व को अपने आप से भिन्न मानते हैं । एक ओर घट-पट आदि के रूप में ठहरकर अतीव संकुचित होकर ज्ञेय बन जाते हैं और दूसरी ओर से शरीर प्राण आदि बनकर संकुचित ज्ञाता बन जाते हैं । अनन्त रूपों में ज्ञाता और ज्ञेय बन जाते हैं । यह सब कुछ किसी वस्तु को पाने के लिए या किसी दूसरी वस्तु के प्रभाव से नहीं करते । यह सब कुछ अपने पूर्ण स्वातन्त्र्य के ही कारण करते हैं । परमेश्वर की इसी स्वातन्त्र्य-क्रीडा का नाम संसार है । अत: संसार परमेश्वर से भिन्न कोई वस्तु नहीं । परमेश्वर का ही एक विचित्र रूप है, उसी की शक्ति का विकास है । वैचित्र्यमय विश्व को प्रकट करने की सूक्ष्म-सामर्थ्यशक्ति ही परमेश्वर की परमेश्वरता है । यही शक्ति स्पन्द कहलाती है ।

भगवतीश शक्ति के पांच रूप -

पांचभौतिक संसार के वैचित्र्य में पराशक्ति के अनन्त रूप देखने में आते हैं । माया दशा को प्राप्त होने तक इस पराशक्ति की कई दशाएं प्रकट होती हैं । अद्वैत से द्वैताद्वैत और उससे द्वैत प्रकट होता है । द्वैत को भेदाभेद दशा कहते हैं । भेदाभेद दशा की स्थिति में भगवती शक्ति के भी भिन्न-भिन्न रूप प्रकट हो जाते हैं । उन रूपों में पांच रूप प्रधान हैं । ये हैं --

1) चित् शक्ति

2) निवृत्ति शक्ति

3) इच्छा शक्ति

4) ज्ञान शक्ति

5) क्रियाशक्ति.

1. चित् शक्ति -

बीज से वृक्ष के निर्गम की भांति परमेश्वर से विश्व का निर्गम होता है । इस निर्गम को विसर्ग कहते हैं । विसर्ग करने वाली परमेश्वर की चैतन्यशक्ति वैसर्गिकी शक्ति कहलाती है । सिद्ध लोग श्रीचक्र के मध्य में स्थित बिन्दु को शिवशक्तिमय परमशिवस्वरूप मानते हैं । अनन्तवैचित्र्यपूर्ण संसार इसी पराशक्ति का विकासमात्र है । पारमेश्वरी शक्ति सदैव परिपूर्णरूप ही होती है, संसार के विसर्ग से वह रिक्त नहीं होती । स्तोत्रकार का कथन है --

प्राक् सर्गतो पि परतो पि च मध्यदेशे
सांसर्गिके ज सकले परिपूर्णरूपा ।
नैसर्गिकी परशिवाकृतिबिन्दुबीजम्
वैसर्गिकी जयति शक्तिरनन्तवीर्या ।।

यह पराशक्ति अनन्तवीर्या और परिपूर्णरूपा है । सृष्टि से पहले सारा संसार इसी के भीतर सूक्ष्मरूप में विद्यमान था, सृष्टि के अनन्तर भी इसी में स्थित रहेगा । देश, काल, आकार तथा क्रियादि जो कुछ इस सृष्टि और

प्रलय के बीच में ठहरने वाली स्थिति की दशा में प्रतीत होता है, सब कुछ परस्पर सम्बन्ध रूप ही हुआ करता है।

2. निर्वृत्तिशक्ति -

निर्वृत्तिशक्ति को शिक्ततत्त्व कहा जाता है। शिव तत्त्व में सम्पूर्ण विश्व परिपूर्ण अहं में ही विलीन हुआ रहता है। उस दशा में केवल आत्मा ही आत्मा प्रकाशित होती है। सारा ब्रहमाण्ड आत्मरूप ही होता है। निर्वृत्ति शक्ति अहं प्रकाशमात्र से ही संसार के समस्त भावों को भर देती है। निर्वृत्ति का ही दूसरा नाम आनन्दशक्ति है। आनन्द जब उच्छलित होता है तो विश्व के रूप को धारण करता है। यह एक क्रीड़ा है जिसके पांच प्रकार है -- सृष्टि, स्थिति, संहार, विधान और अनुग्रह।

सृष्टि - जिससे ~~सार~~ संसार अपने से भिन्नतया प्रकाशित होता है।

स्थिति - इसमें उत्पन्न हुआ संसार कुछ समय के लिए ठहरता है।

संहार - संहार द्वारा समस्त भाव अपने मूल कारण में पुनः लीन हो जाते हैं।

विधान - इसमें जीव अपने वास्तविक स्वरूप को सर्वथा भूल ही जाते हैं।

अनुग्रह - इससे जीव श्रवण-मनन आदि की ओर लग जाता है।

इनको ही पंचकृत्य भी कहा जाता है। स्तोत्रकार का कथन है --

अस्मीतिमात्रभरिताखिलविश्वभावा
बोधाभिनन्दनसमुच्छलितात्मरूपा।
शान्तापि घोरतरघोरतमस्वरूपै
रपभाति संकलितपंचविधप्रपंचा ।।[1]

---

1. श्रीमहानुभवशक्तिस्तवः, श्लोक 3, पृ0 15.

इच्छा शक्ति -

इच्छा शक्ति चित् शक्ति का तीसरा रूप है । इस रूप में समस्त विश्व ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है, इससे भिन्न होकर प्रतीत नहीं होता । यदि निर्वृत्ति को परमेश्वर का विश्वोत्तीर्ण रूप कहें तो इच्छा को विश्वमय तथा चित् को विश्वोत्तीर्ण-विश्वमय रूप कह सकते हैं । यह इच्छा किसी विषय की इच्छा नहीं, यह तो विषयस्पर्श के कलंक से रहित परिशुद्ध एवं अत्यंत सूक्ष्म इच्छामात्र है । इसी को शिव की शक्ति कहा गया है । इसके बिना शिव शव-तुल्य रहता है । ज्ञानशक्ति के विकास में आभासित परम्पराओं की मूलकारणभूत इच्छाशक्ति ही होती है । आचार्यपाद लिखते हैं --

यस्या: स्वतन्त्रकलनाकलिता विचित्रा,
ज्ञानावलीवलयमूलमतीव सूक्ष्मा ।
इच्छाभिधा हृदि झगित्यवभासमाना,
नित्या विराजतितरां शिवभूति भूता ।।[1]

इस प्रकार परमेश्वर की पूर्ण स्वातन्त्र्य शक्ति ही स्वतन्त्र कलना होती है । भगवती जिस तरह निर्वृत्ति शक्ति का रूप धारण करती है उसी प्रकार वह इच्छा शक्ति के रूप में भी प्रकट होती है ।

ज्ञान शक्ति -

ज्ञानशक्ति परमेश्वर का चतुर्थ रूप है । यह शक्ति समस्त श्रुति-स्मृति-आगम आदि शास्त्रों की मूलभूत है । इच्छाशक्ति विकसित होती हुई कुछ स्थूल सी बनकर ज्ञानशक्ति का रूप धारण करती है । वस्तुत: इच्छा के विकास का फल ज्ञानशक्ति है । यही ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति के विकास और स्फार का

---

1. श्रीमहानुभवशक्तिस्तव:, श्लोक 4, पृ0 19.

मूल कारण है । ज्ञानशक्ति के अधिष्ठाता भगवान् सदाशिव हैं । जीवों पर अनुग्रह करना उसका ही काम है । स्तोत्रकार आचार्यपाद का कथन है --

यावत् क्रियाप्रचयपुष्टिनिदानभूता
ज्ञानाभिधा शिवतनूः श्रुतिशास्त्र मूलम् ।
इच्छाविकासफलितं हृदयं क्रियायाः
सर्वत्र या विजयते वत् सा समस्ताम् ।।[1]

क्रिया-शक्ति -

क्रियाशक्ति परमेश्वर का पंचम रूप है । सभी जीवों को इसका अनुभव होता रहता है । कीट से लेकर ब्रह्मा जी तक समस्त जीवों के हृदय में सदैव रहती है । शरीर और इन्द्रियों में भी इसका प्रत्यक्ष रूप देखने में आता है । साधक भक्तों द्वारा भगवान् शम्भु के स्वरूप का ध्यान, धारणा और पूजादि इस क्रिया द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं । आचार्य प्रवर का कथन है --

आब्रह्मकीटहृदयेष्वनुभूयमाना,
सर्वेषु कार्यकरणेषु विराजमाना ।
शम्भोः प्रसिद्धतमवष्मे विकासभूमिः
प्रीणातु सन्ततमियं सुभगा क्रियाख्या ।।[2]

भगवान् शम्भु के शरीर की विकास-भूमि यह क्रियाशक्ति ही है । समस्त करणों अर्थात् इन्द्रियादि क्रिया के साधनों में और घट आदि कार्यों में यही क्रियाशक्ति विराजमान रहती है । श्रीजगद्गुरु शंकराचार्य का भी कथन है --

शिवःशक्त्यायुक्तो यदि भवति शक्तःप्रभवितुं
न चदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।[3]

---

1. श्रीमहानुभवशक्तिस्तवः, श्लोक 5, पृ० 22.
2. वही, श्लोक 6, पृ० 24.
3. श्रीसौन्दर्यलहरी, जगद्गुरु शंकराचार्य, श्लोक 1.

स्तोत्र का भावगत महत्त्व -

श्रीमहानुभवशक्ति स्तोत्र के आत्मसाक्षात्कार की अनुभव सिद्ध रचना है। यह रचना साधक पाठकों के मन में अनेक प्रकार के भावों को प्रकाशित करती है -

1. आत्मा का आनन्दमय अनुभव
2. परमेश्वर के पूर्ण चैतन्यस्वरूप का ज्ञान
3. विषय-वस्तुओं की परमेश्वर में लीनता
4. आत्मा के परिपूर्ण प्रकाशविमर्श रूप का ज्ञान
5. शिवशक्ति की एकरूपता का ज्ञान
6. भगवती पांचशक्तियों का ज्ञान.

आत्मा का आनन्दमय अनुभव - साधक सिद्धजनों की साधना के निरन्तर अभ्यास के कारण कुछ ऐसे अनुभव प्राप्त हुआ करते हैं जिनके निरंतर अभ्यास से आत्मा का आनन्दमय अनुभव प्राप्त होता है। इस आत्मानन्द की अनुभूति साधक को मस्त बना देती है और वह एक अलौकिक आनन्दमय लोक में विचरण करने लगता है।

परमेश्वर के पूर्णचैतन्य का स्वरूप का ज्ञान - परमेश्वर पूर्णचैतन्य होता है यह स्वानुभव से ही सिद्ध हो सकता है। वह शुद्ध बुद्ध निरजन है, उसे सुख, दुःख, मोहादि का न तो ज्ञान ही होता है और न अनुभव। यह चैतन्य ही उनका पूर्ण आनन्द है। इस स्तोत्र के अध्ययन से परमेश्वर के पूर्ण चैतन्य स्वरूप का ज्ञान होता है।

विषय-वस्तुओं की परमेश्वर में लीनता - जीवात्मा को वस्तु के प्रकाश के साथ-साथ विमर्श का भी ज्ञान होता है, किन्तु परमेश्वर के प्रकाश में कोई भी वस्तु विषय के रूप में प्रतीत नहीं होती। समस्त विषय परमेश्वर की आत्मा में लीन हो जाते हैं, अतः परिपूर्ण आत्मा ही का प्रकाश होता है और इसी का विमर्श भी होता है।

आत्मा के परिपूर्ण प्रकाशविमर्श रूप का ज्ञान - जीवात्मा अपनी द्वैत भावना के कारण प्रकाश और विमर्श दोनों स्थितियों को एक साथ देखता है । इस स्तोत्र के अनुशीलन से यह ज्ञान होता है कि परमेश्वर के प्रकाश में विमर्श की स्थिति प्रतीत नहीं होती । अत: आत्मा का परिपूर्ण प्रकाश ही विमर्शरूप होता है । परमेश्वर की इस पूर्ण विमर्शशक्ति को ही शास्त्रों में स्पन्द कहा गया है ।

शिवशक्ति की एकरूपता का ज्ञान - जीवात्मा अपनी कल्पना से प्रकाश रूप मानकर परमेश्वर को शिव और विमर्श रूप मानकर उसे शक्ति कहते हैं । आचार्यपाद द्वारा वर्णित इस स्तोत्र में शिवशक्ति की एकरूपता का वर्णन अनुभव के आधार पर किया गया है । शिव और शक्ति एक ही परमशिव के दो नाम हैं जिनका आधार हमारी दो प्रकार की कल्पना ही है । वे स्वयं कल्पनातीत हैं । केवल अविकल्प साक्षात्कार में ही उनकी शिवशक्तिरूपता का आभास होता है ।

भगवती पांच शक्तियों का ज्ञान -- योगियों द्वारा समाधि अवस्था में भगवती शक्ति के भिन्न-भिन्न रूपों का साक्षात्कार होता है । इन रूपों में पांच रूप अधिक प्रधान हैं । वे हैं -- चित् शक्ति, निर्वृत्ति शक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति । आत्मसाक्षात्कार के लिए इनका ज्ञान बहुत आवश्यक है । यह स्तोत्र इस ज्ञान को प्राप्त करने का भाव जाग्रत करता है ।

रस --

यह रचना भक्ति प्रधान रचना है । मधुर रस से युक्त इस रचना में भगवती-माँ इस भक्ति रस का आलम्बन है । उनकी पांच शक्तियां जो कि भक्त के आत्मसाक्षात्कार में सहयोग प्रदान करती हैं उद्दीपन हैं । भगवती का कुण्डलिनी रूप तथा क्रियामय रूप अनुभाव और भक्त का निर्वेदादि भाव व्यभिचारिभाव है । भक्त हृदय में व्याप्त मधुर भाव ही स्थायि भाव है ।

# अन्य देव स्तोत्रम्

1. श्री पवननन्दनाष्टकम्
2. श्री महागुरु श्रीकृष्ण स्तोत्रम्
3. श्री बालकृष्ण दशकम्
4. श्री रामाश्वघाटी चतुष्ट्यम्

ग॰ अन्यदेव स्तोत्र -

श्री पवननन्दनाष्टकम् स्तोत्र की समालोचना -

कथावस्तु-विवेचन -

श्रीपवननन्दनाष्टकम् स्तोत्र पवननन्दन श्री हनुमान् जी की आराधना मेंरचित है । श्री हनुमान भगवान् राम के परमभक्त व अनन्य सेवक हैं । वे चिरजीवी हैं । श्रीमद्‌वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड में भगवान् राम ने हनुमान जी की उत्पत्ति व वरदानादि के विषय में महर्षि अगस्त्य से पूछा । उसके प्रत्युत्तर में महर्षि ने बतलाया[1] --

श्री हनुमान् जी के पिता का नाम केशरी व माता का नाम अंजना था । केशरी सुमेरू पर्वत पर राज्य करते थे । माँ अंजना के फल जाने हेतु चले जाने पर भूख से व्याकुल हनुमान् ने प्रात:कालीन अरुण सूर्य को फल समझकर उसे खाना चाहा । सूर्य के रथ पर राहु व चन्द्रमा ने ज्यों ही उन्हें अपनी ओर आते देखा तो राहु दौड़कर इन्द्र से सहायता मांगने गये । इन्द्र ऐरावत पर बै० कर आया । ऐरावत को भी फल समझ कर हनुमान् उस पर झपटे । इस पर इन्द्र ने अपने वज्र-प्रहार से उसकी वायीं ठुड्ड तोड़ दी । घायल हनुमान् पर्वत पर गिर गये । वायुदेव को जब पता चला तो वे दौड़कर वहा गये । उन्हें क्रोध आ गया । कुपित होकर उन्होंने अपना जीवों में संचार रोक दिया । इससे प्रजाजन अत्यत दु:खी होकर ब्रह्माजी के पास गये । ब्रह्माजी देव-गंधर्वादि के साथ वायुदेव के पास गये । हनुमान् की गम्भीर स्थिति देखकर ब्रह्माजी को करुणा आ गई । उन्होंने हनुमान् के कष्ट-भार को दूर कर दिया और तत्पश्चात् समस्त देवताओं ने उन्हें आशीर्वाद दिये । इन्द्र ने उनका नाम हनुमान् रखा । इन्द्र के वज्र से उनकी

---

1. श्रीमद्‌वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग 35 व 36.

हनु (ठुड्डी) टूटी थी अत: उन्होंने उसे हनुमान् कहा । सूर्य से तेज, वरुण से चिरजीवी व अन्य देवों से अस्त्र-शस्त्र से अवध्य, विषादहीन, इच्छानुसार वेष धारण व गमनशक्ति आदि का वरदान प्राप्त किया । वरदान प्राप्ति के पश्चात् वे अभय हो गये और उपद्रव करने लगे । भृगु व अंगिरा वंशजों ने उन्हें अपने बल-विस्मरण का श्राप दिया । तथा कीर्ति-गान से पुन: स्मरण होने का वरदान भी दिया । इस प्रकार श्री हनुमान् परमवीर, शास्त्रज्ञ, नीतिज्ञ, रामभक्त तथा सात्त्विक वृत्ति को धारण करने वाले परमदेव हैं ।

इस स्तोत्र में स्तोत्रकार ने वायुपुत्र श्रीहनुमान् जी को दीनों का रक्षक, भय व पापों का निवारक तथा दु:ख-पीड़ितजनों को जीवन के रूप में स्मरण किया है । दुष्टबुद्धि नरों की दुष्प्रवृत्तियों को नष्ट करके उन्हें सद्बुद्धि प्रदान कर सत्प्रवृत्तियों की ओर प्रेरित करते हैं । पवनपुत्र श्री हनुमान् को ही अपने कष्टों से छुटकारा दिलाने वाला मानकर आचार्यपाद उन्हीं की शरण में जाना उचित समझते हैं । श्रीहनुमान् दीनों की प्रार्थना पर ध्यान देकर उनके पाप-समूहों की उपेक्षा करके शीघ्र ही उनका कल्याण करते हैं । महान् तत्त्वज्ञ एवं शास्त्रज्ञ हनुमत् वीर की कीर्ति समस्त संकटों से छुटकारा दिलाने के लिए प्रसिद्ध है । महाकवि व साधक सन्त तुलसीदास जी ने भी हनुमान् जी को सम्पूर्ण क्लेशों व विकारों का हर्ता माना है --

बुद्धिहीन तनु जानके, समरौं पवनकुमार ।
बल,बुद्धि, विद्या देहि मोहि, हरहुं क्लेश विकार ।।

श्रीहनुमाष्टक में भक्त कवि "को नहि जानत है जग में कपि संकटमोचन नाम तिहारो" कहकर संसार के कष्टों से छुटकारा पाने हेतु अपने आराध्य श्री हनुमान् की स्तुति करते हैं -- आचार्यपाद ने भी कहा है --

जगति ते विपुलं प्रथितं यशो,
यदयमेव हि संकट-मोचन: ।
सपदि मय्यपि नाम तथास्तु ते,
पवनन्दन ...

संकटों से मुक्ति दिलाने के कारण ही श्री हनुमान् संकटमोचन हैं यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो यथार्थ नाम वाले नहीं कहला पाते हैं। वस्तुत: श्रीहनुमान् दु:खियों से प्यार करने वाले हैं। वे सभी पर शीघ्र दया करते हैं। जाने-अनजाने वे सभी को प्रसन्नता देते हैं। महर्षि बाल्मीकि का कथन है[1]--

पराक्रमोत्साहमतिप्रताप-
सौशील्यमाधुर्यनयानयैश्च ।
गाम्भीर्यचातुर्यसुवीर्यधैर्ये-
र्हनूमत: को प्यधिको स्तिलोके ।।

अत: श्रीहनुमान् समस्त संकटों व पापों को नष्ट करने वाले परमदेव हैं।

स्तोत्र का भावगत महत्त्व -
-------------------

परमवीर रामभक्त हनुमान् जी की आराधना में रचित यह स्तोत्र भक्तिभाव से परिपूर्ण है। स्तोत्र के पा० से श्रीहनुमत वीर के प्रति निम्नलिखित भाव उत्पन्न होते हैं -

1. दीनजनों के रक्षक
2. त्रिविध भय निवारक
3. दुष्टबुद्धि-दुर्जनों के संहारक।

दीनजनों के रक्षक -
-------------

श्रीपवननन्दन दीनजनों की रक्षा करने में तत्पर रहते हैं। "त्वमसि दीनजनावनतत्परम्"। वे दु:खपीड़ित जनों को जीवन देने वाले हैं। वे दीनों के ऊपर की जाने वाली दया के खजाने हैं।

त्रिविधभय निवारक -
-----------------

श्रीहनुमतवीर त्रिविध भय-निवारक है। वे सदैव भयभीत प्राणियों के

-------------------

1. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, सर्ग 36, श्लोक 44, पृ० 1555.

भय को दूर करने वाले हैं । "त्वमसि भीत-भयाहर:सदा" । समस्त संकटों से छुटकारा दिलाने के कारण ही उनकी संसार में बहुत कीर्ति है ।

"जगति वै विपुलं प्रथितं यशो
यदयमेव हि संकटमोचन: ।"

और भी -

"मम विनाशय दु:ख-कदम्बक"

दुष्ट-बुद्धि-दुर्जनों के संहारक -

श्रीपवनपुत्र को कुमतिनाशन कहा गया है । वे पापों का निवारण करने में भली-भांति सुशिक्षित ह । "त्वमसि पापनिवारण-दीक्षित:" । उनके चरण-कमल ही सद्ब बुद्धि देने वाले हैं । दुष्ट-बुद्धि-दुर्जन उनके नाम से ही भयभीत हो जाता है ।

ऐसे पवनपुत्र हनुमान सर्वथा दीन-जनों का कल्याण करने वाले, कुमति नष्ट कर सद्बुद्धि देने तथा अनिष्टकारी समस्त विघ्नाओं का नाश करने वाले हैं ।

महागुरु श्रीकृष्णस्तोत्रम् की समालोचना -

कथावस्तु - विवेचन -

"क्रियासिद्धि: सत्त्वे: नोपकरणे:" इस मान्यता के अनुसार यह कहा जा सकता है कि महापुरुषों को अपने कार्यों में निरन्तर सफलता मिलते रहना का मुख्य कारण उनकी सात्त्विक वृत्तियां तथा सत्त्व भाव की जाग्रति ही है । आचार्यश्री एक तपोनिष्ठ साधक कवि रहे हैं । वे सर्वतन्त्र स्वतंत्र क थे उन्हें अनेक विद्याओं का अभ्यास था । फिर भी जब कभी किसी विद्या के अभ्यास में कोई कठिनाई उपस्थित हो तो वे भगवान श्रीकृष्ण की आराधना करते थे । श्रीकृष्ण स्वप्नदर्शन आदि के द्वारा उस कठिनाई को दूर करने का उपाय बतला देते । यहां तक कि यदि किसी शास्त्र के किसी सिद्धांत के विषय में यदि उन्हें

कोई शंका होती तो उसे भी भगवान् कृष्ण दूर करते थे । अत: आचार्य महोदय श्रीकृष्ण को गुरुराज मानते थे ।

आचार्य महोदय के पितृश्री का नाम भी श्रीकृष्ण था । अपने पितृश्री से ही उन्होंने सावित्री मन्त्र तथा श्रीविद्या-मन्त्र की दीक्षा प्राप्त की थी । इन्हीं दोनों मन्त्रों के अभ्यास से उन्होंने विविध विद्याओं में सफलता प्राप्त की । अत: अपने पितृश्री को भी वे अपना गुरु मानते थे ।

इस प्रकृत स्तोत्र में अनेक ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो द्वयर्थक हैं । एक अर्थ भगवान् श्रीकृष्ण के साथ और दूसरा आचार्य महोदय के पितृश्री के साथ । कई ऐसे भी शब्द हैं जिनके अर्थ भगवान् कृष्ण के निकट सम्बन्धियों के साथ लगते हैं और दूसरा अर्थ पितृश्री के सम्पर्क में आए व्यक्तियों तथा उनके निकटतम सम्बन्धियों के साथ जुड़ता है ।

स्तोत्र में भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना की है कि वे समस्त शोक-समुद्रों को सुखा देते हैं । उनके नाम से ही पापों का नाश हो जाता है । श्री राधाजी के हृदय में सदा विराजमान रहने वाले मनोहर मयूर पंख से सुशोभित श्रीकृष्ण बांसुरी को अपने हाथ में धारण करते हैं । वे संसाररूपी रोग को नष्ट कर देते हैं । उनके चरण युगल का स्मरण करने से लोगों के सारे पाप जल्दी नष्ट हो जाते हैं । देवराज इन्द्र भी उनके चरणों की वन्दना करते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से ही आचार्यपाद को समस्त जगत् का ज्ञान हो गया था ।

यह रचना श्लेषमयी है । इसमें प्रयुक्त शब्द अपने कम से कम दो अर्थ तो अवश्य रखते हैं । एक भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्धित और दूसरा अपने पितृश्री श्रीकृष्ण शास्त्री से सम्बन्धित । यथा --

श्रीमन्मयूरसुमनोरमपक्षभूषं,
श्रीराधिका-हृदय-कुंजविराजमानम् ।
वंशीं को वरकलाश्रयिणीं वहन्तं,
श्रीकृष्णमेव गुरुराजमहं नमामि ।।

भगवान् श्रीकृष्ण के पक्ष में -- शोभायमान मोर के अतीव मनोहर पंख जिनके शिरोभूषण हैं, जो श्रीराधाजी के हृदयरूपी निकुंज में सदा विराजमान रहते हैं, उत्तम संगीत कला को आश्रय देने वाली बांसुरी को जो हाथ में धारण करते हैं, उन गुरुराज श्रीकृष्ण को ही मैं प्रणाम कर रहा हूं।

पितृश्री श्रीकृष्ण शास्त्री के पक्ष में -- आचार्य महोदय के पितृश्री शास्त्री अपनी प्रथम पत्नी श्री राधाजी के हृदय में विराजमान रहते रहे। "वरकल" उनके वंश का नाम था। श्री मयूरेश्वर उनके बड़े भाई थे। बचपन में उनके काकपक्षों की भूषा बड़ी मनोरम लगती थी। वंश शब्द स्त्रीलिंग विवक्षा में वंशी बन सकता है। श्रीविद्या की उपासना-दीक्षा के कारण वे आचार्यपाद के गुरुराज भी थे।

श्रीराधिका-मुख-महोदधि-पूर्णचन्द्रं
श्रीरुक्मिणी-नयन-नीरज-चित्रभानुम्।
संसार-रोग-हरणोद्यत-वैद्यनाथा-
त्मानं महागुरुमहं प्रणमामि नित्यम्॥

भगवान् श्रीकृष्ण के पक्ष में -- जो श्री राधाजी के मुखरूपी विशाल समूह को उल्लास में लाने के लिए पूर्ण चन्द्रमा हैं, जो श्रीरुक्मिणी जी के नेत्ररूपी कमलों को विकास में लाने के लिए सूर्य है तथा संसार रूपी रोग को हटा देने के लिए उद्यत उत्तम वैद्यस्वरूप हैं उन महागुरु कृष्ण को मैं नमस्कार करता हूं।

पितृश्री श्रीकृष्णशास्त्री के पक्ष में - श्रीकृष्ण शास्त्री की प्रथम पत्नी श्री राधादेवी तथा दूसरी श्री रुक्मिणी थीं। आचार्य महोदय का नाम वैद्यनाथ था। वे संसाररूपी रोग से मुक्त होने के लिए उद्यत रहते थे। श्रीकृष्णशास्त्री के पितृश्री का नाम भी वैद्यनाथ ही था। "आत्मा वैजायते पुत्रः" न्याय से भी यह कथन सही उतरता है।

श्रीमन्महेन्द्र-नुत-पाद-सरोज-युग्मं
श्रीदेवकी-महित-नन्दन-दत्तमानम् ।
श्रीराम-वत्सलमहर्निशमेव चित्ते
श्रीकृष्णदेव गुरुराजमहं नमामि ।।

भगवान् श्रीकृष्ण-पक्ष में -- ऐश्वर्य से विभूषित देवराज इन्द्र ने जिनके चरणकमलों की वन्दनी, श्रीदेवकी के द्वारा पूजित श्री नन्द गोप ने जिनका बड़ा सम्मान किया, श्री बलराम ने जिन्हें बहुत प्यार किया ।

पितृश्री श्रीकृष्णशास्त्री के पक्ष में -- श्री महेन्द्र (पितृश्री के एक प्रिय शिष्य) जिनके चरण-कमलों में प्रणाम करते रहे, श्री देवकीनन्दन जी ने अपने पीठ में उन्हें मुख्य-पण्डित के रूप में नियुक्त बड़ा सम्मान दिया, अपने दूसरे पुत्र रामचन्द्र से जिन्हें बहुत प्यार था ।

गंगाधराद्य-गुरु-पाद-सरोज-पूजा-
सम्प्राप्त-सांग-सरहस्यक-राज-विद्यम् ।
आनन्दनाथममरावलि-पूज्यमानं
श्रीकृष्णमेव गुरुराजमहं नमामि ।।

भगवान् श्रीकृष्णपक्ष में -- गंगाधर भगवान् शिव के चरणों की पूजा करने से जिन्हें समस्त रहस्यपूर्ण सांगोपांग राजविद्या की प्राप्ति हुई, देवताओं द्वारा पूजित आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूं ।

पितृश्री श्रीकृष्ण शास्त्री के पक्ष में - अपने ताऊ पण्डित भट्ट गंगाधर से जिन्होंने समस्त रहस्यों सहित सांगोपांग श्रीविद्या को सर्वप्रथम प्राप्त किया । उनका दीक्षा नाम आनन्दनाथ था । सभी भूदेवों की श्रेणियां उनका सम्मान करती थीं ।

इस प्रकार यह स्तोत्र दोनों पक्षों में अपना अर्थ प्रस्तुत करता है । जन्म-जन्मान्तर से योगाभ्यासी साधकों को ही इस प्रकार श्रेष्ठ कुल में जन्म लेने का अवसर प्राप्त होता है । पितृ रूप में उन्हें एक श्रेष्ठ गुरु की प्राप्ति

होती है । साधक पिता ही भक्त पुत्र को समझ सकता है, उसे साधना में पौन: पुन्येन लगाता रहता है । ऐसे गुरु की कृपा से ही स्वात्मप्रकाश हृदय में प्रकाशित होता रहता है । प्रकाश ब्रह्म की अनपेक्ष सत्ता है और विमर्श उसकी परमेश्वरता का चमत्कार है । यही उसकी आनन्द-घनता है ।

स्तोत्र का भावगत महत्त्व -

यह रचना गुरुभक्ति से परिपूर्ण है । साधना व अध्ययन के समय आने वाली अनेक कठिनाइयों के निवारण हेतु आचार्यपाद भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण करते थे । उन्हें स्वप्नादि के माध्यम से इन कठिनाईयों का हल प्राप्त हो जाता था । ऐसे ही श्रेष्ठ गुरु के समर्पण में यह स्तोत्र समर्पित किया गया है । इस स्तोत्र में श्लेषात्मक पदों को काम में लिया है । इस कारण इसका भाव पक्ष बहुत प्रबल हो गया है । श्लेषार्थ तक पहुंचने के लिए पद के विविध भावों का ज्ञान होना आवश्यक है । गुरुकृपा से समस्त संकट हरण हो जाते हैं । पापों का नाश भगवान्श्रीकृष्ण के नाम जपने से ही हो जाया करता है --

"नामैव ते लभघनिर्हरणाय शोक-
पाथोधिशोषणनुतिं कुरुते बलस्ते ।।"

श्रीकृष्णरूपी महागुरु ही संसाररूपी रोग को हटा देने में समर्थ है । वही वैद्यनाथ भी है । आचार्यपाद लिखते हैं --

"संसार-रोग-हरणोद्यत-वैद्यनाथ-
त्मानं महागुरुमहं प्रणमामि नित्यम् ।"

भगवान् श्रीकृष्ण ही ब्रह्मज्ञानी पुरुष की उत्पत्ति के मूल कारण में विद्यमान रहते हैं । कवि का कथन द्रष्टव्य है --

"तं ब्रह्मवित् - पुरुष - सम्भव मूलहेतुं ।
श्रीकृष्णमेव गुरुराजमहं नमामि ।।"

परमगुरु की कृपा ही ऐसी कृपा है जिसके द्वारा बताये गये मार्ग से समस्त संसार हथेली पर रखे हुए आंवले के फल की तरह पूर्णरूपेण देख लिया जाता है । उसी कृपा से परब्रह्म रूपी अमृत के समुद्रों का ज्ञान भी हो जाता है । आचार्यपाद का कथन है --

यद्दर्शिताध्व-पथिकेन मया समस्तै
ब्रह्मामृताब्धि - परिपूरित-सर्व-भावम् ।
दृष्टं जगत करतला मलकेन तुल्य,
श्रीकृष्णमेव गुरुराजमहं नमामि ।।

पितृभक्ति और गुरुभक्ति की भावनाओं व श्रद्धाओं से परिपूर्ण यह स्तोत्र अद्वितीय रचना है ।

श्रीबालकृष्णदशकम् की समालोचना -

कथावस्तु-विवेचन -

इस रचना में भगवान् श्रीकृष्ण के बालस्वरूप का अत्यंत मनोहारी वर्णन किया है । यमुना नदी के तट पर सुन्दर कदम्ब वृक्षों के समूहों की झुरमुट में बैठे हुए नए बादलों के मण्डल के समान मनोहर तथा पीत वस्त्रों में देदीप्यमान बालकृष्ण अत्यंत सुशोभित हो रहे हैं । ताजा मक्खन से अपने मुख पर खूब लेप किए हुए मयूर पंखों के मुकुट को धार करने वाले, कौस्तुभ मणि से विभूषित, मन्द-मन्द मुस्कराहट के साथ मनोहर मुरली की गूंज को गुंजायमान करते हुए बालकृष्ण ने सभी गोप-गोपियों को अपने वश में कर रखा है । व्रज के कुंजों में श्री राधाजी के साथ प्रेमकला में लगे हुए गोपालकृष्ण सभी प्रकार के कष्टों को नष्ट करने वाले हैं ।

गोपालकृष्ण का यह अद्भुत वर्णन आचार्यप्रवर ने स्वानुभूति के आधार पर किया है । इस कथावस्तु का स्रोत श्रीमद्भागवत महापुराण है । इस महापुराण के दशम स्कन्ध में भगवान श्रीकृष्ण का चरित्र वर्णित किया गया है । बालकृष्ण बचपन से ही असुरों का संहार करने वाले थे । पूतना-उद्धार, शकट भञ्जन, तृणावर्त उद्धार जैसे प्रशंसनीय कार्य उनके बचपन के ही कार्य हैं । श्रीकृष्ण इस पृथ्वी पर अनेक रूपों में जन्म लेकर जीवों का उद्धार करते रहे हैं । उनके वर्ण भी अनेक रहे हैं । श्रीमद्भागवत महापुराण में कृष्ण नामकरण के विषय में श्री गर्गाचार्य जी ने कहा है --

आसन्न वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्यतो नुयुगं तनू: ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गत: ।।[1]

अपनी गोपाल अवस्था में भगवान श्रीकृष्ण ने अनेक राक्षसों का उद्धार किया और अंत में कंस का उद्धार करके पृथ्वी को असुरों के भार से मुक्त किया ।

श्रीकृष्ण का गोपाल रूप भक्त कवियों को बहुत ही अच्छा लगा है । हृदयानुभूति की उत्कृष्टता के अनुसार ही भक्त कवियों ने उनके गुणगान किये हैं । श्रीकृष्ण आचार्यपाद के गुरुराज भी थे अत: उनके हृदय में इष्टदेव के साथ-साथ उनका गुरुरूप भी विद्यमान था । यही कारण है कि उनके द्वारा ग्राह्य विषयवस्तु में भगवान श्रीकृष्ण को अज्ञान व पापों से मुक्त करने वाला कहा गया है । गोपालकर उनके मानसदेव हैं । हृदय के देवता का हृदय में वास होने के बाद फिर किसी का प्रवेश संभव नहीं । कविवर रहीम का कथन है --

प्रभु मूरत हृदये वसि, पर छवि कहां समाय ।
भरी सराय रहीम लखि,आप पथिक हरि जाय ।।

भगवान श्रीकृष्ण के इस गोपालरूप में एक ओर जीवों (गो) के उद्धार का भाव निहित तो दूसरी ओर कठिनाईयों के निवारक गुरु भाव का रूप भी समाया हुआ है ।

---

1. श्रीमद्भागवत महापुराण, महर्षि वेदव्यास, दशमस्कंध, अध्याय 8,श्लोक 13.

स्तोत्र का भावगत महत्त्व -

श्रीकृष्ण भक्ति से परिपूर्ण यह रचना भक्तिरस की रचना है । रचना के पाठ करने से भक्तजन अपने अभीष्ट प्रयोजन को प्राप्त करने में सक्षम हो सकते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण का चरित्र मनुष्य मात्र को नहीं अपितु देवों को भी आश्चर्य में डाल देता है । ऐसे महान् चरित्र के प्रति भक्ति-भावना की पुनः पुनः जाग्रति ही इस स्तोत्र का मुख्य उद्देश्य है । भगवान् श्रीकृष्ण का शक्ति, शील और सौन्दर्य-सम्पन्न रूप ही भक्तों को आकर्षित करता रहा है । उनमें अनन्त शक्ति है । अपने बाल रूप से ही उन्होंने अनेक राक्षसों का वध कर डाला । बड़े-बड़े राक्षसों को गेंद की तरह पटक-पटक कर जीवन-मुक्त कर दिया । अपने शील के कारण वे व्रज के नर-नारियों के हृदय में एक विशेष स्थान प्राप्त कर सके । शौर्य-प्रदर्शन के समय या अति दीर्घकाय राक्षसों से युद्ध करते समय व्रज के नर-नारियों की शुभ-कामनायें उनके साथ रहती और वे अपने कार्य में सफल हो जाते ।

सौन्दर्य की प्रधानता तो उनमें अद्वितीय थी । प्रस्तुत रचना भी उनके सौन्दर्य का बोध कराती है । नव-बादल जैसा सुन्दर सांवला रंग, पीत वसन, मुरली की मधुर-ध्वनि, विशेष चमत्कृत आभूषण तथा चेहरे की मन्द-मन्द मुसकान । ये सभी श्रेष्ठ सौन्दर्य के निमित्त हैं । इस प्रकार श्रीकृष्ण के शक्ति, शील और सौन्दर्य का भाव बोध इस रचना से प्राप्त होता है ।

श्रीरामाश्वघाटीचतुष्टयम् की समालोचना -

कथावस्तु विवेचनम् -

श्रीरामाश्वघाटी चतुष्टयम् "श्रीरामचन्द्रमहमाराधये मनसि धाराधरशभव-पुषम्" इस समस्या पूर्ति में लिखा गया स्तोत्र है । इसमें कुल चार श्लोक हैं जो अश्वघाटी नामक छन्द में लिखे गये हैं ।

भगवान् श्रीराम एक अवतार के रूप में भारतीय धार्मिक एवं सांस्कृतिक वाङ्मय के प्रमुख चरित नायक माने जाते हैं । काशीपति विश्वनाथ शिव अपने हृदय में सदा श्रीराम का ध्यान करते रहते हैं । वे शिव के हृदय में सारूप्यता को प्राप्त किए रहते हैं । वीराधिप, निज-पदाराधनारत जनाराधनासु निरत, धीराकृति, परमुदाराशय, सुरजनाराधिताङ्घ्रियुगलादि विशेषणों से युक्त श्रीराम की आराधना आचार्यपाद ने की है । श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम् के बालकाण्ड के प्रथम सर्ग में श्रीराम का चरित्र इसी प्रकार का वर्णित हुआ है । आदिकवि लिखते हैं --

"इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमानवशी ।।
बुद्धिमान नीतिमान् वाग्मी श्रीमांछत्रुनिबर्हणः ।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः ।।
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः ।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ।।
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः ।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ।।

xx x x xx x x x xx

"जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः ।।"[1]

आचार्यपाद के अनुसार "राम, "राम" की रट लगाने से ही भवसागर से पार हुआ जा सकता है । काशीपति शिव का भी यही आदेश है कि वाराणसी

---

1. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे बालकाण्डे प्रथमः सर्गः, श्लोक 8-27, पृ० 25-26.

में राम नाम का जप करने वाला भी मुक्त हो जाता है । श्रीराम के उदारहृदय को गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इस प्रकार वर्णित किया है --

मोसम दीन न दीन हित, तुम समान रघुवीर ।
अस विचार रघुवंशमणि, हरहु विश्वंभर भीर ।।[1]

भगवान् शिव के आदेश को प्रस्तुत करते हुए स्तोत्रकार लिखते हैं--

कीरायितापि भव-वारांनिधे-
र्भवति पारायणाय ननु सा ।
श्रीराम राम इति मारारि-
शासनमुदाराश्रयं बहुमतम् ।।
धीराः समेति यदपाराश्रयेण,
सुजनारामममादरयुतं
श्रीरामचन्द्रमहमाराधये
मनसि धाराधराभवपुषम् ।।[2]

भगवान् शिव का "राम राम" रटने के आदेश का आश्रय बहुत उदार है, उसका आश्रय लेने से बुद्धि और लक्ष्मी दोनों की प्राप्ति हो जाती है । यहां धारी: पद का अर्थ है -- धी: = बुद्धि:, रा: = लक्ष्मी ।

भगवान् श्रीराम की आराधना में लज्जा नहीं करनी चाहिए । लज्जा से आराधना की प्रवृत्ति मन्द पड़ जायेगी और उससे संसाररूपी कारागार में रहने की अवधि भी बढ़ जायेगी । आचार्यप्रवर कहते हैं --

भीराशि-नाश-करमारात्-करं
विपदपाराणंवस्य महत:

-----------------------

1. श्रीरामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास.

2. श्रीरामाश्वघाटीस्तोत्र, श्लोक 2, पृ0 32.

दारिद्र्यं विपदा दूरीराहता किल यदाराधने,
तु भव-कारालयं वितनुते ।।[1]

इस प्रकार भगवान् राम की आराधना से अपार दरिद्रता व विपदा का सर्वथा नाश हो जाता है । मनोवांछित फल प्राप्त हो जाते हैं ।

भाव-पक्ष -

इस स्तोत्र में भगवान् श्रीराम की आराधना की है । स्तोत्र के पाठ से श्रीरामचन्द्र की आराधना का भाव मन में उत्पन्न होने लगता है । मानव-जीवन मुक्ति के लिए व आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए आतुर होता है । संसार के कष्टों से छुटकारा पाने के लिए उसे भौतिक व आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शक्ति की आवश्यकता होती है । इस स्तोत्र के पाठ से इन दोनों शक्तियों में वृद्धि व चैतन्य उत्पन्न हो सकता है । भगवान् श्रीराम अपने भक्तजनों को संतुष्ट करने में संलग्न रहते हैं । उनके नाम की ध्वनि-उच्चारण से ही तीनों लोकों में उद्धार हो जाता है । भौतिक सुख के साथ-साथ आध्यात्मिक अभ्युदय की प्राप्ति भी होने लगती है । अतुल महिमा वाले उस नारायण की उपासना से बुद्धि और लक्ष्मी दोनों की सहज उपलब्धि होने लगती है । इस प्रकार भगवान् राम की भक्ति के भाव इस स्तोत्र से उत्पन्न होने लगते हैं ।

---

1. श्रीरामाश्वघाटीस्तोत्र, श्लोक 3, पृ0 33.

# सिद्ध पुरुष स्तोत्रम्

1. श्री परशुराम स्तोत्रम्
2. श्री अवधूताभिवादनम्
3. श्री सञ्जीवनी दर्शनम्
4. श्री देशिक दर्शनम्

श्रीपरशुरामस्तोत्रम्

स्तोत्र का कथा-स्रोत -

श्रीमद्भागवत महापुराण के नवम स्कन्ध के 15वें तथा 16वें अध्याय में श्री परशुराम के जीवनचरित का विस्तृत वर्णन मिलता है ।

वंश-परिचय -

पुरुरवा और उर्वशी के संयोग से आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रथ, विजय और जय छः पुत्र उत्पन्न हुए । उनके पंचम पुत्र विजय का पुत्र भीम हुआ । भीम के कांचन, कांचन के होत्र, होत्र के जह्नु, जह्नु के पुरु, पुरु के बलाक, बलाक के अजक, अजक के कुश, कुश के कुशाम्बु और कुशाम्बु के गाधि हुए । गाधि की कन्या सत्यवती का विवाह ऋचीक नाम ऋषि के साथ सम्पन्न हुआ । इस ऋचीक ऋषि के एक कर्ण श्याम वर्ण वाले चन्द्रमा के समान कान्तिमान घोड़े वरुण के पास से लेकर गाधि को इस उपलक्ष्य में भेंट किये । इन ऋचीक के जमदाग्नि उत्पन्न हुए । जमदाग्नि का विवाह रेणु ऋषि की कन्या रेणुका से हुआ । इनका सबसे छोटा पुत्र "राम" कहलाया । इसका अस्त्र परशु था, अतः यह "परशुराम" के नाम से विख्यात हुआ ।

शौर्यत्व -

परशुराम अत्यंत शौर्यवान थे । उनकी वीरता की कहानी अनेक हैं । इनमें एक कथा बहुत लोकप्रिय है । एक बार हैहयराज राजा सहस्रार्जुन मृगया करते हुए दैववश जमदग्नि मुनि के आश्रम पर पहुचे । कामधेनु के आश्रय से तपोधन मुनि श्रेष्ठ ने राजा का पर्याप्त आतिथ्य-सत्कार किया । सहस्रार्जुन ने मुनीश्वर का ऐश्वर्य देखकर कामधेनु को बछड़े सहित बलपूर्वक हरण करके अपनी राजधानी माहिष्मतीपुरी को ले गये । इस घटना को सुनकर परशुराम ने उनका पीछा किया और नगर में प्रवेश करते समय राजा का वध कर कामधेनु को वापिस ले आये ।

मुनि जमदग्नि राजा सहस्रार्जुन व सेना के वध का वृत्तान्त सुन कर बहुत दुःखी हुए । उन्होंने इसके पश्चाताप हेतु परशुराम को तीर्थसेवन के लिए भेज दिया । एक वर्ष तक परशुराम तीर्थयात्रा कर आश्रम लौट आये ।

सहस्रार्जुन के पुत्र अपने पिता का बदला लेने आश्रम आये । वहां उन्होंने मुनि जमदग्नि को भगवान् विष्णु के ध्यान में तल्लीन पाया । राजकुमारों ने उनका वध कर दिया । मां के आर्तनाद को सुनकर परशुराम वहां आये और समस्त वृत्तान्त को जानकर क्रोध से अभिभूत हो गये । उन्होंने सहस्रार्जुन के पुत्रों का पीछा किया और माहिष्मतीपुरी में आकर समस्त पुत्र व पौत्रों का वध कर दिया । साथ ही क्षत्रियों को इस अत्याचार का भागी मानकर 21 बार पृथ्वी को क्षत्रियों से शून्य कर दिया ।

एक बार माता रेणुका नदी तट पर जल लेने गई । वहां उसने कमल मालाधारी गन्धर्वराज चित्ररथ को अप्सराओं के साथ क्रीड़ा करते हुए देखा । चित्ररथ में कुछ-कुछ अनुरक्त मन वाली रेणुका को समय का ध्यान ही नहीं रहा । हवनकाल को बीता हुआ जान वह मुनि के शाप की आशंका से झटपट लौट आई तथा जल का कलश सामने रखकर हाथ जोड़ कर खड़ी हो गई । मुनि ने योगबल से अपनी पत्नी के व्यभिचार को जानकर पुत्रों को उसे मार डालने का आदेश दिया । पिता की आज्ञा की अवहेलना देखकर परशुराम ने अपने भाईयों सहित मां का वध कर दिया । आज्ञाकारी पुत्र के इस शौर्य को देखकर मुनि जमदग्नि बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने परशुराम को वर मांगने के लिए कहा । परशुराम ने अपनी मां व भाईयों को जीवित होने का वर मांगा तथा इन्हें इस घटना के अविस्मरण का भी वर मांगा। मुनि जमदग्नि के तपोबल से ऐसा ही हुआ ।[1]

---

1. श्रीमद्भागवत महापुराण, महर्षि वेदव्यास, 9/15-16, पृ0 169.

शौर्य एवं वीरत्व के अवतार भगवान् परशुराम शैवी सिद्धों की दर्शन विद्या का अभ्यास करने वाले तथा भारतीय आर्य नीति का प्रचार करने वाले भारत के अतिप्राचीन निःस्वार्थ और तपस्वी नेता है । उन्होंने सर्वथा अधर्मियों का विनाश किया । धर्म की स्थापना कर ब्राह्मण वर्ण की रक्षा की ।

श्रीपरशुराम स्तोत्र की समालोचना -

श्रीपरशुराम को चिरजीवी सिद्ध पुरुषों में माना गया है । कहा है --

अश्वत्थामा बलिव्यासो हनूमांश्च विभीषणः ।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः ।।

"श्रीस्वाध्याय" पत्रिका के सम्पादक श्रीहरदेवशर्मा ने परशुराम स्तोत्र के निर्माण का कारण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि आचार्यपाद जब 14-15 वर्ष की आयु के थे उस समय किसी घटना विशेष के कारण ही श्रीपरशुराम जी पर उनका विशेष आदर भाव बढ़ गया । राष्ट्रवादी दृष्टि की चेतना भी परमवीर परशुराम के शौर्यत्व पर श्रद्धा बनाती रही । यह विचार करके कि विश्व के उद्धार के लिए किसी आदर्श विशेष की स्थापना अत्यंत आवश्यक है, श्रीपरशुराम का आदर्श ही विश्व का कल्याण कर सकता है । कई भक्तों के आग्रह से यह विचार पुष्ट होता रहा और श्री परशुराम जन्मदिवस अक्षयतृतीया को मटन §मार्तण्ड भवन§ काश्मीर में चार-पांच घंटे की समयावधि में इस स्तोत्र का निर्माण किया गया ।[1]

1§ स्तोत्र का मुख्य उद्देश्य -

भारतीय आर्य जनता में भगवद्भक्ति के साथ ही साथ कर्मयोग और दुष्ट-दमनकारिणी स्वातन्त्र्यशक्ति को संचारित करना ही इस स्तोत्र का मुख्य उद्देश्य है । एतदर्थ ब्राह्मण ही नहीं, अपितु मनुष्य मात्र के लिए भगवान्श्री परशुराम के आदर्श पर चलना और इस स्तोत्र के पाठ से उनकी महिमा की अर्चना करना प्रत्येक भारतीय का परमधर्म है ।

---

1. श्री स्वाध्याय पत्रिका, पृ० 18, वर्ष 1, सं० 1999 चैत्रमास.

भौतिकवादी विचारधारा ने मानव को अपने सामान्य धर्म से भी विमुख कर दिया है । "सर्वेगुणा: कांचनम् आश्रियन्ते" की भावना ने अर्थ पुरुषार्थ को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान कर दिया है । ऐसे अवसर पर योगेश्वर वीरवर श्री परशुराम का आदर्श चरित्र ही स्मरण करने योग्य है । उस परमवीर ने राक्षसी वृत्तियों को समाप्त करना ही अपना लक्ष्य समझा । अधर्मी क्षत्रियों का इक्कीस बार संहार किया । वे एक सच्चे त्यागी, दानी, ध्यानी, ज्ञानी-विज्ञानी, योगी और विश्वप्रेमियों के आदर्श थे । अन्यायी शासकों को ध्वंस करना, साम्राज्यों को समूल नष्ट करना और उनके स्थान में विश्वप्रेम की सरिता बहाना उनके लिए साधारण बात थी ।

अन्त:प्रेरणा के स्रोत श्री परशुराम का चरित्र स्तुत्य है । उनके चरित्र पर कतिपय क्षत्रिय समर्थक लोग यह लांछन लगाते हैं कि उन्होंने ब्राह्मणों की रक्षा के लिए ही क्षत्रियों का संहार किया था । यह नितांत भ्रामक है । वस्तुत: वे धर्म के प्रशंसक, स्थापक तथा रक्षक थे, उन्हें किसी वर्ग विशेष से द्वेष या वैरभाव नहीं था । ब्राह्मण होते हुए भी जिस क्षत्रियत्व (रक्षा करने की भावना) और शौर्यत्व का परिचय उनके आदर्श जीवन से प्राप्त होता है वह अनुकरणीय है । वस्तुत: भगवान् श्री परशुराम जैसा अवतार "न भूतो न भविष्यति" ।

स्तोत्र का भावगत महत्त्व -

श्रीपरशुराम स्तोत्र का प्रत्येक मनुष्य को पवित्रतम तथा उन्नति के अत्युच्च शिखर तक पहुंचा देने वाला स्तोत्र है । इस स्तोत्र के प्रारंभ में श्रीपरशुराममन्त्र दिया गया है जोकि "मन्त्रमहार्णव" से उद्धृत है । मन्त्र के साथ-साथ करन्यास देकर ध्यान भी दिया गया है । मन्त्र, करन्यास: और ध्यान ये सभी हमारे अन्दर भक्तिभाव को जाग्रत करते हैं । भक्ति या तो स्वकल्याणार्थ होती है किन्तु परत्व भाव की भक्ति में राष्ट्रवादी भावनाओं का विकास

होता है । श्रीपरशुराम की भक्ति इसी प्रकार की है जिससे राष्ट्रीय भावनाएं तथा धार्मिक भावनाएं सुदृढ होकर अन्याय व पराधीनता से रक्षा करने की सामर्थ्य आती है । इस स्तोत्र के पा० करने से निम्नलिखित भावों की जाग्रति होती है --

1. पराक्रमशीलता
2. अन्याय के प्रति असहिष्णुता
3. धर्म-जागृति

पराक्रमशीलता -

भगवान् परशुराम अत्यंत पराक्रमशील हैं । उनका आदर्श चरित्र अनुकरणीय है । श्रेष्ठ पराक्रमधारी उस वीरवर के स्मरण से पराक्रम के भावों का उदय हो जाना सहज ही संभव है । यथा --

मत्तक्षत्रियकृत्तकण्ठविगलद्रक्तौघ सम्प्लावित
भक्ता नुग्रहणं कठोरपरशुं धृत्वा क्तीर्या धुना ।
हप्तोदण्डदुरीहदुष्टदमनो दीना वलीपालको,
धर्मोद्धारधुरन्धरो भृगुवरो रामः समुज्जृम्भताम् ।।[1]

इस श्लोक के भाव यथा उन्मत्त क्षत्रियों के गलों से प्रवाहित रुधिर, उन्मत्त उजड्ड दुष्टों का दमन, धर्मोद्धार में प्रवीण आदि पराक्रम के भावों को उत्पन्न करने में सहायक है ।

अन्याय के प्रति असहिष्णुता -

भगवान् परशुराम ने कभी भी अन्याय को सहन नहीं किया । अन्याय

---

1. श्रीपरशुरामस्तोत्र, श्लोक 2, पृ० 8.

श्रीअवधूताभिवादनम् की समालोचना -

कथावस्तु - विवेचन -

जीवनमुक्त व्यक्ति को अवधूत कहा जाता है । ऐसे महात्मा सर्वत्र समदृष्टि से देखने वाले होते हैं । वे प्रत्येक भले या बुरे भाव में अपने स्वात्म-परमेश्वर को ही देखा करते हैं । उनका भाव सदाशिव में सर्वथा विद्यमान रहता है । उनके हृदय में स्वात्मस्वरूप पुरातन परमेश्वर की सतत गति सर्वथा प्रवाहित रहती है । उनके हृदय में शिवरूपता के अभिमान के उदय होने से कृतकृत्य पाप नष्ट हो जाते हैं और वे सर्वथा आनन्दित होते हैं । स्नेह-घृणा, मान-अपमान, सुख-दु:खादि की स्थिति में वे समता का भाव रखते हैं । शत्रु या मित्र उनके उदार स्वभाव में कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकता ।[1] योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवद्गीता में स्थितप्रज्ञ की अभिलाषा करते हुए लिखा है --

प्रजहातियदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्ट: सुखेषुविगतस्पृह: ।।
दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषुविगतस्पृह: ।
वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।
य: सर्वभानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।[2]

अवधूत महानुभाव सर्वथा सब स्थितियों में स्थित प्रज्ञ ही रहते हैं । यद्यपि

---

1. नमतां प्रियतां वहन्ति नो ते,
न च कुप्यन्त्यवजानतां कदापि ।
विचरन्ति महीतले वधूता:
समतायां हृदयं निधाय नित्यम् ।।
अहितो पि हितो पि वा न येषां
हृदयं क्षोभयितुं भवेत समर्थ: ।
विससर्ज विधि: सुपेशलांस्तान्
भवसन्ताप विहानये वधूतान् ।। - अवधूताभिवादनम्, श्लोक 3-4, पृ0 36.

2. गीता, 2/55-57.

उनके मन में मानापमान से कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती, परन्तु नियति के नियमानुसार उनका अनादर करने वाले पातकी लोगों का विनाश ही संभव है। कामदेव ने उत्कृष्ट कोटि के ऋषि मुनियों को भी अपने प्रभाव से चंचल चित्त वाला बना दिया है। किन्तु अवधूतों पर उसकी कुछ भी नहीं चलती। उनके सम्पर्क में आने पर उसका मद भी दूर हो जाता है।[1] अवधूत सर्वदा तुर्यादशारूपिणी अमृतमयी स्थिति में ही स्थित रहता है। तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके वे इस पृथ्वी पर भ्रमण करते रहते हैं। उनकी धर्म, अधर्म आदि की कारणता नष्ट हो जाती है। सांख्यकारिका में भी लिखा है --

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशात्‌ चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः ।।[2]

अद्वैत भाव से परम-ब्रह्म में स्थित हो जाने की भावना से सम्पृक्त व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाता है। उसके समस्त एकत्रित कर्म, सन्देह और विपर्यय आदि नष्ट हो जाते हैं। वह स्वात्मरूप "ब्रह्म" "सो हम्" की स्थिति में स्थित रहता है। वेदान्तसार में सदानन्द योगी लिखते हैं -- "जीवन्मुक्तोनाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृते ज्ञानतत्कार्यसंचितकर्मसंशयविपर्यादीनामपिबाधितत्वादखिलबन्धरहितोब्रह्मनिष्ठः ।।"[3]

ये समस्त विशेषताएं स्वयं आचार्यश्री पर घटित होती हैं। आचार्यश्री

---

1. मदनो पि यदंघ्रि-सेवयासा-
वभिमानं निजमुझति क्षणेन।
अवधूय मदं समं समानाम्
अवधूतानभिवादयामहे तान् ।। --श्रीअवधूताभिवादनम्, श्लोक 6, पृ० 37.
2. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका 67, पृ० 348.
3. वेदांतसार, सदानंदयोगी, कारिका 216, पृ० 150.

स्वयं अवधूत थे । उन्होंने अपने आनन्द के लिए ही इस स्तोत्र की रचना की । वे लिखते हैं --

> अवधूत पदे तिष्ठन्नवधूताभिवादनम् ।
> स्वप्रीत्यै व्यतनोदुग्र्यं विधानमृतवाग्भव: ।।[1]

श्रीअवधूताभिवादनम् रचना का भावगत महत्त्व -

आत्मभाव को प्रस्तुत करने वाली यह रचना पाठकों के मन में अनेक प्रकार के भावों को जाग्रत करती है ।

अवधूत की समदृष्टि -

अवधूत समदृष्टा होता है । प्रणाम करने वाले से प्यार और अवहेलना करने वाले के प्रति नाराजी का भाव उसके मन में नहीं आता । उसका न कोई शत्रु है और न कोई मित्र । उदार स्वभाव से युक्त वह संसार के सन्ताप को नष्ट करने में संलग्न रहता है ।[2]

अवधूत की अनन्तशक्ति -

अवधूतों की पदवियों पर पहुँचे हुए महापुरुषों के लिए कुछ भी अगम्य नहीं होता । आचार्यश्री लिखते हैं --

---

1· श्रीअवधूताभिवादनम्, श्लोक 8, पृ० 38·

2· नमतांप्रियतां बहन्ति नो ते,
न च कुप्यन्त्यवजानतां कदापि ।
विचरन्ति महीतले वधूता:
समतायां हृदयं निधायनित्यम् ।।
अहितो पि हितो पि वा न येषां,
हृदयं क्षोभयितुं भवेत समर्थ: ।
विससर्ज विधि: सुपेशलांस्तान्
भवसन्ताप-विहानये वधूतान् ।। -- उपर्युक्त, श्लोक 3-4, पृ० 36·

अवधीरित-वेष-भाषितानाम्,
अमृतावर्षि-महानुभावं भाजाम् ।
अवधूत-पदेषु संगतानां
किमुभद्रं किमु वास्त्यभद्रभम् ।।[1]

अवधूत महापुरुष के अनादर करने से उत्पन्न हुई अग्नि में पड़े हुए व्यक्ति का कोई भी महापुरुष उद्धार नहीं कर सकता । उसकी अनन्त आध्यात्मिक शक्ति के समक्ष्य दुर्जेय शक्तियां भी झुक जाती हैं । आचार्यश्री का कथन है --

मदनं हरनेत्र - बाह्नि - दग्धं
कृपया म्बा इ·कुरित सती चकार ।
अवधूत - विमाननाभवे ग्नौ
पतितं जीवयितुं क एव शक्त: ।।[2]

अवधूत की जीवन्मुक्तावस्था -

अवधूत महापुरुष जीवन्मुक्त होते हुए संसृति से भी मुक्त होते हैं वे सांसारिक प्राणियों को भी संसृति से मुक्त होने का मार्ग बतलाते हैं । ब्रह्मा जी ने उन्हें इसी कारण से पृथ्वी पर अवतरित किया है । "महाजनो: येन गता: स पन्था:" की भावना से उनका अलौकिक जीवन अनुकरणीय बन जाता है ।

इस प्रकार यह रचना समता, अनन्त आध्यात्मिक शक्ति और संसृति से मुक्त होने की भावनाओं को जाग्रत करती है ।

---

1· श्रीअवधूताभिवादनम्, श्लोक 1, पृ0 35·

2· वही, श्लोक 5, पृ0 37·

श्रीसंजीवनीदर्शनम् की समालोचना -

कथावस्तु - विवेचन -

श्रीसंजीवनीदर्शनम् काव्य की रचना आचार्यपाद के जीवन में घटित एक घटना के आधार पर की गई है । हिमालय पर्वत की एक घाटी में स्थित मणिकर्ण नामक तीर्थ को देखने की प्रबल इच्छा से आचार्यश्री ने पैदल यात्रा की । किन्नरदेश (रामपुर बुशहर) के आगे शतद्रु (सतलुज) नदी को पार करने पर कुल्लू देश आता है । यहीं श्री परशुराम जी की तपस्थली निर्मण्ड है । पर्वतशृंखला से घिरे हुए इस स्थान को पार करने पर विपाशा (व्यास) नदी आती है । विपाशा के उस पार भुवन्तर नामक पवित्र स्थान है । इस स्थान से ग्यारह कोस पर मणिकर्ण तीर्थ है । इस तीर्थ पर विश्राम करते हुए चतुर्थ दिन को उन्हें अत्यधिक ज्वर हुआ । ज्वरग्रसित होते हुए भी वे वापिस लौटे और मार्ग में सुलानपुरी की एक धर्मशाला में विश्राम किया । ज्वर के कारण अचेतनता को प्राप्त आचार्य को चार दिव्य देहधारी महापुरुषों ने दर्शन दिये ।[1] उनमें सर्वश्रेष्ठ महापुरुष ने जो कि अकेले उनके दायीं ओर थे उन्हें परम शीतल व मधुर जल को उन्हें पिलाया । तत्पश्चात् त्रैयम्बक मन्त्र का उपदेश देकर उसे अपने समक्ष ही बार-बार बोलने का अभ्यास कराया । इस जाप के साथ ही उनका ज्वर शान्त हो गया । आचार्य के जीवन की यह अद्भुत दिव्य घटना ही काव्य के रूप में प्रवाहित हुई है ।

कथा का स्रोत -

काव्य का रचना-स्रोत न तो काल्पनिक है और न ही ऐतिहासिक या

1. अभ्यान्तरे दृश्यमदर्शि किंचित्
 स्वप्नप्रभं दिव्यरहस्यपूर्णम् ।
 न यस्य कस्यापि पुरःप्रकाश्यं
 मयोच्यते स्नेहवशात् सतां तत् ।। -- श्रीसंजीवनदर्शनम्, श्लोक 21, पृ० 13.

या पौराणिक, अपितु आचार्यश्री की एक दिव्यानुभूति ही है । मुख-कथन से पुण्य और पाप दोनों का ही क्षय होता है अतः इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर ही आचार्यश्री ने इस घटना का उल्लेख करना उचित नहीं समझा । किन्तु आचार्यश्री के कतिपय निकटतम ऐसे शिष्य भी थे जिनके आग्रह को टालना उनकी सामर्थ्य के बाहर था । इसी कारण से उन्हें इस महत्वपूर्ण दिव्य घटना का रहस्योद्घाटन करना पड़ा । उन्होंने लिखा है --"मयोच्यते स्नेहवशात् सतां तत्" ।

रचना का प्रयोजन -

आचार्यश्री ने इस रचना का प्रयोजन मृत्युंजय देवता की करुण कृपा का का रहस्योद्घाटन प्रस्तुत करना बतलाया है । इस मृत्युंजय मन्त्र के जाप से सदाशिव परमेश्वर प्रसन्न और सन्तुष्ट होकर समस्त रोगों से मुक्त कर देते हैं । उनका कथन है --

मन्त्रस्य मृत्युंजयदेवताया:
प्राप्तेः कथेयं ननु वर्णिता न ।
अनेन तुष्यन् परमेश्वरो नः
पापादशेषादपि रोगजातात् ।।[1]

मृत्युंजय शिव की भगवती शक्ति की शरण लेने से श्रेष्ठ वैराग्य तथा सुन्दर हृदय की प्राप्ति होती है । वह सर्वदा के लिए उगते सूर्य के समान तेजस्वी हो जाता है । शम्भु के अनुग्रह से उसमें निरन्तर बल बढ़ता रहता है जिससे वह लोकरक्षक बन कर सर्वजन हिताय व सर्वजनसुखाय के लिए कार्य करने में समर्थ हो जाता है । यह शक्ति इस रचना के निरन्तर अभ्यास से प्राप्त हो सकती है । कवि का कथन है --

वैराग्यवान्शोभनहृत्सदैव
प्रोद्यद्विवस्वानिव दृष्टिरम्यः ।

---

1. श्रीसंजीवनीदर्शनम्, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 44, पृ0 22.

यो पि शैवीशरण: स लोक-

नाथो चिराच्छम्भुदयाबलः स्यात ।।[1]

इस प्रकार इस रचना का मुख्य प्रयोजन भगवान शिव के मृत्युंजय मंत्र से प्राप्त शक्ति का रहस्य बतलाना है ।

रचना की समालोचना -

"श्रीसंजीवनीदर्शनम्" अद्भुत रहस्यकथामय पूर्णप्रसादगुणमण्डित स्वल्पकाय कृति है । देवी-कृपा के पात्र पवित्र जीवन की एक दिव्य झांकी इस रचना से स्पष्ट झलकती है । परमेश्वर की परम-कृपा को प्राप्त व्यक्ति विचार व भावशून्य होकर अभिव्यक्ति रहित हो जाता है किन्तु सिद्ध महापुरुषो के जीवन में तो इस प्रकार की घटनाएं सहज घटती ही रहती हैं । सांसारिक प्राणियों के समक्ष उन्हें प्रस्तुत करके वे प्राणियो के मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करते हैं । इस कृति में चार दिव्य महापुरुषों के ज्योतिर्मय दिव्य स्वरूप का साकार वर्णन भगवत भक्ति की ओर प्रेरित है । दिव्य रहस्य से परिपूर्ण इस काव्य का दृश्य अन्त:करण की साधक अभिव्यक्ति है । जिसके अभिव्यक्त रूप इस प्रकार है --

"मणिकर्ण" तीर्थ का महत्त्व -

"मणिकर्ण" तीर्थ लोगों के पापों और रोगों को जड़ों सहित नष्ट कर देता है ।[1] इसके पवित्र स्रोतों से उष्ण जल स्वाभाविक रूप से

---

1· श्री संजीवनीदर्शनम्, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 45, पृ0 22·

2· पापानि रोगाश्च नृणां प्रदादृवा
अस्माभिरेवा त्र समूलदाहम् ।
इतीव तप्तानि विनि:सरन्ति
बहिर्महीत: सलिलानि मन्ये ।।
-- "श्रीसंजीवनीदर्शनम्", श्लोक 4, पृ0 6·

ही प्रवाहित होता रहता है ।[1]

"मणिकर्ण" तीर्थ का मार्ग -

"मणिकर्ण" तीर्थ हिमालय पर्वत की घाटी में पार्वती नदी के तट पर स्थित है । इस पवित्र तीर्थ को देखने के लिए किन्नर देश {रामपुर बुशहर} पहुंचकर शतद्रु {सतलुज} नदी को पार करके कुल्लू देश जाना होता है । कुल्लू देश की पर्वतश्रेणियों को पार करने पर विपाशा {व्यास} नदी आती है । इस विपाशा नदी के तट पर ऊपर की ओर चलते हुए भुवन्तर नामक एक पवित्र स्थान आता है । यहा से पार्वती नदी के उद्गम की ओर ग्यारह कोस {बाईस मील} चलने पर मणिकर्ण तीर्थ आता है ।

दिव्य-पुरुषों का स्वरूप -

ज्वर से निश्चेष्ट होकर मूर्छित पड़े अत्यन्त दीन आचार्य के सम्मुख तीन दिव्य पुरुष बांई ओर और एक दिव्य महापुरुष दाईं ओर अकस्मात प्रकट हो गये । इनके स्वरूप का वर्णन करते हुए कवि कथन है --

लालिमा से अनुरंजित गौर वर्ण, कमल के समान विशाल नेत्र, मुख-मण्डल पर निर्मल मन्द-मन्द मुस्कराहट, सुन्दर नासिका, विशाल मस्तक, सुन्दर कपोल, काले बाल, मध्यम कद, वाले तीन दिव्य पुरुषों ने फूलमालाएं पहन रखी थीं । उन्होंने चांद की ज्योत्स्ना के समान सफेद धोतियां व दुपट्टे तथा रेशमी अंगरखे, सुन्दर जूते, मस्तक पर चमकते मुकुट, कानों में कुण्डल, हाथों में मोती और मूंगे के वलय तथा हीरों की अंगूठियां धारण किए हुए थे । उनके हाथों में बेंत की छड़ियां थीं । चौथे महापुरुष जो उनके दाईं ओर खड़े

---

1. स्रोतांसि शुद्धानि समुच्छलन्ति
   वहत् पवित्रं मणिकर्णतीर्थम् ।
   द्रोण्यां हिमाद्रेः प्रचकास्ति दिव्यं
   निसर्गतप्तानि पयांसि यत्र ।।

   --श्रीसंजीवनीदर्शनम्, श्लोक 3, पृ0 6.

थे वे साक्षात् भगवान् शिव थे। उनका रंग अग्नि के समान कृष्ण पिंगल, सूर्य के समान तेज, पतला शरीर, तेजस्वी व चन्द्रमा के समान आह्लाद देने वाला था। खुले व काले बाल घुटनों तक लम्बे थे। दाढी व मूंछे लम्बी व घनी थीं। विशाल वक्षःस्थल, पतली कमर, मोटे व ऊंचे कन्धे, गहरी नाभि, लम्बी भुजाएं व हृष्ट-पुष्ट शरीर था। उन्होंने गेरुए रंग के पवित्र वस्त्र धारण कर रखे थे। गले में रुद्राक्ष माला व माथे पर त्रिपुण्ड धारण किए हुए थे। बांए हाथ में त्रिशूल और दांए हाथ में कमण्डलु था। उन्होंने अपने पैरों में लकडी की खड़ावें पहन रखी थीं।

मन्त्रेश्वर की कृपा से ज्वर-मुक्ति -

साक्षात् शिवस्वरूप एक दिव्य महापुरुष की कृपा से आचार्यश्री को ज्वरमुक्ति प्राप्त हो गई। इसका वर्णन करते हुए कविवर लिखते हैं --

पादूं वहन् दारुमयी पदाभ्यां
समेत्य शीघ्रं मम दक्षपार्श्वे।
"जलं पिपासाकुलः दीयमानं
मया प्रकामं पिब" इत्युवाच ॥[1]

इच्छापूर्वक जल पीने के आदेश के साथ ही साथ उस त्रिशूलधारी ने त्र्यम्बक मन्त्र का उपदेश किया और कहा --

ऊचे च कामं जप मन्त्रमेनं
स्थितो ऽस्म्यहं सम्प्रति रक्षकं ते।
मन्त्रस्य मृत्युंजयदेवताया
जपान्न जीवातुवरो ऽस्त्युपायः ॥[2]

"मैं यहां खड़ा हूं। तुम इस मन्त्र का खूब जाप करो जो कि तुम्हारा

---

1. श्रीसंजीवनीदर्शनम्, श्लोक 36, पृ० 19.
2. वही, श्लोक 31, पृ० 20.

रक्षक है । मृत्युंजय देवता के मन्त्र से बढ़-चढ़कर कोई भी और जीवन दान देने वाला उपाय नहीं है ।"

मन्त्र के जाप से आचार्यश्री का शरीर ज्वर से मुक्त हो गया । इस प्रभावी मन्त्र का उपदेश देने वाला शिव से अन्य कोई नहीं हो सकता । आचार्य कहते हैं --

तदाप्रभृत्येव जपामि मन्त्रं
त्रैयम्बकं रोग निवारणाय ।
को न्य: शिवाद्वक्तुमलं प्रभावं
मन्त्रस्य तस्या स्य जोतो नभिज्ञ: ।[1]

अर्थात् उसी समय से लेकर मैं रोगों का निवारण करने के लिए त्रैयम्बक मन्त्र का जप करता आया हूं । उस प्रकार के मन्त्र के प्रभाव को कहने में शिव से अन्य कौन अज्ञानी जीव समर्थ बन सकता है ।

श्रीसंजीवनदर्शनम् का भावगत महत्त्व -

श्रीसजीवनीदर्शनम् रचना आचार्यश्री की साक्षात् अनुभूत वृतान्त के स्मरण पर आधारित है । इसका साकार भक्ति भावना की दृष्टि से बहुत महत्त्व है । भगवान् के अनुग्रह से भक्तों के समस्त कष्टों का नाश हो जाता है । रचना के अध्ययन से निम्नलिखित भाव स्वत: ही प्रस्फुटित होने लगते हैं --

तीर्थों में विश्वास जागृति -

पवित्र तीर्थों में ही दिव्य महापुरुष विराजमान रहते हैं । वे ही उनके भ्रमण-केन्द्र होते हैं । पवित्रात्मा व्यक्तियों को इन्हीं स्थानों पर साकार रूप में परमेश्वर दर्शन देकर त्रिविध ताप से मुक्त कर देते हैं । हिमालय की पवित्र गोद में ये पवित्र तीर्थ विद्यमान हैं ।

---

1. श्रीसंजीवनीदर्शनम्, श्लोक 42, पृ0 21.

त्र्यम्बक शिव के अनुग्रह के प्रति भक्ति भाव -

आचार्यश्री को श्रीत्रैयम्बक-मन्त्र-रत्न की प्राप्ति प्रदोष व्रत के दिन भगवान् शम्भु के अनुग्रह से हुई । भगवान् का भक्त पर अनुग्रह हो जाने से स्वयं भगवान् साकार रूप में प्रकट होकर भक्त के कष्टों का निवारण कर देते हैं । त्रिशूलधारी महेश्वर ने अपने भक्त कवि पर ऐसा ही अनुग्रह किया । सदाशिव की यह करुणा हमें भक्तिभाव से युक्त कर देती है ।

दिव्यात्माओं के प्रति श्रद्धा-भाव की जागृति -

रचना में वर्णित चारों दिव्यात्माओं के स्वरूप का वर्णन पढ़ने पर सहज भाव से ही दिव्यात्माओं के प्रति श्रद्धा-भाव की जागृति हो जाती है । दिव्यात्माओं के शारीरिक सौष्ठव का वर्णन, दिव्य देह की दिव्यता का दर्शन और करुणार्द्र भावों की प्रस्तुति से पाठक का मन साकार भाव से सम्पृक्त हो कर अलौकिक आनन्द की अनुभूति कराता है ।

महामृत्युंजय मन्त्र की महत्ता -

भगवान् त्र्यम्बक के मुख से मृत्युंजय मन्त्र का उपदेश और उसे समस्त कष्टों का निवारक मान कर इस मन्त्र के प्रति भक्ति भावना उजागर हो जाती है । इसका महत्त्व कवि ने स्वयं स्वीकारते हुए उसे रोग-निवारण करने का प्रमुख साधन माना है ।

---

## श्रीदेशिकदर्शनम् की समालोचना

### कथावस्तु-विवेचन -

श्रीदेशिकदर्शनम् काव्य में भगवान् दुर्वासा के शारीरिक अंगों, वेशभूषा और प्रकट होते समय की स्थिति का वर्णन किया गया है। महामुनि दुर्वासा को कोपभट्टारक की उपाधि से विभूषित किया जाता है, किन्तु ये मुनिश्रेष्ठ अन्याय व अनियमितताओं के लिए जितने क्रोधी है, उससे अधिक वे भक्तों पर परमदयालु भी हैं। आचार्यश्री ने "श्रीसिद्धमहारहस्यम्" काव्य में अनेकों दिव्य दर्शनों का विस्तृत वर्णन किया है। इन दिव्य-दर्शनों के प्रसंग में ही उन्होंने भगवान् दुर्वासा के दर्शन का उल्लेख मात्र हुआ है। पण्डित श्री बलजिन्नाथ के अनुग्रह पर आचार्यपाद ने उनके ही निवासस्थान कुलग्राम (कश्मीर) में रहते हुए भगवान् दुर्वासा मुनीश्वर का सांगोपांग विस्तृत वर्णन किया जिसे "देशिकदर्शनम्" की संज्ञा दी।[1]

### कथावस्तु स्रोत -

आचार्यपाद जब बालक थे और उन्हें वैद्यनाथ के नाम से जाना जाता था उस समय उपनयन संस्कार कराकर उनके पितृश्री श्रीकृष्ण शास्त्री ने स्वयं "श्रीविद्या" की मन्त्र दीक्षा उन्हें प्रदान की थी। देवी श्रीबालात्रिपुरसुन्दरी की उपासना उनके जीवन का अंग बन गई थी। वे अपनी सभी समस्याओं के समाधान में भगवती त्रिपुरा से ही निर्देश चाहने लगे थे। महामुनि दुर्वासा विरचित देवी त्रिपुरा के स्तोत्र का पाठ उनकी दैनिक उपासना का प्रमुख लक्ष्य बना। जब वे 16 वर्ष के थे तो एक दिन स्तोत्र पाठ में ऐसे तन्मय हो गये कि महामुनि दुर्वासा स्वयं प्रसन्न हो उठे और प्रकट होकर अत्युत्कृष्ट शाम्भव योगदीक्षा प्रदान की जिसकी साधना से इनका अपरोक्ष सत्ता में प्रवेश होने लगा और अनेक दिव्यात्माएं

---

1. श्रीदेशिकदर्शनम्, आचार्य अमृतवाग्भवाचार्य, प्रास्ताविक, पृ० 14.

स्वत: ही मार्ग प्रदर्शन करने लगी ।[1]

भगवान् दुर्वासा का सांगोपांग वर्णन -

काव्य में वर्णित विषय के अनुसार भगवान् दुर्वासा का सांगोपांग वर्णन इस प्रकार है -

भगवान् दुर्वासा का शरीरत पतला और लम्बा है । उनके शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान है । विशाल नेत्रों के तारे शहद के समान पिंगल वर्ण के हैं । पिंगल वर्ण के केश घने और लम्बे हैं । तोते की नाक के समान नाक तथा विशाल कान हैं । रोमयुक्त शरीर पर लम्बी-लम्बी मूंछ और दाढ़ी शोभायमान है । मधुर मुस्कान से युक्त मुख-मण्डल की शोभा, विशाल भाल, चमकदार दन्त, सुन्दर कपोल और प्रसन्न दृष्टि से परिपूर्ण है । शंख के समान वर्तुल ग्रीवा, सुपुष्ट ठोडी, कृशोदर और अरुण वर्ण के हाथ तथा पैर शोभायमान हैं ।[2]

---

1. परमपूज्य श्री बाबा महाराज, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिकशिक्षा एवं शोध संस्थान, जयपुर की पत्रिका, प्रकाशन सं॰ 2040.

कश्मीराभिजनाय विश्वबलजिन्नाथायगोप्यं परं,
वक्तुं वर्णनमेतदस्ति रचितं दुर्वाससः श्रीमतः ।
यो मां षोडशवर्षमात्रमतुलं कारुण्यमालम्ब्य सद्
दत्त्वा दर्शनमग्र्यमध्यगमयच्चैवं रहस्यं परम् ।।-श्रीदेशिकदर्शनम्, श्लोक 13, पृ० 715.

2. तप्तकांचनगौराभः प्रांशुदेहः कृशांगवान् ।
मधुपिंगल-ताराक्षिविशाल-नयनाञ्चितः ।।
पिशंगवर्णकेशाढ्यः शुकनासो बृहच्छ्रवाः ।
लोमव्याप्तसर्वगात्रो सौ लम्बकूर्चो महाभुजः ।।
दीर्घश्मश्रुः स्निग्धवर्णश्चापश्रूः शुभ्रदन्तधृक् ।
विशालभालःस्मेरास्यःसुकपोलः प्रसन्नदृक् ।।
किंचिल्लम्बाननः कम्बुग्रीवः पृथुलमस्तकः ।
महाहनुः शोणपाणिः शोणपादो वृकोदरः ।।- उपर्युक्त, श्लोक 1-4, पृ०109-10.

भगवान् दुर्वासा की वेष-भूषा -

भगवान् दुर्वासा ने अंगोछे के समान एक वस्त्र घुटनों तक लपेट रखा है। ऊपर एक चादर जैसा वस्त्र यज्ञोपवीत की शैली पर धारण कर रखा है। गले में रुद्राक्ष की माला है। सिर पर भी एक माला धारण कर रखी है। कलाइयों में भी छोटे-छोटे रुद्राक्षों के सुन्दर कड़े तथा कानों में रुद्राक्ष पहने हैं।[1]

भगवान् दुर्वासा की महिमा -

प्रशान्त चित्त, निर्मल अन्तरात्मा और सुप्रसन्न वदन भगवान् दुर्वासा की महिमा अपार है। वे तीनों कालों (भूत, भविष्यत् और वर्तमान) के ज्ञाता हैं। मुनियों में श्रेष्ठ भगवान् दुर्वासा निग्रह और अनुग्रह की लीला का अभिनय करने के लिए ही इस पृथ्वीतल पर अवतार के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। धर्म की साक्षात् मूर्ति भगवान् दुर्वासा समस्त वेद और तन्त्रों के ज्ञाता हैं। अपनी लीला के अभिनय में वे प्राय: क्रोध को ही प्रधानता देते हैं।[2]

---

1. जानुदघ्नमधोवासो वसानश्चोत्तरीयकम्।
   किंचिन्मलिनमश्वेतमपि प्रयतमुत्तमम्।।
   दक्षिणं पाणिमुद्धृत्य वसानो ब्रह्मसूत्रवत्।
   रुद्राक्षमालिकां कण्ठे मूर्ध्न्यपि च धारयन्।।
   रुद्राक्षवलये सौम्ये दधानो मणिबन्धयो:।
   भस्मत्रिपुण्ड्मलिके रुद्राक्षौ श्रोत्रयोरपि।। -श्रीदेशिकदर्शनम्, श्लोक 5-7, पृ० 100-11.

2. प्रशान्तधी: प्रसन्नात्मा त्रिकालज्ञो महामुनि:।
   निग्रहानुग्रहौ कर्तुमवतीर्णो महीतले।।
   धर्ममूर्त्तिरयं साक्षान्निगमागमर्मवित्।
   दुर्वासा भगवान् शम्भु: प्रथमो देशिक: सनाम्।।
   स्वरसेन स्वाभिनये प्रायो यं कोपमुख्यताम्।
   स्वीकृत्य कुरुते नाट्यं लोकानुग्रहकारकम्।। - उपर्युक्त, श्लोक 8-10, पृ० 111-12.

कथावस्तु की समालोचना -

"देशिक" शब्द का अर्थ -

आध्यात्मिक गुरु को "देशिक" कहा जाता है । यह गुरु आध्यात्मिक साधना के सभी स्थानों (स्वरूपों) से परिचित होता है और अपने भक्त को उचित पथ का दर्शन कराता है । भगवान् दुर्वासा ऐसे ही महान् आध्यात्मिक गुरु हैं । आचार्यश्री लिखते हैं --

दुर्वाससा भगवता मयि दीनदीने

कृत्वा दयां यदिह दर्शनमस्मि दत्तम् ।[1]

भगवान् दुर्वासा का सांगोपांग वर्णन -

आचार्यश्री अपने गुरुश्रेष्ठ के जो दर्शन किए हैं उसी का सम्पूर्ण वर्णन उन्होंने इस काव्य में किया है । यह काव्य मुनिवर दुर्वासा के सांगोपांग वर्णन के साथ-साथ उनके स्वभाव व उनकी महिमा का भी वर्णन करता है । अत्यन्त गोपनीय इस वर्णन को भी कवि ने भगवान् दुर्वासा को प्रसन्न करने तथा भक्तजनों के कल्याणार्थ प्रस्तुत किया है --

कर्मणानेन भगवान् दुर्वासाः प्रीयतां मय ।

स्वकल्याणं साधयन्तु परित्वेदं जना इह ।।[2]

भगवान् दुर्वासा का स्वभाव -

भगवान् दुर्वासा स्वभाव से ही क्रोधी है । अपने आनन्द की रसानुभूति करते समय जब भी वे अपनी का अभिनय करते हैं तभी प्रायः उनमें क्रोध की प्रधानता आ जाती है । इस प्रधान भाव में स्थित होकर ही वे लोगों पर अनुग्रह करने वाली नाट्यलीला को खेलते रहते हैं । इसी कारण से वे संसार में "कोप-भट्टारक" के नाम से विशेषतया प्रसिद्ध हो गए हैं । आचार्यश्री लिखते हैं --

---

1. श्रीदेशिकदर्शनम्, श्लोक 14, पृ0 115.

2. उपर्युक्त, पृ0 116, श्लोक 17.

स्वरसेन स्वाभिनये प्रायो यं कोपमुख्यताम् ।
स्वीकृत्य कुरुते नाट्यं लोकानुग्रहकारकम् ।।
कोपभट्टारक इति ततो यं सुप्रथायगात् ।[1]

भगवान् दुर्वासा सिद्धों के आदिगुरु -

भगवान् दुर्वासा सिद्धों के आदिगुरु हैं । वे सभी आगम तथा निगमों के ज्ञाता हैं । समस्त तन्त्रों के रहस्यों को जानते हैं । शाम्भवी योग मुद्रा के सिद्धहस्त साधक हैं जिनसे सभी प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं । कवि ने शाक्तदर्शन की दीक्षा दुर्वासा जी से ही प्राप्त की थी । मुनिवर दुर्वासा श्रीविद्या की उपासना का प्रचार करने के लिए ही अवतरित हुए हैं । वे सज्जनों पर अनुग्रह करने वाले तथा दुर्जनों के दलों का उच्छेद करने वाले हैं ।[2]

श्रीदेशिकदर्शनम् स्तोत्र का भावगत महत्त्व -

श्रीदेशिकदर्शनम् स्तोत्र के अध्ययन से मुनिवर दुर्वासा के प्रति गुरुभक्ति की जागृति होती है । मुनीश्वर दुर्वासा ने श्रीविद्या की उपासना द्वारा पराद्वैत भाव की प्राप्ति की । साक्षात् अनुभूति की परम्परा के कारण उन्होंने पराद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की । इस सिद्धान्त के अनुसार एक मात्र अद्वैत

---

1. श्रीविद्यासमुपासनां प्रथयितुं सत्सम्प्रदायक्रमात्,
शिष्टानुग्रहणाय दुष्टनिकरोच्छेदाय यो वातरत् ।
साक्षाद दर्शयितुं समस्तजगतामात्मानमात्मप्रदं,
दुर्वासा भगवान् सदा विजयतां श्रीमान्स्वरूपोगुरुः ।।
--श्रीदेशिकदर्शनम्, श्लोक 12, पृ0 114.

रूप परमेश्वर ही जगत् की लीला का अ अभिनय करता हुआ द्वैत में, अद्वैत में, बन्धन के प्रपंच में, मोक्ष के सोपानों में तथा गुरु-शिष्य रूप में स्वयमेव प्रकट होता है । प्रस्तुत स्तोत्र से इस भाव जगत् की जागृति होती है ।

भगवान् दुर्वासा का वर्णन पुण्यकारक है । भक्तजन अपने कल्याण की प्राप्ति के लिए इसका दैनिक पा० करते रहें तो निश्चय ही उनके पाप नष्ट हो जाते हैं ।[1] इस प्रकार यह स्तोत्र लोकहृदय में पवित्र भावों को प्रकट कर उन्हें संघर्षों से मुकाबला करने की प्रेरणा देता है ।

--

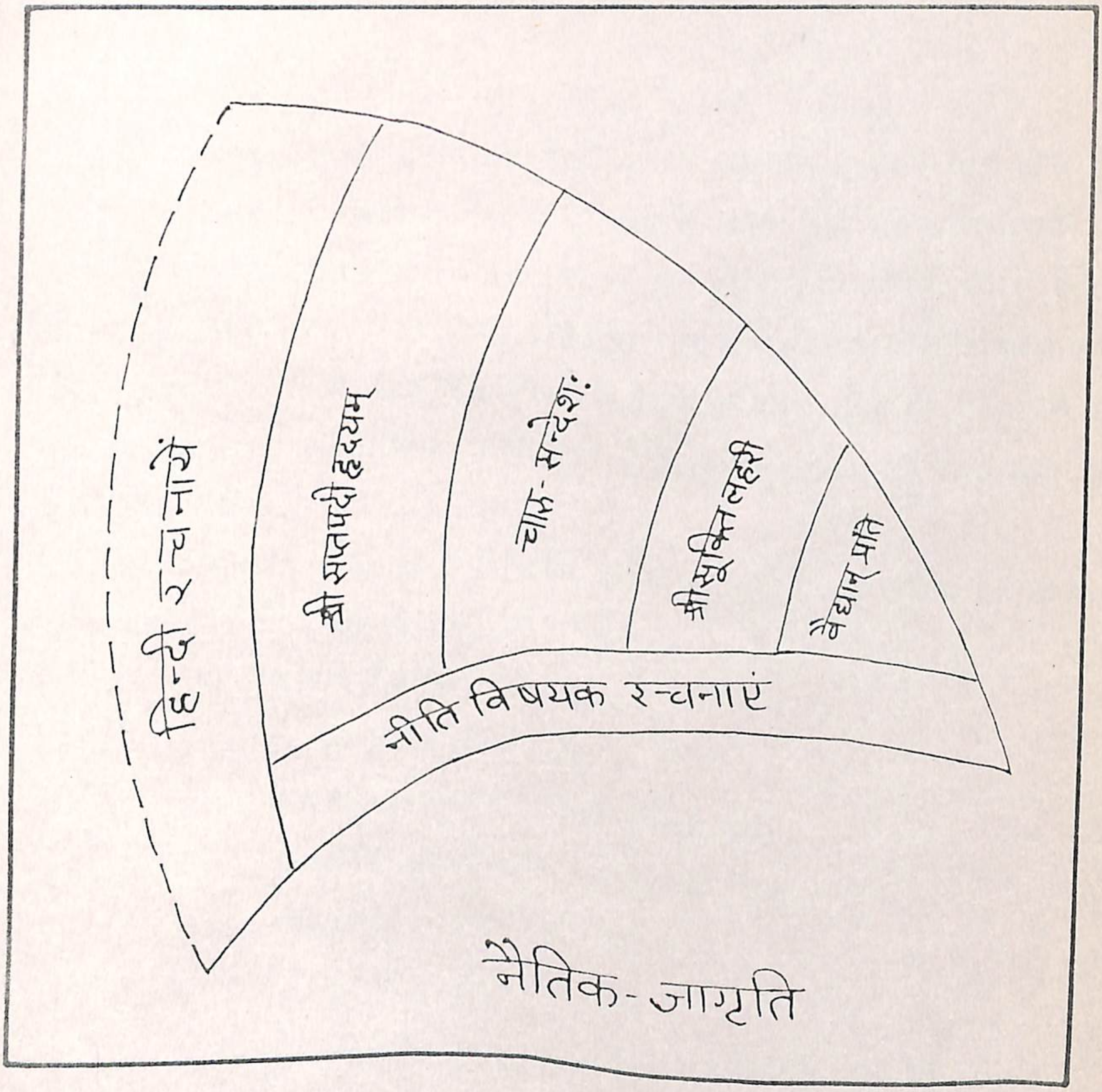
---

1. कर्मणानेन भगवान् दुर्वासा: प्रीयतां मम,।
स्वकल्याणं साधयन्तु पठित्वेदं जना इह ।।
-- श्रीदेशिकदर्शनम्, श्लोक 17, पृ० 116.

# षष्ठम - अध्याय

## नीति विषयक रचनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन

1. श्री सप्तपदी हृदयम्
2. चारु: सन्देश:
3. श्री सूक्ति लहरी
4. वैद्यान् प्रति


हिन्दी रचनायें
श्री सप्तपदी हृदयम्
छात्र-सन्देशः
श्रीसूक्तिलहरी
नीति विषयक रचनाएं
नैतिक-जागृति

"नीतिविषयक रचनाएं"

सप्तपदीहृदयम् -

"सप्तपदीहृदयम्" का कथा-स्रोत -

सप्तपदीहृदयम् चौबीस श्लोकों की एक लघु किन्तु महत्त्वपूर्ण कृति है । इस कृति में विवाह संस्कार के समय वर-वधू के द्वारा लिये गये सात वचनों का वर्णन है । सप्तपदी हिन्दू विवाह संस्कार की उत्तम तथा अंतिम रीति है । यह वर-वधू के मध्य सत्य-प्रेमभाव एवं सौहार्द्रता का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व करती है । गृह्यसूत्रों में श्रेष्ठ वैवाहिक जीवन के दिग्दर्शक सात सूत्रों का उच्चारण करते हुए वर-वधू सात डग साथ-साथ भरते हैं । ब्राह्मण पुरोहित इन सात सूत्रों का अर्थ समझाते हैं ।

सप्तपदीहृदयम् का कथा-स्रोत पारस्कर गृह्यसूत्र की अष्टम कण्डिका से प्रवाहित हुआ है । मूल सूत्र इस प्रकार है[1] --

1. एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु ।
2. द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयतु ।
3. त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयतु ।
4. चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वा नयतु ।
5. पंचपशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ।
6. षड्ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ।
7. सखे सप्तपदाभव सा मामनुव्रताभव विष्णुस्त्वा नयतु ।

---

1. पारस्कर गृह्यसूत्रे ष्टमी कण्डिका ।
अथेनामुदीच सप्तपदानि प्रक्रामयति वर: ।।

इन सात सूत्रों में विष्णुरूप में अन्नादि, ऊर्जादि, धनसम्पत्ति आदि, सन्तानादि, पशु आदि, षड् ऋतु आदि के लिए वधू को एक-एक कदम लेकर चलता है । अंत में सातवें सूत्र में वह कहता है कि "मेरे साथ सात पद चलकर अब तुम मेरी सखा बन गई हो ।" वधू प्रत्येक मांगलिक कार्य में साथ-साथ हाथ बटौंती हुई पद-पद चलती हुई अपनी प्रतिज्ञा निर्वाह की शपथ लेती है ।

सप्तपदीहृदयम् की समालोचना -

मूलकथा स्रोत सूत्र रूप में ही गृह्यसूत्रों में वर्णित है । इसकी आचार्यप्रवर कृत व्याख्या बड़ी सुन्दर है और मानव जाति के कल्याण, समृद्धि एवं सांसारिक हित के लिए सहायक है । यह रचना सात लोकों की विजय के लिए पति-पत्नी के प्रेम की धार्मिक भावनाओं का पोषण करती है । समाजगत अनेक बुराईयों को दूर करके कामजन्य समस्याओं का बहुत अंशों में समाधान करती है । सप्तपदी के सद्वृत्त का आचरण करने से पति-पत्नी धर्मात्मा बनकर इस लोक में श्रेष्ठ मार्ग को ग्रहण करके आनन्दमय वैवाहिक जीवन का भरपूर लाभ उठा सकते हैं । स्वयं आचार्यपाद का कथन है --

"भारतवर्षे खलु सनातनैः पारोवर्यविद्भिः साक्षात्कृतसमस्तजगत्कल्याण-साधनैर्महर्षिभिः संस्थापिते विवाहविधाने कर्मकलापे सर्वोत्तममन्तिमं च कर्म सप्त-पदी नाम । अस्य कर्मणः समाप्तावे च्छेद्यो विवाहो भवति । अतः सर्वश्रेष्ठं कर्मेदं समन्वते विद्वांसः । अत्र हि कर्मणि वरः सप्तपदानि वधूं स्वात्मना सह संचालयति । सप्तपदसंचालनमिदं सप्तश्रेष्ठलोकजयसूचकम् । सप्तैव खलु लोकाः श्रेष्ठाः । तत्पर्यन्त-मेकमत्येन सहगच्छतोः पूर्णमित्रभावो पि स्वरससिद्ध एव । अतएव "साप्तपदीनं सख्यम्" इति महर्षयो निराहुः । सप्तलोकविजयाभिलाषी पुरुषः खलु स्वसाहाय्यय स्वात्मनो बहिर्मुखानन्द परिपूर्णाय च स्त्रियं सप्तधा प्रतिश्रुत्य तत्सप्तलोक विजयायस्वात्मानं पूर्णं प्रति भूत्वेन प्रतिज्ञाप्य च तया सह पूर्णमित्रभावं स्थापयतीत्यहो धन्येयं भारतीया यविवाहसंस्कारपरिपाटीपूतमा न्तिमा च सप्तपदी । तत्र

सप्तपद्यामस्यं वरेणाक्रियमाणस सप्तप्रतिज्ञा "एकमिषे" इत्यादयो ति संक्षिप्ता उक्ता गृह्यसूत्रेषु ।"[1]

{सारे संसार के कल्याण के साधनों को तथा पुरानी से पुरानी एवं नई से नई परम्पराओं को समझाने वाले, भारतवर्ष के सनातन महर्षियों द्वारा चलाई गई विवाह-पद्धति में सप्तपदी उत्तम और अंतिम कार्य है । इस कार्य के पूरे होने पर ही विवाह पूरा होता है । इसीलिए विद्वान लोग इस काम को सबसे ऊंचा मानते हैं । इस कृत्यमें वर-वधू को अपने साथ सात पद चलाता है । यह सात पद चलाना सात श्रेष्ठ लोकों की विजय का सूचक है । उन लोकों तक परस्पर सम्मति से यात्रा करते हुए दम्पति का पूर्ण मित्र भाव अपने आप उत्पन्न होता है । इसी-लिए महर्षि मित्रता को साप्तपदी मानते हैं । सात लोकों की विजय का अभिलाषी पुरुष अपनी सहायता के लिए और अपने बहिर्मुख आनन्द की पूर्ति के लिए स्त्री को सात वचन देकर तथा उससे भी सात लोकों की विजय कराने का पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर उसके साथ पूर्ण मित्रभाव स्थापित करता है । इस प्रकार भारतीय आर्यविवाह संस्कार परिपाटी का उत्तम और अंतिम कृत्य सप्तपदी सचमुच प्रशंसा के योग्य है । इस सप्तपदी में वर के द्वारा की जाने वाली "एकमिषे" इत्यादि सात प्रतिज्ञाओं का गृह्यसूत्रों में बहुत संक्षिप्त वर्णन मिलता है ।}

कथा-वस्तु -
--------

पारस्कर गृह्यसूत्र में प्रथम पद " एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु" --"विष्णु रूप में वर अन्नादि के लिए तुम्हें अपने साथ एक कदम लेता हूं" -- यह सूत्र मिलता है । सूत्र के "इषे" पद की व्याख्या में अमृत भोजन कराने वाली अपनी पत्नी को भूलोक के विजय के लिए तथा राष्ट्र के आदर पात्र बनने के लिए प्रथम पद चलने

----------------------

1. श्रीसप्तपदीहृदयम् - श्रीमद्मृतवाग्भावाचार्य, प्रस्तावना, पृ० 24.

का आह्वान किया है तथा पत्नी द्वारा कमा कर लाये हुए अन्न की सुरक्षा व उससे भोज्य सामग्री तैयार करके परिवार को तृप्त करने का प्रण किया गया है । द्वितीय पद पर " द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयतु" सूत्र की व्याख्या में "ऊर्जे" पद से सुन्दर दृढ शरीर व प्राणशक्ति की उन्नति का आभास कराकर "भुवर्लोक" की यात्रा संगिनी बनाया है । वधू कुटुम्ब के लिए स्फूर्तिदायक एवं आरोग्यप्रद सामग्री को संग्रहीत करने की प्रतिज्ञा लेती है । तृतीय पद " त्रीणिरायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयतु" में अपने को व अपने राष्ट्र को धनादय बनाने हेतु स्वर्गलोक को जीतने की सामर्थ्य में वधू को साथी बनाया गया है । उसे अर्थशास्त्र की विशेषज्ञा से संबोधित किया गया है । वधू आय-व्ययादि का ब्यौरा रखने की प्रतीज्ञा करती है । चतुर्थ पद " चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वा नयतु" मे सुखतत्त्व को समझने वाली पत्नी के साथ महर्लोक को जीतने हेतु चार पद बढ़ाये हैं । वधू परिवार सहित निरन्तर सुख देने का वचन देती है । पंचम पद " पंच पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु" सूत्र से पशुपालन के लिए वधू को साथ लेकर राष्ट्र की उन्नति हेतु जनलोक को जीतने का प्रण किया गया है । दूध, दही, घृत देने वाले, खेती व व्यापार मे सहायक पशुओं के पालन का वचन देती है । षष्ठ पद में " षड् ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु" सूत्र में विशुद्ध कामना वाली वधू को ऋतुओं का सुख भोगने एवं तपोलोक को जीतने की कामना की गई है । वधू सब ऋतुओं में अपना प्रेम देकर प्रसन्न रखने का वायदा करती है । अंतिम सप्तपद " सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु" सूत्र मे मित्रता का भाव प्रदर्शित कर सत्यलोक को जीतने हेतु चलने की कामना की गई है । वधू उत्तम कोटि की मित्र बनकर सभी प्रतिज्ञाओं को हृदय मे धारण करके साथ चलने का वचन देती है ।

इस प्रकार भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक, तथा सत्यलोक पर अपना स्वामित्व जमाने के लिए जो नवदम्पत्ति अपने विवाह संस्कार में प्रण लेता हो उसकी धर्मनिष्ठता एवं कर्त्तव्य परायणता मे कहीं भी शिथिलता नहीं आ सकती । आचार्यपाद ने इस प्रकार की रचना करके जहां एक

और विवाह संस्कार की नैष्ठिकता पर बल दिया है वहीं दूसरी ओर पति-पत्नी के प्रेमपूर्ण साहचर्य भाव को भी प्रकट किया है । इस प्रकार की नीति-विषयक रचनाएं जिस समाज की निधि हों वहा पारिवारिक विग्रह, दरिद्रता, तथा शक्तिहीनता के दर्शन भी नही हो सकते ।

मूल सूत्र स्रोत के सहारे जो अविरल पावनी सरिता का प्रवाह आचार्यपाद ने प्रवाहित किया है उसमें निरन्तर डुबकी लगाने वाला समाज सर्वदा व सर्वथा रोग व दारिद्रय से सुरक्षित रहकर सम्पूर्ण सुखों का उपभोक्ता बन सकता है । श्रीमती सुमति नारलीकर की सम्मति में[1] --

"बहिर्मुखानां ऐहिकसुखैकदेवानां पाश्चात्यानां जीवनं सर्वमपि शिरोधार्य-मनुसरणीयं वेति निश्चित मतीनां नवानां भारतीयानां अज्ञानध्वान्तविध्वंसाय सूर्यसमप्रभं इदं सप्तपदी हृदयं भविष्यति ।"

अर्थात् इस संसार के सुखों को सब कुछ समझने वाले, बहिर्मुख पाश्चात्य जनों की सारी की सारी जीवनशैली शिरोधार्य एवं अनुसरण करने योग्य है ऐसे जिन नई सभ्यता में पले लोगों के विचार बन चुके हैं उनके अज्ञानान्धकार का विनाश करने के लिए यह सप्तपदीहृदय सूर्य के समान प्रकाशवान् होकर रहेगा ।

रचना की मौलिकता -

गृह्यसूत्रों पर आधारित यह रचना अपनी धारणा में नूतन रचना है जिसमें मौलिकता व्याप्त है । मूल रूप से रचना को राष्ट्रीय-भावना से ओत-प्रोत किया गया है । राष्ट्रवासी को चाहिए कि वह अपने राष्ट्र हित चिंतन में लगा रहे । सप्तलोकों की जीत भी राष्ट्र की ही जीत है । मूल सूत्रों में अन्न, शक्ति, धन,

---

1. श्रीसप्तपदीहृदयम्, पृ0 1.

सुखप्राप्ति, पशु तथा षड्ऋतु की आकांक्षा से वर-वधू सप्त पद चलते हैं । इनका अर्थ विस्तार व राष्ट्रवादी रूप कवि का मौलिक चिंतन है । कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं --

"इषे" अर्थ में --

मदतिथिगुरुपुत्रभ्रातृकां समस्तं
विविधविधविधाने साधितैरन्नपानैः ।[1]

"ऊर्जे" अर्थ में --

शौचा चारविचारसाधितपरीणाहेन सम्पोषितः,
स्वो वर्गो हमणि प्रसन्नहृदयःसारांगयष्टिः सदा ।
ऊर्जस्वि प्रभवामि कर्तुमखिलं राष्ट्रं स्वकीयं महत,
तस्माच्चारुदृढांगशोभिनि । भुवलोकं मया दास्यसि ।[2]

"रायस्पोषाय" अर्थ में --

स्वराष्ट्रं धनपूरितं विरचयन्नर्थंशधुर्ये । शुभे ।
स्वलोकं प्रभवामि जेतुमिह हि प्राज्येस्वराष्ट्रेत्वया ।।[3]

"मायोभवाद" अर्थ में --

तत्तसौख्यनिमित्तवस्तुभरितं राष्ट्रं समृद्धं स्वकं
कुर्वन्कीर्तिभवाप्नुवन्निह महर्लोकः जयामित्वया[4]

"पशुभ्यो" अर्थ में --

मेधाकान्तिवला गदत्व रचनं गष्यं परं कारणं
तन्मूल पशुवृन्दपालनमतस्त्वां तदव्यवस्थापने ।
वार्तागे । विनियोज्य राष्ट्र भरणेकुर्वन्प्रयत्नं सदा
जानं लोकमहं त्वया सह पुनर्जेष्यामि शुभाशये ।।[5]

---

1. श्रीसप्तपदीहृदयम्, पृ० 33.
2. वही, पृ० 37.
3. वही, पृ० 41.
4. वही, पृ० 48, श्लोक 11.
5. वही, पृ० 51, श्लोक 14.

"मातृभ्यो" अर्थ में --

राष्ट्रप्रीणनतत्परं सुयशसं वंशं प्रतिष्ठापयन्
जेष्यामि प्रथितं त्वया सहतपोलोकं विशुद्धाशये ।[1]

"सखे सप्तपदा" अर्थ में --

सख्यं साप्तपदीनमत्र मुनय: सम्पूर्णमाहु सदा,
तेन त्वामभिमान्य सप्तममहं लोकं जयामि ध्रुवम् ।
मोक्षार्थं हृदयं विधाय भक्ती राष्ट्रस्य संभावने,
मामेवा नुगता भविष्यति तदा मोक्षो न ते दुर्लभ: ।।[2]

इस प्रकार धार्मिक व सांस्कृतिक संस्कार में राष्ट्रचिंतन की मौलिकता एक नवीन धारणा है जो नवदम्पत्ति के लिए ऐहिक व पारलौकिक दोनों सुखों को प्रदान करने वाली है । इस प्रकार की साधना से परार्थभाव का उदय होकर लोकरंजन व जनकल्याण का भाव उदित होता है । ऋषि परम्परा का यह चिंतन सार्वजनीन सुख देने वाला है ।

रचना का भावगत महत्त्व -
---------------------

सप्तपदीहृदयम् एक धार्मिक ग्रन्थ है । सनातन ऋषि-महर्षियों ने विवाह-संस्कार के तीन प्रयोजन बतलाये हैं ।[3] {1} रति के लिए, {2} पुत्र के लिए, तथा {3} धर्म के लिए । ये प्रयोजन क्रमश: एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं । विवाह-पद्धति में सप्तपदी उत्तम एवं अंतिम कार्य है जो "धर्म के लिए" विवाह से जुड़ा है । सप्तपदीहृदयम् सात गृह्यसूत्रों की सरस व्याख्या होने के कारण ही धार्मिक ग्रन्थ कहलाता है । इस ग्रन्थ के अध्ययन से निम्नलिखित भावों की उत्पत्ति होती है--

-----------------------

1. श्रीसप्तपदीहृदयम्, पृ० 51, श्लोक 17.

2. वही, पृ० 55, श्लोक 20.

1· राष्ट्रप्रेम

2· दाम्पत्य जीवन में अद्वैत भाव की जाग्रति

3· आदर्श गृहस्थ जीवन

4· विवाह संस्कार के प्रति श्रद्धा ।

1· राष्ट्रप्रेम -

इस ग्रन्थ की प्रत्येक प्रतिज्ञा में राष्ट्रप्रेम की भावना सन्निहित है । राष्ट्र को सुदृढ बनाने के लिए जनशक्ति और धनशक्ति की आवश्यकता होती है । वर-वधू के साथ इन दोनों शक्तियों की समृद्धिहेतु प्रतिज्ञा करता है । क्रमश: उदाहरण इस प्रकार है -

जनशक्ति - मदातिथि गुरु पुत्र भ्रातृ वर्ग समस्तं,
विविधविधिविधानैः साधितैरन्नपानैः ।
इह हि परिचरन्ती माननीया स्वराष्ट्रे,
भवसि जयसिलोकं मद्गृहस्था सुधान्शे ।।[1]

अतिथि, गुरु, पुत्र और समस्त सगे-सम्बन्धियों को रुचिकर एवं पौष्टिक पदार्थों के सेवन से प्रसन्न करके राष्ट्र के आदर का पात्र बनने की प्रतिज्ञा की गई है । ऐसा करने पर भूलोक विजय करने का विश्वास दिलाया गया है ।

धनशक्ति- द्रव्यक्षेमविचारभारमखिलंदत्त्वा त्वदीये करे ।
नानोपाय विधानतःस्वयमहं द्रव्याणि सम्प्राजयन् ।।
स्वंराष्ट्रं धनपूरितं विरचयन्नर्थज्ञधुर्ये । शुभे ।
स्वर्लोकं प्रभवामि जेतुमिह हि प्राज्ये स्वराष्ट्रे त्वया ।।[2]

स्त्री को अर्थज्ञ कहकर धन की रक्षा करने तथा राष्ट्र को धनाढ्य बनाने की प्रतिज्ञा की गई है ।

---

1· श्रीसप्तपदीहृदयम्, श्लोक 2, पृ० 33·

2· वही, श्लोक 8, पृ० 41·

2· दाम्पत्य जीवन में अद्वैत भाव की जागृति -

आचार्यपाद ने इस विश्व को शिवशक्तिमय कहकर दाम्पत्य जीवन में अद्वैत भाव की प्रेरणा दी है । "न शिव:शक्तिरहितो न शक्ति:शिववर्जिता" इस कथन से पुरुष का जीवन स्त्री बिना और स्त्री का जीवन पुरुष के बिना सम्भव ही नहीं हो सकता । इन दोनों में शिवशक्ति की तरह ही अद्वैत भाव होना चाहिए । प्रत्येक प्रतिज्ञा पर वर-वधू को अपने साथ ही चलने का कथन करता है । अन्तिम प्रतिज्ञा में --

सख्यं साप्तपदीनमत्र मुन:य सम्पूर्णमाहु: सदा,
तेन त्वामभिगम्य सप्तममहं लोकंजयामि ध्रुवम् ।
मोक्षार्थं हृदयं विधाय भवती राष्ट्रस्य सम्भावने,
मामेवानुगता भविष्यसितदा मोक्षो न तेदुर्लभ: ।।[1]

3· आदर्श गृहस्थ जीवन -

"सप्तपदीहृदयम्" आदर्श गृहस्थ जीवन जीने की सार्थक प्रेरणा देने वाली रचना है । परिवार का पालनपोषण व समृद्धि, अतिथि-सेवा, राष्ट्र-उन्नति में सहयोग तथा पति-पत्नी का स्वाभाविक प्रेम ही आदर्श गृहस्थ जीवन का मूल्यांकन होता है । सप्तपदी के सातों चरणों में इन समस्त बातों की ओर ध्यान देकर प्रतिज्ञाएं की गई हैं । प्रथम प्रतिज्ञा में ही अतिथि,गुरु,पुत्र, भ्रातृवर्ग इन सभी के पालन-पोषण हेतु शुद्ध अन्न कमाना तथा उससे खाद्य पदार्थ तैयार कर सभी को प्रसन्न रखने की बात कही गई है । इस इहलोक {भूलोक} की विजय निश्चित होती है । शारीरिक शक्ति तथा प्राण शक्ति के लिए की गई प्रतिज्ञा में परिवार की शक्तिवृद्धि हेतु कहा गया है ।

---

1· श्रीसप्तपदीहृदयम्, श्लोक 20, पृ0 55·

शौचा चारविचारसाधिस्तपरीणाहेन सम्पोषितः,
स्वो कर्मो हमपि प्रसन्नहृदयःतारांगियष्टिः सदा ।
ऊर्जस्वि प्रभवामि कर्तुमखिलं राष्ट्रंस्वकीय महत्,
तस्माच्चारुहढांगशोभिनि । भुवलोंकं मया पास्यसि ।[1]

गृहस्थी के लिए जितनी भी आवश्यक वस्तुएं हो सकती हैं उन सभी का संग्रह करना गृहिणी का कर्त्तव्य है । वधू की प्रतिज्ञा में --

आवश्यकानि विविधानि गृहे त्वदीये,
वस्तूनि यानि गृहिणां सुखसाधनानि ।
तेषामहं समुदयं विरचय्यनूनं,
त्वामात्मवर्गसहितं सुखयामिशश्वत् ।[2]

पति-पत्नी के स्वाभाविक प्रेम की स्थिति अद्वैत भाव की हुआ करती है । श्री भवभूति ने भी अपने प्रसिद्ध नाटक "उत्तररामचारितम्" में इसकी पुष्टि की है ।

इसी भाव को वधू षष्ठ पद में इस प्रकार कहती है --

अद्वैतभावमुपगम्य तवाज्ञयैव,
तन्मद्द हृषीक सुखसाधनतामुपेता ।
सर्वेषु तेषु ऋतुषु त्वयिबद्धभावा,
त्वामर्चयामि नितरां परितोषयामि ।[3]

कितना उच्चादर्श निहित है इस श्लोक में । वधू कहती है कि मैं आपके और अपने बीच में कोई अन्तर नहीं रखूंगी । आप जैसे कहोगे वैसे ही मैं भांति-भांति से आपकी इन्द्रियों के सुख का साधन बन जाऊंगी । सब ऋतुओं में अपना प्रेम आपको दूंगी । मैं आपकी इतनी पूजा करूंगी कि सदा प्रसन्न रखूंगी ।

---

1· श्रीसप्तपदीहृदयम्, श्लोक 5, पृ० 37·
2· वही, श्लोक 13, पृ० 47·
3· वही, श्लोक 19, पृ० 54·

4. विवाह-संस्कार के प्रति श्रद्धा –

इस रचना के पढ़ने से सहज ही हमारे मन में भारतीय विवाह-संस्कार के प्रति श्रद्धा के भाव उमड़ आते हैं । अपने देश को गौरवमय बनाने तथा गृहस्थ जीवन को सफलीभूत करने हेतु जिन दो आत्माओं को दाम्पत्य सूत्र में बांधा जाता है यदि वे इस धार्मिक-व्यवस्था के अनुसार अपनी गृहस्थ यात्रा प्रारंभ कर उस पर निरंतर अग्रसित होते हैं तो उनके वर्चस्व का अधिकार सातों लोकों में हो जाता है । कवि पुराडरीक सम्पूर्णदत्त मिश्र ने सप्तपदी की भूमिका में स्पष्ट उल्लेख किया है[1] --

"सद्वृत्त का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह सकटों का सामना करने का साहस देता है और आत्मा को बलवान बनाता है । यह सच है कि भावना से रंगे सद्वृत्त का नाम ही धर्म है, सप्तपदी के सद्वृत्त का आचरण करके आप स्वयं धर्मात्मा बन जायेंगे । ध्यान रखिए कि यह आपकी वासना है, प्रज्ञा नहीं, जो आपको सप्तपदी की भावना का पालन करने से रोकती है । ऐसी सप्तपदी जो एक आनन्दमय वैवाहिक जीवन का सबसे अच्छा मार्ग है ।"

श्रीमति सुमति नारलीकर का कथन है[2] --

"समुपस्थित विवाहमंगलाभ्यां वधूवराभ्यां मंगलाकांक्षिभि: प्रियजनै: गुरुजनैश्च सप्तपदीहृदयं आद्योपहारत्वेन अवश्यं प्रदेयम् । सप्तपदी-हृदयस्य श्रवणमनन निदिध्यासनादनन्तरं वधूवरयो: गृहस्थाश्रमस्य शुभारंभ: क्षेम्णे जीवनसाफल्याय च अवश्यं भविष्यति ।"

---

1. श्रीसप्तपदीहृदयम्, भूमिका, पृ० 20.
2. वही, पृ० 2.

## "चारु - सन्देशः" रचना की समालोचना

स्रोत -

चारुसन्देश रचना आचार्यश्री की पत्नी के नाम सन्देश के रूप में लिखी गई है । आचार्यश्री (वैद्यनाथ शास्त्री) जब 24 वर्ष के हुए तो इच्छा न होते हुए भी परिवार एवं रिश्तेदारों के अत्यधिक आग्रह के कारण उन्हें विवाह की स्वीकृति देनी पड़ी । इस अनिच्छित स्वीकृति से उनका अन्तस्व अत्यन्त उद्वेलित होने लगा क्योंकि निरन्तर साधना से उनकी लौकिक ऐषणाएं समाप्त हो गई थीं । तत्कालीन ब्राह्मण-परम्परा के अनुसार नव-वधू शीलवती बरात के साथ विदा नहीं की गई और फिर द्विरागमन हुआ ही नहीं । विवाह के पश्चात वे स्वयं ही अपने हृदय में प्रभु से मार्गदर्शन के लिए आकुलतापूर्वक प्रार्थना करते रहते थे । उन्हीं दिनों वे तीर्थाटन हेतु हरिद्वारा गये तथा वहां से लौटने के निश्चय के साथ ही रोगग्रस्त हो जाते । इसी मध्य में एक दिन गंगा-स्नान करते हुए तैर कर धारा में दूर तक चले गये और ऐसी भंवर में फंस गये जहा से निकलना कठिन हो गया । आसन्न मृत्यु को देख हताश एवं व्याकुल होकर उन्होंने भगवान से प्रार्थना की "भगवान मुझे बचालो । मैं सारा जीवन तुम्हें ही अर्पित कर दूंगा ।" हृदय में इस प्रकार के निश्चय के साथ ही चमत्कारिक ढंग से किसी बड़ी सी लहर के धक्के के साथ वे भंवर से बाहर फेंक दिये गये और किनारे पर आ गये । अपने संकल्प के अनुसार उन्होंने शेष जीवन प्रभु को अर्पित करने का दृढ विचार करके 25 वर्ष की आयु में घर छोड़कर परिव्राजक बन गये ।[1]

निरन्तर सोलह वर्ष की साधना से प्राप्त विविध सिद्धियों के पश्चात वे अपनी पत्नी शीलवती से मिलने गये । उस तपोनिष्ठा साध्वी के जीवन से उनका मन अत्यन्त हर्षित हो गया । अपनी पत्नी के नाम उनकी काव्य-सरिता का पवित्र

---

1. परमपूज्य श्री बाबा महाराज - प्रथम पुण्य तिथि पर प्रकाशित पत्रिका, कार्तिक शुक्ला, अक्षय नवमी, वि०सं० 2040, पृ० 16-17.

स्रोत उमड़ पड़ा । यही चारुसन्देश का कथा स्रोत भी बना और साध्वी स्त्रियों के लिए पथ-प्रदर्शक सन्देश भी ।

रचना का प्रयोजन -

इस रचना का प्रमुख प्रयोजन अपनी पत्नी को साध्वी स्त्री की तरह जीवन व्यतीत करने का सन्देश देना है । साध्वी स्त्री की महिमा का वर्णन करके कवि ने यह संकेत दिया है कि साध्वी स्त्री अपने पति की साधना में सहायक बनती है । महान् नित्यानन्द में डूबे हुए साधक पति के शुभ मार्ग को प्रशस्त करती है । कवि ने अपनी पत्नी को सांसारिक सुखों की नश्वरता का बोध कराकर उसे साधना की प्रेरणा भी दी है । साधना से समस्त मुक्ति दासी बन जाती हैं । अपने वंश और शील की मर्यादा का पालन करना प्रत्येक स्त्री का धर्म है । इस धर्म के पालन का सदुपदेश भी कवि के द्वारा दिया गया है ।

यह सन्देश उनकी पत्नी शीलवती के लिए ही न होकर प्रत्येक स्त्री के लिए है । स्त्री का धर्म पति का कल्याण चाहना है । साधना उसके जीवन का एक अंग है । साध्वी स्त्रियों की देवता भी वन्दना करते हैं ।

रचना की समालोचना -

कवि हृदय से प्रवाहित इस काव्य स्रोत में हृदय के अनेक विचारों का प्रकाशन हुआ है । वैरागी चित्त में अनुरागिता का भाव कहीं न कहीं किसी न किसी रूप से सर्वथा विद्यमान रहता है । गृह-त्याग के पश्चात् भी गृहस्थ की मंगल-कामना एवं वंश की परम्परा का अनुष्ठान साधना के साथ-साथ प्रबल हो जाया करता है । सिद्ध महापुरुष इसी कारण से अपनी साधना में स्वान्त:सुखाय के साथ-साथ लोकहिताय को भी स्थान देते हैं । वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना उनमें जगद्धिताय के भाव उत्पन्न कर देती है । कवि ने अपनी पत्नी के नाम इस सन्देश के माध्यम से नारी वर्ग को भी सन्देश दिया है, जो इस प्रकार है -

साध्वी पत्नी के गुण -

साध्वी पत्नी परमेश्वर से पति के कल्याण की प्रार्थना करती रहती है । पति-परायणा पत्नी का प्रेम पवित्र होता है । वह अत्यन्त बुद्धिमती होती

है । अपने शील की रक्षा करती हुई वह सर्वथा पति के पूजित चरणों का ही चित्त में चिन्तन करती रहती है । ऐसी साध्वी पत्नी को महामुनि वन्दनीया कहते हैं ।[1]

कुल-मर्यादा का निर्वाह -

साध्वी स्त्री अपने कुल की मर्यादा का सर्वथा ध्यान रखती है । आचार्यश्री अपनी पत्नी को सन्देश देते हुए लिखते हैं कि "हे कल्याणशीले । यदि तुम्हारे हृदय में मुझ पर परम अनुराग है तो मेरे शील एवं वंश में तनिक भी दोष न देखो ।

अस्ति स्वान्ते यदि मपि परं प्रेम कल्याणशीले,
शीले वंशे त्रुटिमणुमपि प्रापयेथा न कांचित् ।
काचिद्विद्यां रसयमहितां शाम्भवी वाग्विभूतिं
भूतिर्यस्याः परकरुणया प्रापणीया समस्ति ।।[2]

परमशिव-पार्वती की साधना से ही मुक्ति -

अपनी निरन्तर साधना से प्राप्त आनन्दमय जीवन के आधार पर कवि ने अपनी पत्नी को भी परमशिव व महिमामयी माँ भगवती की साधना का सन्देश दिया है । कवि का कथन है -

कल्याणानां वसति हृदये कामना वेत्त्वदीये,
तां कल्याणीं परममहिषी मानसे भावयेथाः ।
दुःखं दैन्यं दुरितदलिनी दारयेद्ददेवतानां,
या सा सूते सपदि सकला सम्पद सुप्रसन्ना: ।।[3]

---

1· पत्युः श्रेयः प्रतिहितपरां प्रार्थयन्ती परेशं
प्रेम्णा पूतामतिमतिमतीं पालयन्तीं स्वशीलम् ।
चित्ते चंचत्स्वामिचरणौ चिन्तयन्तीं,
साध्वीं पत्नीं महामुनयो वन्दनीयां वदन्ति ।। - पत्रसंदेशः, प्रथम श्लोक·

2· वही, षष्ठ श्लोक·

अर्थात् यदि कल्याणों के निवास-स्थान तुम्हारे हृदय में कामना है तो उस परम-महिषी कल्याणी को मानस में प्रतिष्ठित करो जो दुरितदलिनी देवताओं के भी दु:ख-दैन्य को नष्ट कर देती है और प्रसन्न होने पर तत्काल समस्त सम्पत्तियों को उत्पन्न करती है ।

प्रतिदिन अपने शान्त अन्तः में देवी कामेश्वरी ललिता सहित विश्वरूप कामेश्वर का ध्यान करने से समस्त कष्ट नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार का सन्देश देते हुए कवि ने लिखा है -

कामेश्वर्यासह ललितया साधु कामेश्वरं तं,
स्वान्ते शान्ते प्रतिदिन मभिध्यायतो विश्वरूपम् ।
विध्वंशे धिगतजनुपरस्त्राण कृच्छीलवत्या:,
कल्याणाय प्रभवतु चिरं चारु सन्देश एष: ।।[1]

सांसारिक सुखों की नश्वरता -

कवि ने अपनी पत्नी को सन्देश दिया है कि कोई सुन्दर प्रतीत होने वाले और कोई भयंकर प्रतीत होने वाले सभी भोग अल्पकाल में नाश को प्राप्त हो जाते हैं । यह धन, विद्या और अनुपम शरीर भी वास्तविक वस्तुएं नहीं ।

भोगा: केचिल्ललितललिता घोरघोराश्चकेचित,
सर्वेकालात्क्षणपरिणता: नाशमेव व्रजन्ति ।
वित्तं विद्यावपुरनुपमं वास्तवं वस्तु नैतद,
किंचित्तस्माद्विरसाद्वासनावारिधे स्त्वम् ।।[2]

जन्म-मरण और क्लेशों के पात्र उस अपवित्र शरीर के मोह को छोड़ कामारि शंकर की प्रिय पद्मनेत्रा सती का भजन करने का उपदेश देते हुए बतलाया है कि उसकी कृपामय दृष्टिमात्र से समस्त मुक्ति दासी बन जाती है ।[3]

---

1· चारुसंदेश, श्लोक 9·
2· वही, श्लोक 3·
3· वही, श्लोक 7 -- अस्मिन्गात्रे जननमरणक्लेशमात्रे पवित्रे,
हित्वा मोहं विमलहृदये तां सती पद्मनेत्राम् ।
मुक्तिर्दासी भवति सहसा यत्कृपादृष्टिपाता,
दायां भार्या स्मरदमनहृश्चारुशीले भजेथा: ।।

रचना का भावगत महत्त्व -

इस रचना के अनुशीलन से निम्नलिखित भावों की जागृति होती है -

1) साध्वीस्त्री के प्रति वन्दनीय भाव -

साध्वी स्त्रियां महामुनियों द्वारा वन्दनीया होती हैं। पति के कल्याणार्थ की गई प्रार्थनाएं, पवित्र प्रेम और पति चरणों की चिन्तनशीलता उनकी महनीयता के प्रति सहज ही श्रद्धा भाव उत्पन्न कर देती हैं।

2) भोगों के प्रति वैराग्य भाव -

सुन्दर और भयंकर दोनों ही प्रकार के भोग नाशवान होते हैं। धन, विद्या और अनुपम शरीर भी वास्तविक वस्तु नहीं है। इस प्रकार के भाव भोगों के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न करते हैं। भोगलिप्त व्यक्ति के लिए मुक्त होना नितान्त असम्भव है।

3) मुक्ति हेतु साधना का महत्त्व -

साधना से ही मुक्ति मिल सकती है। शैवभाव में साधनारत रहने का निर्देश सहज ही शिवभक्ति की ओर उत्प्रेरित करता है।

बद्धा पद्मासनमविधवे हम्महोभावरूपे,
स्वादुस्वादे ललितललिता भिन्नबिन्दौ स्वरूपे।
आनन्दानां जयिनि महतामुद्गमानां निधाने,
शैवं भावं रसयितुमहो शीलवत्यर्हसि त्वम्॥[1]

. पद्मासन लगाकर अत्यन्त आनन्द और सौन्दर्यपूर्ण अभिन्न बिन्दु स्वरूप में स्थित रहकर ही शैवभाव का रस ग्रहण किया जा सकता है। भगवान शिव की प्रिया पद्मनेत्रा सती की साधना से सभी मुक्ति दासी बन जाती हैं। साधना मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।

---

1. वात्सल्यसन्देशः, श्लोक 8.

श्रीसूक्तिलहरी की समालोचना -

कथा-स्रोत -

यह काव्य संकलित काव्य है जिसमें आध्यात्मिक, राजनैतिक, धार्मिक व नैतिक श्लोकों का संकलन है । संकलित श्लोकों में से अधिकांश सम्बन्धित काव्य रचनाओं या तत्कालीन पत्रिकाओं में प्रकाशित भी होते रहे हैं । आध्यात्मिक श्लोक श्रीआत्मविलास, श्रीविंशतिकाशास्त्रम्, श्रीसिद्धमहारहस्यम् तथा श्री परमशिव-स्तोत्रम् के आधार पर निर्मित हैं । राजनैतिक श्लोक श्रीराष्ट्रालोक, श्रीसंक्रान्ति-पंचदशी तथा श्रीक्रान्तिकौमुदी से उद्धृत हैं । धार्मिक रचनाए शिवस्तोत्र, देवीस्तोत्र तथा अन्य देव स्तोत्रों के वर्ण्य-विषय पर स्वतंत्र रचनाएं हैं । आचार्यश्री को सिद्ध महापुरुषों के अनेक बार दर्शन हुए जिनसे उन्हें साधना सम्बन्धी अनेक गुप्त बातों का ज्ञान प्राप्त हुआ । उनमें से नीति और सांसारिक नश्वरता सम्बन्धी कुछ ज्ञान श्लोकबद्ध करके इस संग्रह में सम्मिलित किया गया है । नैतिक श्लोक पूर्ववर्ती संस्कृत व हिन्दी के कवियों के आधार पर निर्मित हैं । श्रीभर्तृहरि का नीतिशतकम्, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, कबीर व बिहारी के नीति सम्बन्धी दोहे आदि के वर्ण्य-विषय पर स्वतन्त्र रचनाएं हैं । श्रीस्वाध्याय पत्रिका में भी आचार्यश्री प्रत्येक अंक के लिए एक श्लोक अवश्य लिखते थे । यह श्लोक मंगलाचरण की भूमिका का निर्वाह करता था । ऋतु अंकों के प्रकाशन के समय सम्बन्धित ऋतुओं के लिए श्लोक लिखते थे । उन्हीं में से षड् ऋतु वर्णन के कतिपय श्लोकों का यहां चयन किया गया है । विशिष्ट पर्व और त्योहारों पर भी आचार्यश्री रचनाएं करते थे जिन्हें श्रीस्वाध्याय पत्रिका के माध्यम से ही प्रकाशित किया जाता था । उनमें से कतिपय का संग्रह यहां किया गया है ।

इस प्रकार विविध विषयों का वर्णन इस काव्य के अन्तर्गत समाहित है ।

रचना का प्रयोजन -

इस रचना के प्रकाशन के समय "सूर्योदय:" पत्रिका के संपादक श्री गोविन्द नरहरि वैजापुरकर: ने लिखा है --

"आचार्यपादानां"सूर्योदय: पत्रोपरि महाननुग्रह: किल । अतएव समये समये स्वीयसारस्वतोपासना मृतफलायमानानि नैकानि काव्यानि तैरस्मभ्यं प्रकाशनाय प्रसादीकृतानि । तेष्वेव इयमपि अन्यतमा । कियद्भ्यो वर्षेभ्य: पूर्वं रचितापि पुन: संस्कृत्य नव्येव विधाय सहृदयानां विविधच्छन्दोविचिति-प्रणयिनांच तोषाय उपायनीकृता तेषामियं कृति: पाठकेभ्यो नूनं मोदाय कल्पेत इति दृढं विश्वसिम: ।"[1]

पत्रिका के सम्पादक महोदय के कथन से स्पष्ट प्रकट होता है कि पत्रिका के सहृदय पाठकों के लिए आध्यात्मिक, राजनैतिक, धार्मिक और नैतिक रसानुभूति हेतु इस रचना का संकलन किया गया है । प्रत्येक प्रकार के विचार-प्रेषण हेतु पत्रिका सर्वोत्तम साधन है । विविध संस्कारों से संस्कृत पाठक अपने विचारानुकूल वर्ण्य-विषय की रसानुभूति से आनन्दित होता है । आचार्यश्री ने अपनी साधना और चिन्तनशीलता से निबद्ध जो श्रेष्ठ व सहज बोधगम्य रचनाएं रचीं वे ही श्रीसूक्ति-लहरी के नाम से प्रकाशित कराईं ।

रचना में कई श्लोक अनुवादित हैं । संस्कृत मासिक पत्रिका में अन्य कवि विचारधारा को संस्कृत के माध्यम से ही प्रकाशित करने की प्रमुख भावना ने कवि की संस्कृत-प्रियता परिलक्षित होती है ।

रचना की समालोचना -

विविध विषयों पर प्रकाश डालने वाले इस रचना-संग्रह में निम्नलिखित विचार प्रस्तुत किये गये हैं --

भगवत्-भक्ति -

इस रचना में माँ सरस्वती, भगवान् शिव, भगवती देवी व राधा-कृष्ण की भक्ति सम्बन्धी अनेक श्लोक रचे गये हैं । महिलाओं की आदर्श विद्यालयदेवी सरस्वती की वन्दना का वर्णन द्रष्टव्य है --

---

1· सूर्योदय:, वर्षम्, 44, अंक 7, जुलाई 1966, पृ० 151·

आदर्शो महिलानां,

प्रशस्तविद्यालयोदेवी ।

मुग्धस्निग्धमितस्मित-वन्दित,

वदना सरस्वती जयतु ।।[1]

भगवान् शिव की आराधना करने वाले व्यक्ति की आराध्यदेव सब जगह सब भांति रक्षा करते हैं । कवि की भावना प्रस्तुति है --

शिवचरणं भजमाना,

यथा तथा वा पि सर्वथा रक्ष्या: ।

करुणार्णवेन सततं

शिवेन ते तथ्यमेतद्धै ।।[2]

राधा-कृष्ण की जोडी के दर्शन से प्राप्त सुख का मनोहर वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है --

राधाया हरिसंगमोत्सुकाया

यामिन्यां यमुनातटे निशीथे ।

भिन्दानस्तिमिराणि मार्गदीपो

जातो य: स सुखं ददातु सोम: ।।[3]

राष्ट्र-भक्ति -
-----------

आचार्यश्री में अपने राष्ट्र के लिए अटूट प्रेम भरा हुआ था । उन्होंने "राष्ट्रालोक" नामक एक आर्ष-ग्रन्थ की रचना करके अपनी देशभक्ति को प्रकट किया है । वहीं से कुछ श्लोकों का चयन यहां किया गया है । कवि की विचारधारा के अनुसार सुख की इच्छा स्वाभाविक है । वह सुख स्वतन्त्रता

---

1· श्रीसूक्तिलहरी, श्लोक 1·

2· वही, श्लोक 4·

3· वही, श्लोक 15·

के बिना प्राप्त नहीं होता और स्वत्वज्ञान बिना स्वतन्त्रताप्राप्त नहीं होती । आचार्यश्री लिखते हैं --

स्वाभाविकी सुखेच्छा
स्वतन्त्रता ऋते न सुखलब्धिः ।
स्वातन्त्र्यस्य प्राप्तिः,
स्वत्वज्ञानं बिना नैव ।।[1]

राष्ट्रनीतिविज्ञों से युक्त राज्य ही सुरराजधाम कहलाता है । कवि की विचारधारा द्रष्टव्य है --

मनुजा निजधर्म-कर्मशीला:
सुखसाधन राष्ट्रनीतिविज्ञा: ।
मतसैकमता भवन्ति यस्यां
वसुधा सुरराजधाम सा स्यात् ।।[2]

सत् पुरुष प्रशंसा -

सन्तजन सदैव सत् भाव में ही स्थित रहते हैं । लोककल्याण की भावना को ध्यान में रखकर वे सर्वदा सामाजिक जन-जीवन पर अपनी विचारधारा प्रस्तुत करते रहते हैं । समाज में श्रेष्ठ पुरुष प्रत्येक स्थिति में न्याय के पथ पर ही चलते हैं । आचार्यश्री ने लिखा है --

व्यवहरतु जन: कथमपि
नार्यो न्याय्यं जहाति पन्थानम् ।
अपि मृदितं कालतया:
कुसुमं पाणिं सुवासयति ।।[3]

---

1. श्रीसूक्तिलहरी, श्लोक 6.
2. वही, श्लोक 16.
3. वही, श्लोक 7.

सत् पुरुषों की मधुर वाणी अमृत के समान सभी को सुख पहुंचाती है । कवि उनकी प्रशंसा में कहते हैं --

स्वसूक्ति-पीयूषरस-प्रवाहैः,
ये तोषयन्ते स्वजनं समस्तम् ।
निर्माय कल्याणपथं भवे ते,
सन्तोषमन्तः सततं वहन्ते ।।[1]

असत् पुरुष निन्दा -

दुष्ट व्यक्ति स्वभाव से ही जीवों को कष्ट देने वाले होते हैं । समाज का कल्याण चाहने वाले सभी चिन्तनशील व्यक्तियों ने उनकी निन्दा इसलिए की कि निन्दा के पात्र उन लोगों की संख्या में अभिवृद्धि न हो । आचार्यश्री के मन में भी उनके प्रति क्षोभ रहा है । वे लिखते हैं --

विभिद्य मर्माणि दुरुक्तिवाणैः,
प्रियंजनं तोषयितुं यतन्ते ।
को वा भवे भाग्यवतो जनांस्तान्,
भवं विना बोधयितुं समर्थः ।।[2]

दुष्टजनों द्वारा कुत्सित कार्यों को न छोड़ने की पीड़ा कविहृदय में गहनता से समाई हुई । उनकी पीड़ा इस श्लोक में द्रष्टव्य है --

किमत्र चित्रं यदि दुष्टलोको,
जहाति नो कुत्सितता स्वकीयाम् ।
वराहभावं समुपाश्रितेभ्यो,
न रोचते किं स पुरीषपुंजः ।।[3]

जीवन की नश्वरता -

साधक कवि जीवन के विषय में अपनी साधना से अवश्य विचार करते हैं ।

---

1. श्रीसूक्तिलहरी, श्लोक 16.
2. वही, श्लोक 7.
3. वही, श्लोक 18.

जीवन सदैव नहीं रहता है । वह नश्वर है । मृत्यु कब आ जाये इसे कोई नहीं जानता । आचार्यश्री ने हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि कबीर की जीवन के नश्वर सम्बन्धी निम्नलिखित विचारधारा को संस्कृत के माध्यम से कहा है । कबीर का कथन है --

नौ द्वारे का पिंजरा, तामे पंछी पौन ।
रहबे को आचरज है, गये अचंभा कौन ।।

इसका संस्कृत में अनुवाद करते हुए आचार्यश्री लिखते हैं --

अनावृत-नवद्वारे पंजरे पवनः खगः ।
स्वाभाविके निःसरणे वसतीत्येव विस्मयः ।।[1]

जीवन की नश्वरता के विषय में लोमश मुने के विचारों को प्रस्तुत करते हुए आचार्यश्री लिखते हैं --

पानीय-बुद्बुद इवैव चिरायुरेष,
धाता पि लोमशमुनेः पुरतो विभाति ।
प्रत्येकलोम-विलयावसरे मुनेस्तु
धाता न्य एव भवतीति पुराणगाथा ।।[2]

ऋतु-वर्णन -

आचार्यश्री ने इस संग्रहमें ऋतुओं से सम्बन्धित कतिपय श्लोकों का चयन किया है । जिसमें कुछ इस प्रकार है --

बसन्त ऋतु- कान्तः कुसुमवेलायां बसन्तो चापि नागतः ।
मन्ये धन्यो निगदितो परदिश-गणिकागणे ।।[3]

हेमन्त ऋतु - रोमांच तनुषे धरं प्रणयसे
गात्रेषु कम्पं करो-

---

1· श्रीसूक्तिलहरी, श्लोक 12·

2· वही, श्लोक 29·

3· वही, श्लोक 11·

ष्याश्लेषाय मतिं ददासि नकुलीद-
कारस्य शिक्षां तथा ।
कान्तं रोचयसे नितान्तमधुना
शान्तं निशान्तं मम
स्वान्तं प्रोषित भर्तृकामपि न मां
जानासि हेमन्त किम् ।।[1]

वर्षा ऋतु - प्रावृट्काले प्रोषितकान्ता तरुणीयं
हस्तन्यस्ता रक्तकपोलाच्युतधैर्या ।
दत्ते शापं वेधसमामीलितनेत्रा
दर्शं दर्शं मत्तमयूरं मदनार्ता ।।[2]

त्यौहार-वर्णन

"श्रीस्वाध्यायपत्रिका" के माध्यम से आचार्यश्री ने समय-समय पर त्यौहारों व पर्वों का वर्णन भी किया है । उनमें कुछ श्लोक इस लहरी में भी संकलित हैं ।

विजयादशमी - विजयादशमी क्षत्रियों के क्षत्रियत्व को प्रकट करने वाला त्यौहार है । यह वीरों के हृदय में वीरता के भाव जाग्रत करता है । आचार्यश्री लिखते हैं--

वीरावली हृदयसारस-जागराये,
मार्तण्डभैरववपु-र्जगति प्रसिद्धा ।
सम्प्रेरवेदखिल-राष्ट्रजना वनाय,
सम्पादनाय विजयादशमी जनस्य ।।[3]

दीपावली - श्री (लक्ष्मी) जी के पूजन से निजराष्ट्र की समृद्धि होती है । कवि का कथन है --

---

1. श्रीसूक्तिलहरी, श्लोक 48.
2. वही, श्लोक 23.
3. वही, श्लोक 30.

दीनावनीयदयनीयदशा-दिशाना-
मालोचनाय कमनीयदृशं दिशन्ती ।
श्रीपूजनाय निजराष्ट्र समृद्धिवृध्यै.
दीपावली दिशतु शाश्वातकं प्रकाशम् ।।[1]

कौमुदी-महोत्सव -

शरदंकरूपी चन्द्रमा का कौमुदी-महोत्सव अनिर्वचनीय अत्यन्त प्रकाशमान राष्ट्र को जगाने के मार्ग हेतु लोगों को उद्बुद्ध करने वाला होता है । आचार्यश्री लिखते हैं --

राका-शशांक-शरदंक-मृगांकमेत्य ।
स्वाध्यायमातनुत मा कुरुत प्रमादम् ।
ज्योत्स्नोत्सवो स्य रचयेत कमपि प्रकाशं,
श्रीराष्ट्रजीवनपथं जनजागराये ।।[2]

रचना का भावगत महत्त्व -

पाठकों के मनोभावों पर सरलता से प्रभाव डालने वाली इस रचना से निम्नलिखित भावों का जागरण होता है -

शैव-भक्ति -

समस्त चराचर भगवान् शिव के गुणगान की ध्वनि से ध्वनित है । भगवान् की आराधना कल्याणकारी है । इस रचना संग्रह में अनेक श्लोक शैव-भक्ति के भावों को प्रकट करने वाले हैं । कतिपय उदाहरण यहां प्रस्तुत है -

धन्या त्वमेव सकलेषु चराचरेषु,
व्याप्त प्रकाशमनुभूय सुधाकलादयम् ।
कल्याणधाम्नि रसयन्ति हि सावधाना,
शैवा वनौ शिवपदध्वनिमध्वनीना: ।।

---

1· श्रीसूक्तिलहरी, श्लोक 32·
2· वही, श्लोक 31·

अपि च --

कर्माणि दुष्टफलदानि मया कृतानि
भस्मीभवन्तु सफलानि भवत्प्रसादात् ।
मित्राणि सन्तु रिपवो ऽपि विनष्टवैरा:
शम्भो प्रसीदतु भवान्मम चान्तरात्मा ।।[1]

स्वातन्त्र्य प्रेम -

आचार्यश्री की रचनाएं सुख उपलब्धि के लिए स्वतन्त्रता को प्रमुख मानती हैं । स्वतन्त्रता भगवतीदेवी की कृपा-साधना से ही प्राप्त होती है । इस संग्रह में स्वतन्त्रता से सम्बन्धित अनेक श्लोक हैं । इन श्लोकों के पठनमात्र से स्वातन्त्र्य भाव की उत्पत्ति होने लगती है । यथा --

स्वातन्त्र्यप्राप्ति: साधनामन्तरा नो,
स्वातन्त्र्याप्तौ साधना शक्तिपूजा ।
कल्याणानि प्राणिनां सैव सूते,
तस्मात्कार्या सा सदा सा नृभावै: ।।[2]

सद्र-संगति -

दैवी गुणों से सम्पन्न व्यक्ति सन्त कहलाते हैं । सन्तों की संगति सर्वथा कल्याणकारी होती है । आचार्यश्री तन-मन से सिद्ध पुरुष थे । उन्होंने सन्तों की प्रशंसा में अनेक श्लोक रचे । इन श्लोकों के अनुशीलन से हृदय में सहज ही सन्त-मनोभावों की जागृति होने लगती है । यथा --

स्थानानि सर्वाण्यपि सिद्धिमन्ति,
भवन्ति सद्विप्र निषेवितानि ।
सद्भावमायान्ति शमेन विप्रा
यथा यथा न्तर्मुखतां भजन्ते ।।[3]

---

1. श्रीसूक्तिसंग्रह, श्लोक 26, 27.
2. वही, श्लोक 14.
3. वही, श्लोक 19.

# वैद्यान प्रति की समालोचना

रचना समय -

विक्रम सं॰ 2027, पौष॰

प्रकाशन -

पौष 2027 विक्रमी की "श्रेय" पत्रिका के चतुर्थ अंक में पृ० 80 पर प्रकाशित॰

कथावस्तु विवेचन -

समस्त औषधियों को अमृत बनाने वाले वैद्य भगवान् वैद्यनाथ शिव के ही कल्याणकारी रूप हैं। यशस्वी वैद्यों के हृदय में विद्यमान दया से ही रोगियों के लिए विष भी निर्बाध रूप से अमृत हो जाता है। औषधि तो वहां उपकरण मात्र होती है।[1] करुणार्द्रा जगदम्बा की श्रेष्ठ कला ही वैद्यों की प्रेरणा है। आचार्यश्री वैद्यों से निवेदन करते हुए कहते हैं कि वे धनवान् व्यक्तियों के चाटुकार न रहकर निर्धन व धनी दोनों के ही रोगों के समान भाव से शान्त करने में ही वैद्य की गरिमा को गौरवान्वित करें।[2] लोकसेवा में तल्लीन सद्वैद्यों की निष्कलंक

---

1. गदहानये सुयशसां भिषजां,
   हृदये सम्मुल्लसितया दयया।
   गरलं निरर्गलतया गदिना-
   ममृतं भवेदिति विदन्ति विदः॥
   --वैद्यान प्रति, श्लोक 2, श्रेय:पत्रिका, चतुर्थ अंक, पृ० 80॰

2. अहमर्थये नु पदुवैद्यवरा:,
   भिषजो न सन्तु धनिचाटुकरा:।
   सममेव धन्यधनसर्वजनान्,
   गदनिग्रहण सुखयन्तु सदा॥
   -- वैद्यान प्रति, श्लोक 4, श्रेय:पत्रिका, चतुर्थ अंक, पृ० 80॰

कीर्ति सर्वत्र फैलती है । उनकी प्रशंसा जनमुख पर विद्यमान रहती है । धन की निर्लिप्तता उन्हें स्वतः ही आनन्द की ओर ले जाती है । भगवान् वैद्यनाथ त्रिगुणेश्वर की आराधना वैद्यों को सर्वथा शुभःसंकल्पों की ओर प्रेरित करती है ।

कथावस्तु की समालोचना -

वैद्यों को शिव के रूप में वर्णित करना ही कवि का अभीष्ट है । माँ जगदम्बा के श्रेष्ठ अनुग्रह रूप को प्राप्त कर भगवान् शिव ने स्वयं विष-पान कर अन्यों को अमृत पिलाकर इस भूतल पर जगत् की रचना की है । इसी प्रकार वैद्यनाथ भगवान् शिव के स्वरूप का प्रतिनिधित्व करने वाले वैद्य भी अपने सद्भावों से व औषधि-निर्माण से विष को भी अमृत बना देते हैं ।[2] जिसका पान कर समस्त जीव रोगमुक्त होकर सुखी व आनन्दित जीवन व्यतीत करते हैं । शिवभक्ति में वैद्यों को चाहिए कि वे धन के प्रलोभन में न फंसे । इससे वैद्य की कर्त्तव्यनिष्ठा पर मलीनता आती है । आचार्यश्री ने अपनी रचना द्वारा उन्हें उद्बोधित

---

1. अहमर्थये नु पद्ववैद्यवराः,
भिषजो न सन्तु धनिचाटुकाराः ।
सममेव धन्यधनसर्वजनान्,
गदनिग्रहेण सुखयन्तु सदा ।।
-- वैद्यानप्रति, श्लोक 4, श्रेयःपत्रिका, चतुर्थ अंक, पृ० 80.

2. भुवि वैद्यनाथशिवभूमिकया,
करुणार्द्रया स्ति वरया कलया ।
अमृतं निपाय्य च निपीय विषं,
जगदम्बया जगदिदं रचितम् ।।
-- उपर्युक्त, पृ० 80.

कर लोकसेवा की सद्‌प्रेरणा प्रस्तुत की है ।[1] ऐसे वैद्य बृहस्पति की पदवी से युक्त होते हैं । वे अश्विनीकुमारों के समान सर्वत्र पूज्य माने जाते हैं ।

--

---

1. मम वागियं रचयतेभिषजां,
   प्रमिताक्षरा सुवचनार्पचितिम् ।
   अकलंककीर्तिरिह तान् वृणुताम् ,
   जनसेविनो य इह सद्भिषज: ।।
   -- वैद्यान प्रति, आ० अमृतवाग्भव, श्लोक 5, श्रेय: पत्रिका, चतुर्थ अंक, पृ० 80.

वैद्यामृति रचना का भावगत महत्त्व -

इस रचना के माध्यम से आचार्यश्री ने वैद्य की कर्त्तव्यनिष्ठा के भाव प्रस्तुत किए हैं ।

वैद्यों का रोगियों के प्रति सद्व्यवहार - वैद्यों का रोगियों के प्रति करुणा का का भाव रहना चाहिए । औषधि से सद्व्यवहार श्रेष्ठ होता है । रोगी को रोग मानसिक व शारीरिक दोनों ही रूपों से व्यथित करता है । "शरीरं व्याधि मन्दिरम्" शरीर तो रोगों का मन्दिर है जिसे औषधियों से शांत किया जा सकता है किन्तु रोग की मानसिकता सद्व्यवहार से ही शान्त होती है । अतः वैद्य को रोगियों के प्रति सद्व्यवहार रखना चाहिए ।

वैद्यों का समदृष्टि व्यवहार - वैद्यों का रोग-निवारण ही लक्ष्य होना चाहिए । रोग निर्धन व धनी दोनों को ही समान रूप से व्यथित करता है । अतः वैद्य की दृष्टि दोनों पर समान होनी चाहिए । उसे धनिकों का चाटुकार नहीं होना चाहिए ।

वैद्यनाथ शिव के प्रति वैद्यों का भक्ति-भाव - भगवान् वैद्यनाथ शिव की स्तुति करने वाले वैद्य ही इस संसार में समस्त औषधियों को अमृत बनाने में समर्थ होते हैं ।[1] जो भी वैद्य अमृतस्वरूप भगवान् त्रिगुणेश्वर को अपने हृदय से भजते हैं वे ही श्रेष्ठ पदवी को प्राप्त करते हैं ।[2] अतः वैद्य-कर्म में श्रद्धा-भाव रखने वाले वैद्यों को भगवान् वैद्यनाथ शिव की आराधना अवश्य करनी चाहिए । इससे उन्हें यश एवं सम्मान दोनों की प्राप्ति होती है ।

---

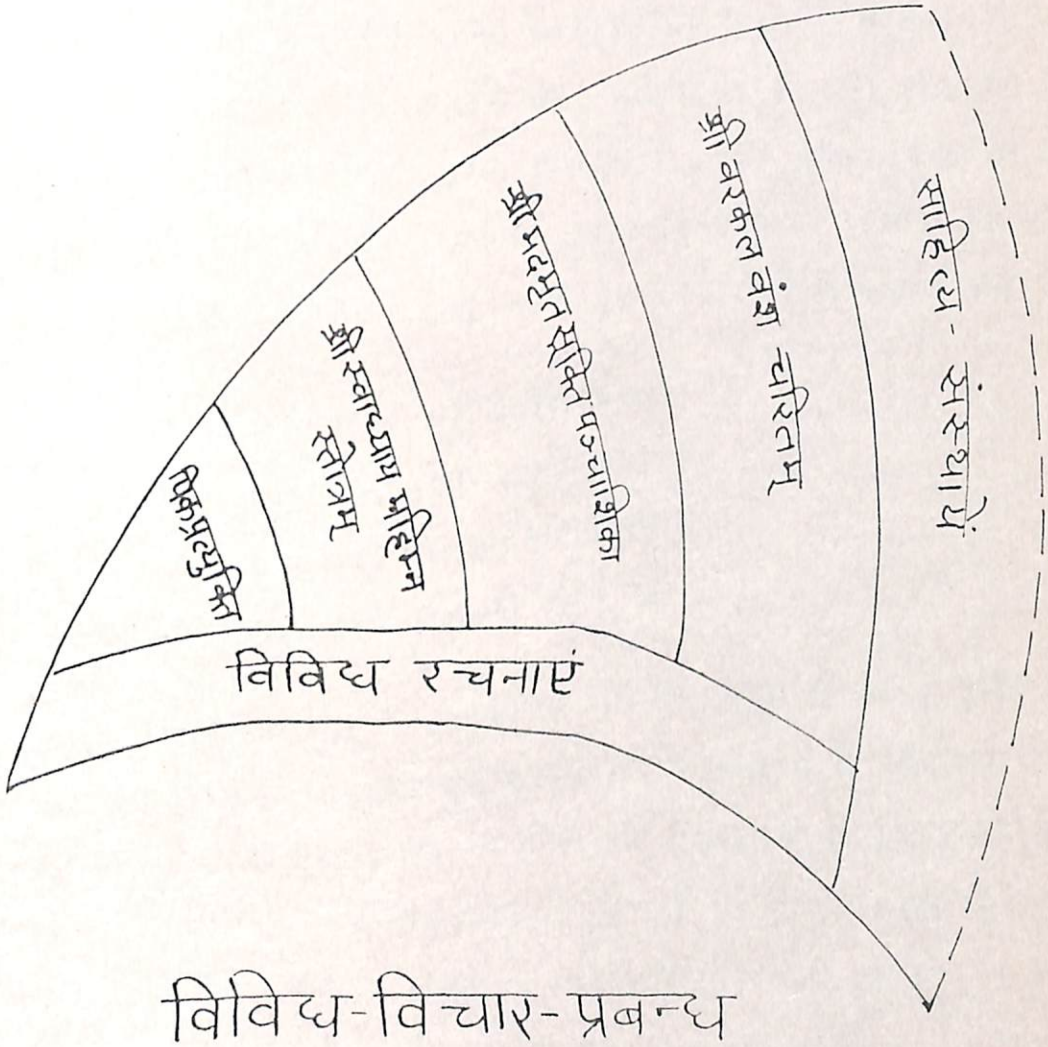
1. शिवं वैद्यनाथं स्तुवन्तो नमन्तः,
समासां वराणां कलानां निधानम् ।
सुधाभावसम्पादने शक्तिमन्तो,
जयन्त्यत्रवैद्याः समस्तौषधीनाम् ।। - वैद्यामृति, आ०अमृतवाग्भव, श्लोक 1,
श्रेयःपत्रिका, चतुर्थ अंक, पृ० 80.

2. अमृतं च वाग्भवमिति प्रथितं,
त्रिगुणेश्वरं स्वहृदये भजते ।
स वृहस्पतेर्यदि भजेत पदवीं,
विदुषां विचित्रमिह किं वदत ।। - उपर्युक्त, पृ० 8[illegible], श्लोक 6.

# सप्तम-अध्याय

## विविध रचनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन

1. श्री वरकल वंश चरितम्
2. श्री मदमृत सूक्ति पञ्चाशिका
3. श्री स्वाध्याय महिम्न स्तोत्रम्
4. श्री पिक् प्रत्युक्ति




विविध-विचार-प्रबन्ध

# श्रीवरकलवंशवृत्तम् की समालोचना

## काव्य का स्रोत -

आचार्यश्री का जन्म महाराष्ट्र ब्राह्मण वंश "वरकले" में हुआ । "वरकल-वंशवृत्तम्" नामक इस काव्य में उन्होंने अपने पूर्वजों का विस्तृत इतिहास लिखा । लगभग दो शताब्दियों के अनेकों सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वानों के जीवन चरित पर प्रकाश डालने वाले इस काव्य का उन्होंने श्रुति-परम्परा के आधार पर ही सृजन किया । अपने वंश के गौरव को प्रकट करते हुए आचार्यश्री ने स्वयं लिखा है --

> जगति वरकलानां धीविकासोज्ज्वलानां
> महति जनिमितानामन्ववाये कवीनाम् ।
> सुकृतिपदमवाप्तुं भावयन् भाललिप्ता
> नमति चरणधूलिं श्रीगुरूणां सुतो यम् ।।[1]

वरकले वंश कृष्णयजुर्वेद के आपस्तम्ब सूत्र का अनुयायी था । श्रुति परम्परा के अतिरिक्त आचार्यश्री को उनके पूर्व पुरुषों का स्वप्नादि में दर्शन भी होता रहा था । इसका प्रमुख कारण यह था कि इनके पूर्व-पुरुष भी विशिष्ट साधना से युक्त रहे । और अपनी वंश-परम्परा के साधकों को प्रेरित करते रहे ताकि वंश का वैशिष्ट्य बना रहे । उसी प्रेरणा ने आचार्यश्री को अपने वंश का वृत्तान्त ज्ञात हुआ और उसे काव्य रूप में वर्णित किया ।

## काव्य का प्रयोजन -

"वरकले वंश" संस्कृत भाषा के विशिष्ट विद्वानों का वंश है । वंश-वैशिष्ट को सुरक्षित रखना और वंश की मर्यादा को बनाये रखना महान् पुरुषों का परम

---

1. श्रीसूक्तिलहरी - सूर्योदय पत्रिका, वर्ष 44, अंक 8, अगस्त 1968, श्लोक 34, पृ० 197.

उद्देश्य होता है । इस दृष्टि को ध्यान में रखकर ही आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ की रचना की है । अपने वंश के विषय मे रहस्योद्घाटन करना वंश की परम्परा का निर्वाह करना होता है । महापुरुषों के चरित का स्मरण करने से आनन्द प्राप्त होता है । कहा जाता है कि ब्रह्माण्ड मे, समष्टि मे व्याप्त तद्रूप अणु ध्यानकर्त्ता की ओर आकर्षित होने लगते हैं और धीरे-धीरे उसके ध्यान में प्रवेश भी करने लगते हैं । आचार्यश्री को भी अपनी साधना से इसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त हुआ । उनमें अपनी वंश का वैशिष्ट्य भी था जिसके अनेक साधक रहे । साधना के इस क्रम को प्रस्तुत करना ही इस काव्य का प्रमुख प्रयोजन है ।

रचना की समालोचना -

वरकल वंश में उत्पन्न होने वाले अनेक विद्वान् शास्त्र-ज्ञान के अतिरिक्त साधक भी रहे हैं । इस कारण वरकल वंश की ख्याति काशी में विशेष गौरवशाली है । "श्रीवरकलवंशवृत्तम्" में वंश की निम्नलिखित महत्ताओं को उभारा गया है -

वरकलवंश की प्रसिद्धि -

वरकलवंश कृष्ण यजुर्वेदीय आपस्तम्ब सूत्र का अनुयायी होने के कारण काशी के पण्डितों में अपना विशिष्ट स्थान रखता था । आचार्यश्री ने अपने इस वंश के विषय में लिखा है --

अयं वंश: काश्यां वरकलउपाख्य: सुविदितो
विदर्भादायातो वत्युशतकतो प्यादि समये ।
समुत्पन्ना यस्मिन्नयलमतिमन्त:कविवरा:
समृद्धिं प्राप्नोतु त्रिपुरजायशम्भो: करुणया ।।[1]

वरकलवंश परम्परा -

इस काव्य के माध्यम से वरकलवंश परम्परा के विशिष्ट विद्वानों के जीवन चरित पर प्रकाश पड़ता है । अनेक सिद्ध और चिर आयु-साधक विद्वान् इस वंश

---

1. श्रीवरकलवंशवृत्तम्, सर्ग 13, श्लोक 47.

उद्देश्य होता है । इस दृष्टि को ध्यान में रखकर ही आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ की रचना की है । अपने वंश के विषय मे रहस्योद्घाटन करना वंश की परम्परा का निर्वाह करना होता है । महापुरुषों के चरित का स्मरण करने से आनन्द प्राप्त होता है । कहा जाता है कि ब्रह्माण्ड मे, समष्टि मे व्याप्त तद्रूप अणु ध्यानकर्त्ता की ओर आकर्षित होने लगते हैं और धीरे-धीरे उसके ध्यान में प्रवेश भी करने लगते हैं । आचार्यश्री को भी अपनी साधना से इसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त हुआ । उनमें अपनी वंश का वैशिष्ट्य भी था जिसके अनेक साधक रहे । साधना के इस क्रम को प्रस्तुत करना ही इस काव्य का प्रमुख प्रयोजन है ।

रचना की समालोचना -

वरकल वंश में उत्पन्न होने वाले अनेक विद्वान् शास्त्र-ज्ञान के अतिरिक्त साधक भी रहे हैं । इस कारण वरकल वंश की ख्याति काशी में विशेष गौरवशाली है । "श्रीवरकलवंशवृत्तम्" में वंश की निम्नलिखित महत्ताओं को उभारा गया है -

वरकलवंश की प्रसिद्धि -

वरकलवंश कृष्ण यजुर्वेदीय आपस्तम्ब सूत्र का अनुयायी होने के कारण काशी के पण्डितों में अपना विशिष्ट स्थान रखता था । आचार्यश्री ने अपने इस वंश के विषय में लिखा है --

> अयं वंशः काश्यां वरकलउपाख्यः सुविदितो
> विदर्भादायातो वत्युशतकतो प्यादि समये ।
> समुत्पन्ना यस्मिन्नयलमतिमन्तःकविवराः
> समृद्धिं प्राप्नोतु त्रिपुरजयिशम्भोः करुणया ।।[1]

वरकलवंश परम्परा -

इस काव्य के माध्यम से वरकलवंश परम्परा के विशिष्ट विद्वानों के जीवन चरित पर प्रकाश पड़ता है । अनेक सिद्ध और चिर आयु-साधक विद्वान् इस वंश

---

1. श्रीवरकलवंशवृत्तम्, सर्ग 13, श्लोक 47.

में पैदा हुए हैं । आचार्यश्री के चतुर्थपूर्वज श्री गोपालभट्ट के पितामह सिद्ध पदवी को प्राप्त थे । सम्भवत: वे चिरजीवी सिद्ध के रूप में विचरण करते रहे । 83 वर्ष की आयु में वे संन्यासी बने थे । आचार्यश्री के पितामह श्री रामकृष्ण भट्ट उत्कृष्ट कोटि के विद्वान् और भगवान् शिव के कृपापात्र भक्त थे । उनके विषय मे आचार्यश्री ने लिखा है --

स्मरहरनगरीस्थे विप्रवृन्दे तिमान्यो
वरकलकुलदीप: शैवशास्त्रप्रवीण: ।
स्वगुरुसमुपदिष्टां योगयुक्तिं चिन्तयन्
समजनि परशम्भो: पूर्णदात्रं कृपाया: ।।[1]

श्रीरामकृष्ण भट्ट वीतरागी विद्वान् थे । अल्पायु में ही उनकी पत्नी का देहान्त हो गया । तदनन्तर उन्होंने विवाह नहीं किया । उनके एक भाई श्रीबामन की नियुक्ति संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापक के पद पर हुई थी । इस बात का एक उत्सव मनाया गया । उसमें धत्तूर बीजों समेत भांग को उबाल कर दिया गया । इससे कई पण्डित रोगी हो गए । कई मर गये और बेचारे बामनशास्त्री रातों रात अन्धे हो गये । श्री रामकृष्ण भट्ट ने भांग के गिलास को मुख के पास लाकर उसे वस्त्रों में उण्डेल दिया । और नशा होने का अभि अभिनय किया । इस घटना से उनका वैराग्य और भी बढ़ गया । आचार्यश्री ने इस घटना को श्लोकबद्ध करते हुए लिखा है --

निदीयभंगां गरलत्वमाप्तां सर्वे पि ते घोर विपत्तिभीयु: ।
कश्चिन्मृत: के पिरुजा समेता: षण्मासमासन्निजबुद्धिदोषात् ।।
वयस्यवृन्दस्य महाग्रहेण तां पीतवान् वामनपण्डितो पि ।
साधारणीयं विजयेति मत्त्वा दुर्भाग्यदोषादधिकप्रभानाम् ।।
भंगामदावेश विनष्टचेष्टो रात्रौ शयान: खलुमूर्छितो भूत् ।

---

1. श्रीवरकलवंशवृत्तम्, सर्ग 7, श्लोक 47.

प्राप्तः ससंज्ञः स दृशा विहीनमात्मानमादधत दुर्दशादयम् ।।
ओष्ठावलम्बं चषकं विधाय पयान्तरादात्य समस्तभंगाम् ।
अलक्षितः स्वैनिरगाद् गृहाय गंगाधरोभाग्यवशान्मनीषी ।।[1]

श्रीरामकृष्ण भट्ट को ही गंगाधर भट्ट भी कहते हैं । उनका यह नाम उनकी मातामह ने रखा था । श्रीरामकृष्ण भट्ट के निःस्पृही जीवन को व्यक्त करने वाला यह श्लोक भी द्रष्टव्य है --

पुण्यश्लोको निःस्पृहो रामकृष्णो,
वाराणस्यां पण्डितानां वरिष्ठः ।
लक्ष्मीनाम्न्या धर्मपत्न्या समेतो,
गेहेतिष्ठत् शम्भुपादौ सिषेवे ।।[2]

आचार्यश्री के पिता का नाम श्रीकृष्ण शास्त्री था । वे उनके गुरु भी थे । "त्रिपुरबालासुन्दरी" की उपासना का ज्ञान उन्हें अपने पितृश्री से ही प्राप्त हुआ था । अल्पायु में हीउनके ऊपर से पिता का साया उठ गया इसका उन्हें बहुत दुःख रहा । अपने पितृश्री के देहावसान के विषय में आचार्यश्री लिखते हैं--

वरकलकुलजश्रीकृष्णशास्त्री पिता मे,
सपदि विरमतः स्वान्पुत्रदारान् विहाय ।
अविगतविधुवेदाब्दो पि सन्नयस्य तूर्णं,
सुखवरनुतकाश्यां शम्भुसायुज्यमाप ।।[3]

इस प्रकार यह रचना वरकलवंश का ऐतिहासिक परिचय देती है । इसके साथ ही तत्कालीन विशिष्ट विद्वानों का स्मरण भीकराती है ।

---

1. श्रीवरकलवंशवृत्तम्, सर्ग 11, श्लोक 22-26.
2. वही, सर्ग 8, श्लोक 70.
3. वही, सर्ग 12, श्लोक 83.

रचना का भावगत महत्त्व -

"श्रीवरकलवंशवृत्तम्" काव्य के अनुशीलन से "वरकल वंश" के गौरवपूर्ण वैशिष्ट्य के लिए श्रद्धा के भाव उत्पन्न होते हैं । यद्यपि कालचक्र के विपरिणाम से स्थिति बदलती रहती है तो भी उसका यश: सौरभ सर्वथा विद्यमान रहता है । जिस वरकलवंश ने श्रीरामकृष्ण भट्ट, श्री गोपालभट्ट, श्री श्रीकृष्णशास्त्री और श्री वैद्यनाथ शास्त्री (वर्तमान में श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य) जैसे मनीषी साधक दिये हैं उसका यश: सौरभ सृष्टिपर्यन्त बना रहेगा । इस ऐतिहासिक काव्य के अध्येता वंश के प्रति श्रद्धालु बने रहेंगे ।

---

# श्रीमदमृतसूक्तिपंचाशिका की समालोचना

## कथावस्तु-विवेचन -

### कथास्रोत -

इस रचना में पचास श्लोक हैं । ये सभी भिन्न-भिन्न समय में, विविध परिस्थितियों में, विविध अभिप्राय तथा लोककल्याणार्थ आचार्यश्री के स्वच्छ मानस में लहरों की तरह प्रस्फुटित हुए हैं । समय-समय पर उन्होंने "श्रीस्वाध्याय" पत्रिका के माध्यम से इन्हें प्रकाशित भी कराया । इस प्रकार यह रचना विविध विषयों का प्रतिपादन करते हुए उच्चकोटि का संग्रह कहा जा सकता है ।

### प्रयोजन -

इस संग्रह का मुख्य प्रयोजन लोकहितार्थ है । अर्थगौरव से मण्डित ये श्लोक सूक्तियां बन गये हैं । ईश-प्रार्थना, गुरु-भक्ति, सत्संगति, तत्त्वावबोध की दृष्टि से योग-साधना तथा राष्ट्रिय-भावनाओं को समवेत रूप से पाठकों तक पहुंचाना ही इस संग्रह का प्रमुख प्रयोजन है । इस प्रयोजन से आचार्यश्री ने संस्कृत वाङ्मय में अद्वितीय सहयोग दिया है ।

### रचना की समालोचना -

विविध प्रयोजन एवं अभिप्राय को प्रस्तुत करने वाली इस रचना में निम्नलिखित विचारो को व्यक्त किया गया है ।

### गुरुशक्ति परमशक्ति है -

गुरुशक्ति परमशक्ति होती है । परमशिव तक पहुंचाने वाली यही एकमात्र शक्ति है । करुणरस से आद्रा गुरुदृक् की स्तुति करते हुए आचार्यश्री लिखते हैं --

पुमांसो वा योषा अदितितनया वा दितिसुता:
समिद्धा: सिद्धा वा प्रकृतिपतिता मूढमतय: ।

समीहन्ते काँचित् करुणमसृणा पाग: शरणां
स्वसंवित्त्यै दिव्यां गुरुदृगमला सा विजयताम् ।।[1]

सद्गुरु का अनुग्रह पात्र होने वाले शिष्य का सर्वथा उत्कर्ष ही होता है । आचार्यश्री का कथन द्रष्टव्य है --

अपुण्यान् पुण्यान्वा परिहृतभिदा या करुणया,
जनांस्त्रातुं दातुं सततमभिता मुक्तपदवीम् ।
प्रसन्ना सन्नद्धा स्वबलवति यस्मिन् गुरुकला,
निराशंसा कापि स्फुरति हृदयं तद्विजयताम् ।।[2]

दुष्टजनों की भर्त्सना -

दुष्टजनो की वाणी कल्याणकारी नही होती उनकी बुद्धि अस्थिरा तथा अविश्वसनीया होती है । वे प्राय: निन्दा करने मे ही अपना समय निकालते हैं और कुटिलता उन्हें नैसर्गिक रूप से ही प्राप्त होता है । आचार्यश्री ने दुष्ट के इस चरित्र को इस प्रकार व्यक्त किया है --

अकल्याणी वाणी मतिरतिचला वृत्तिरसती,
विगीतप्रायैव प्रकृति कुटिलत्वं परिचितिः ।
निसर्गाच्चातुर्यं निरूपममहो साधुहनने,
चरित्रं दुष्टानां किमु किमु न लोकं व्यथयति ।।[3]

सांसारिक विषय-भोगों की दुर्गति -

सांसारिक विषय क्षणभंगुर होते हैं । इन विषय-भोगों में लिप्त व्यक्ति की दुर्गति होती है । आचार्यश्री का कथन है --

द्रुतश्चेतो धावत्यनिशमतिरागान्धितापति-
र्जनो यं संसारे पशुरिव यदर्थं सुहृदये।।
स सो र्थ: सर्वो पि क्षणरुचिसमश्चंचलतर:

1. श्रीमदमृतसूक्तिपंचाशिका, श्लोक 3, पृ० 3.
2. वही, श्लोक 6, पृ० 6.
3. वही, श्लोक 33, पृ० 27.

कथङ्कारं दातुं प्रभवतु सुखं शाश्वतमहो ।।[1]

साधारण मानव विषयभोगों के द्वारा मानव-जीवन का दुरुपयोग करता है । वह अविद्या में पड़ा हुआ विषयभोगों को ही सुख व आनन्द की वस्तु मान लेता है । ऐसे व्यक्ति के जीवन के प्रति खेद प्रस्तुत करते हुए आचार्यश्री का यह कथन कितना सार्थक है, देखें --

कृतानां पुण्यानां परिणतिमपूर्वां नरतनुं
समासाद्य ध्वान्तस्मरमथनसेवासमुचिताम् ।
मुधा क्षिपन्त्येते कुसुमशरसेवासु पतिताः
सुधां त्यक्त्वा हालाहलमहह गृह्णन्ति कुजनाः ।।[2]

सत्संगति की महिमा -

इस संसार में ज्ञानरूपिणी दृष्टि को प्राप्त करने के लिए श्रीयुक्त सज्जन पुरुषों की संगति परमावश्यक है । सत्संगति के बिना मानवयोनि सफल नहीं होती । आचार्यश्री का कथन है --

तनुं लब्ध्वा रम्यामिह हि मनुजानामभिजने,
दृशं प्राप्तुं पुण्यां सदसदवबोधप्रणयिनीम् ।
न यैर्लिप्ता श्रीसच्चरणरजसा भालपटली
कथं तैः सम्प्राप्या त्रिपुरहरसापुज्यपदवी ।।[3]

परमेश्वर-भक्ति के बिना शास्त्र-ज्ञान निरर्थक -

आज मनुष्य वेदशास्त्रादि को पढ़ते हैं । शास्त्रीय ज्ञान स्वहस्तकमलवत् उन्हें विभूषित करता है, किन्तु प्रायः उनके समस्त व्यवहार शास्त्रोक्त नहीं होते । इसका प्रमुख कारण है कि वेपरमेश्वर की श्रीचरणों में अपना मन नहीं लगाते । ऐसे कृतशास्त्र परिश्रमशील विद्वानों को प्रबोध कराने हेतु आचार्यश्री लिखते हैं --

---

1. श्रीमदमृतसूक्तिपंचाशिका, श्लोक 12, पृ0 11.

2. वही, श्लोक 28, पृ0 23.

3. वही, श्लोक 26, पृ0 21.

विदां वृन्दे प्राप्तः प्ठन परिपाटीषु पटिमा,
मनः शान्तेस्वान्ते स्मरहरपदान्ते न गमितम् ।
शरीरान्ते पाशं गतवति कृतान्तस्य सहसा,
किमाभीलं धीमन् । जनिमरणजालं परिहरेत् ।।[1]

परमयोगी की प्रशंसा -

आचार्यश्री एक सिद्ध योगी थे । योग साधना में तल्लीन साधकों के लिए उनके मन में बड़ा आदर भाव था । रागद्वेष सुखदुःख आदि को स्वात्मा में लय करके योगी लोग परमशिव की आराधना में तल्लीन हो जाते हैं । उन्हें न तो स्तुति से सुख मिलता है और न निन्दा से दुःख । स्वात्मानन्द सागर में डूबे हुए उन्हें कोई भी गतिविधि कि साधना से परे नही कर सकती । आचार्यश्री लिखते हैं --

स्तुतिर्वा निन्दा वा भवति यदि तत्तिष्ठतु तथा,
निजानन्दे मग्नं विचलयितुमीष्टे न किमपि ।
अभद्रं भद्रं वा भवति भविकं स्वात्मनि हुतं
न सन्देहस्पन्दो मम तु विषये स्मिन् सुविषमे ।।[2]

शासक एवं शासन-पद्धति के आदर्श मूल्य -

दुःशासन से अभिभूत राष्ट्र में प्रजा सतत क्लेश को प्राप्त होती है । इस प्रकार का जीवन मृत्यु से भी कष्टतर होता है । ऐसे दुःशासकों के लिए आचार्यश्री लिखते हैं --

विजानानैर्नानाविधगतिफलां वंचनकलां
प्रवंच्यन्ते लोका वरमधिगतैःशासकपदम् ।
सुधासिक्तैर्नित्यं ललितवचनैर्यन्न विषयः
स कुम्भीपाकः स्याद्विबुधमतिनिश्च प्रचमिदम् ।।[3]

---

1. श्रीमदमृतसूक्तिपंचाशिका, श्लोक 15, पृ० 13.
2. वही, श्लोक 21, पृ० 17.
3. वही, श्लोक 34, पृ० 27.

जिस संसद में जनसाधारण के उद्धार के लिए नीति निर्धारित नहीं की जाती वे संसद जनकल्याण से परे होते हैं । जिस राष्ट्र में प्रजा को पेट भर भोजन नहीं मिलता वह राष्ट्र शीघ्र नष्ट हो जाता है । आचार्यश्री का कथन है --

युवानो वृद्धा वा सदसि विदधानाः प्रतिदिनं,
जना शंसां मत्त्वा तृणमिव नवान्नीतिनियमान् ।
अशक्तान् पिंषन्तो प्यवनभवनोजानत इमे,
बुभुक्षा श्लिष्टानां मतिरविनयानेव सृजति ।।[1]

राष्ट्र तथा प्रजा के हितों को ध्यान में रखने वाले नेतागण ही राष्ट्रनायक के रूप में प्रशंसा के पात्र हो सकते हैं । आपत्तियों में डूबे हुए जनसाधारण की रक्षा करना राष्ट्रनायक का प्रथम कर्त्तव्य है । आचार्यश्री का कथन द्रष्टव्य है --

निमग्नैराशीर्ष नरकजलधेरन्तरुदरं,
जनानां सङ्घातैरमृतमुपलभ्येत यदि नु ।
ततो नृणां भोगप्रवणधिषणानां खलु भवे-
दमन्दानन्दानां जननममलं शासनमपि ।।[2]

रचना का भावगत महत्त्व -

इस रचना के अध्ययन से पाठकों के मन में अनेक प्रकार के विचारों का प्रवाह होने लगता है । ईश्वरभक्ति, गुरुभक्ति, सांसारिक विषयभोगों की क्षणभंगुरता, सद्-भावों का विकास एवं राष्ट्रीय चेतना से युक्त सूक्तियां अनेक भावों को जन्म देकर पाठक के हृदय को आह्लादित करती हैं । प्रमुख भाव इस प्रकार हैं --

गुरु के प्रति भक्तिभाव -

विवेक-अविवेक का ज्ञान कराने वाला गुरु ब्रह्मा, विष्णु और महेश की तरह आराध्य है । कवि अपने चित्त को सद्गुरु के चरणों में तल्लीन होने का

---

1. श्रीमदमृतसूक्तिपंचाशिका, श्लोक 44, पृ० 36.
2. वही, श्लोक 49, पृ० 40.

बोध कराते हुए कहते हैं कि गुरुकृपा से भयजरामृत्यु का निवारण हो जाता है । चित्त को भ्रमर का तथा सद्गुरु चरणों का कमलयुगल का रूप मानते हुए आचार्यश्री का यह कथन द्रष्टव्य है --

परागाढ्यं श्रीसद्गुरुचरणपाथोज युगली-
समृद्धं हे चित्तभ्रमर । मकरन्दामृतरसम् ।
समासाद्योन्माद्यन् प्रतिभयजरामृत्युहरणं,
भजेथा: स्वात्मानं निरतिशयमानन्दसदनम् ।।[1]

इस सूक्ति के पठन सेसद्गुरु के प्रति भक्तिभाव सहज ही उत्पन्न होने लगते है ।

सद्भावों के प्रति श्रद्धा -

मानवोचितगुणों से युक्त व्यक्ति सद्भावों से परिपूर्ण होता है । ईर्ष्या, द्वेष, निन्दा तथा पाप कर्म व्यक्ति को घोर नरक की ओर ले जाने वाले होते हैं । सद्भावों से युक्त मनुष्य इन व्यक्तियों को पाप कर्मों से बचाता है । ऐसे व्यक्तित्व के प्रति मानव जाति श्रद्धानत हो जाती है । कवि का कथन है --

नरांस्तांजानीहि प्रकटमनुकम्पर्द्रहृदयान्,
यतन्ते ये निन्दां रचयितुमरे मानव तव ।
स्वयं स्वीकृत्यैते निरयशरणं घोरपतनं
पुनानास्त्वां नेतुं दिवमिव यतन्ते नवरतम् ।।[2]

राष्ट्रीय चेतना -

इस संग्रह में तेरह सूक्तियां ऐसी है जो कवि की राष्ट्रवादी भावनाओं को प्रस्तुत करती हैं । संग्रह के चतुर्थांश से भी अधिक भाव में राष्ट्रीयता का चिन्तन कवि का राष्ट्र के प्रति प्रेम प्रस्तुत करता है । वर्षाकाल की नदी के समान

---

1. श्रीमदमृतसूक्तिपंचाशिका, श्लोक 17, पृ0 14.
2. वही, श्लोक 24, पृ0 19.

कतिपय दिनों के लिए सुख शान्ति देने वाली शासन-व्यवस्था कोई अच्छी शासन-व्यवस्था नहीं है । समुद्र की भांति निरन्तर सुखानुभूति कराने वाले शासकों की ही जय-जयकार हुआ करती है । अत: ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे प्रजाजन को स्थायी सुख व लाभ मिलकर सन्तोष प्राप्त हो सके । आचार्यश्री लिखते हैं --

इयं वर्षोत्पन्ना कतिपयदिनाह्लादन करी,
वहन्ती सम्भारं सरणिरजसां कर्दमयुषाम् ।
नदी विद्याढ्यात्तां नररमणमुक्तोद्गमवतीं,
कथं प्राप्या मुक्ता जलनिधिमगाधं व्रतविना ।।[1]

कतिपय जनसमूह को लाभ देने वाली शासन-पद्धति पर यहां गहरा व्यंग्य करा गया है । ऐसी शासनपद्धति न तो गंगादि नदियों की तरह पुरानी और न समुद्र की तरह अगाध होती है जो सभी को शाश्वत सुख प्रदान कर सके ।

ऐसी शासन-पद्धति जिसमें दरिद्र लोग प्रतिदिन पिसते रहें, अच्छी नहीं होती । सर्वजनहिताय शासन-पद्धति की ही प्रशंसा हुआ करती है । कवि ने अपनी सुस्पष्ट विचारधारा को व्यक्त करते हुए लिखा है --

उपायायभ्रष्टैरपि बृहदुपायैर्जनमता-
न्यलम्भाना: सभ्या: सदसि समिता राष्ट्रभरणे ।
दुरन्तैरत्कोचैर्निशि निशि भरन्तो निजगृहान्
जनानां कल्याणान्यहह कवयन्ते दिशि दिशि ।।[2]

---

1. श्रीमदमृतसूक्तिपंचाशिका, श्लोक 37, पृ० 30.

2. वही, श्लोक 45, पृ० 37.

## श्रीस्वाध्यायमहिम्नस्तोत्रम् की समालोचना

### कथावस्तु विवेचन -

#### कथास्रोत -

"स्वाध्यायान्न प्रमदितव्यम्" इस कथन का आधार प्राप्त कर आचार्यश्री ने सोलन से एक पत्रिका "श्रीस्वाध्याय" का प्रकाशन कार्य प्रारम्भ कराया । श्री पं० हरदेव शर्मा त्रिवेदी इसके सम्पादक थे और आचार्यश्री संस्थापक । यह पत्रिका ज्योतिष, स्वराष्ट्र-प्रेम, सामाजिक कुरीतियों, वर्ण-व्यवस्था, आध्यात्मिक जागरण, सन्त-महिमा, त्योहार,पर्व, आयुर्वेदिक ज्ञान तथा सांस्कृतिक महत्त्व को प्रस्तुत करने वाली एक मात्र पत्रिका थी । इस पत्रिका की महिमा को ही आचार्यश्री ने 21 श्लोकों में छन्दबद्ध करके पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया । अत: यह कहा जा सकता है कि पत्रिका की पठनीय विषयवस्तु ही इस स्तोत्र का प्रमुख स्रोत है । चिन्तनशील पाठक अपनी पठनीय सामग्री से भावों का संकलन करके राष्ट्र, समाज व स्वयं का हित-चिन्तन करता है । पाठक का कवि हृदय इन भावों को सरसता का रूप देकर साहित्य में अभिवृद्धि करता है । यही उद्देश्य इस स्तोत्र की रचना का रहा है ।

#### प्रयोजन -

इस रचना का मुख्य प्रयोजन "श्रीस्वाध्याय" पत्रिका की महिमा का गुणगान करना है । स्वाध्याय पत्रिका का प्रकाशन आचार्यश्री ने विश्वकल्याण की समृद्धि हेतु माना है । इस प्रकार की उच्चकोटि की पत्रिका के विषय में आचार्यश्री लिखते हैं --

तत्तद्राष्ट्रे मानवानां व्यवस्थां,
शोभासम्पच्छालिनीमार्यरीत्या ।
प्रेम्णा लोके स्थापयंस्तत्त्वदर्शी
श्रीस्वाध्याय: कल्पतां विश्वभूत्यै ।।"[1]

---

1. श्रीस्वाध्यायमहिम्नस्तोत्रम्, श्लोक प्रथम.

अर्थात् इस संसार में प्रेम से तथा आर्यों की रीति से शोभा और सम्पत्ति से समृद्ध प्रत्येक राष्ट्र में मनुष्य की व्यवस्था (मर्यादा) को स्थापित करता हुआ वास्तविक परिस्थिति को बताने वाला यह "श्रीस्वाध्याय" विश्व के कल्याण और समृद्धि के लिए हो ।

यह कहना समीचीन ही होगा कि कवि इस काव्य के माध्यम से "श्री-स्वाध्याय" की महिमा के साथ-साथ विश्व-बन्धुत्व एवं वैभवशीलता की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं ।

विषय-वस्तु की समालोचना -

इस रचना के अन्तर्गत व्याप्त विचार पाठकों के लिए पत्रिका के माध्यम से निम्नलिखित धारणाओं को निर्धारित करते हैं ।

स्वतन्त्रभाव का संचार -

किसी भी राष्ट्र में जब दु:शासन हो जाता है तो अनेक राष्ट्रघाती लोग उत्पन्न होकर जनता को कष्ट देने लगते हैं । दु:शासन नीति चिन्तनशील विद्वानों को स्वातन्त्र्य भाव की ओर प्रेरित करती है । अपने सद् वाक्यों से वे जनमानस में स्वतन्त्रता का भाव उत्पन्न करते हैं । आचार्यश्री ने "श्रीस्वाध्याय" के स्वतन्त्र भाव के संचार का माध्यम माना है । वे लिखते हैं --

कृतघ्नानां दु:शासननिपतितानामविदुषां
नृणामीक्षामात्राच्छिदन्नयातिगाढा कुधिषणाः ।
सृतिं स्वातन्त्र्यस्य प्रसृमररुचिंस्फारयति नं
कृताय स्वाध्यायं भरत जगती जागरयतु ।।[1]

अविद्या का नाश -

आचार्यश्री की मान्यता है कि श्रीस्वाध्याय पत्रिका के अध्ययन से अविद्या का नाश हो सकता है । यह पत्रिका सर्वांगीण विकास के लिए सभी प्रकार के विषयों का ज्ञान कराती है । कवि लिखते हैं --

---

1. श्रीस्वाध्यायमहिम्नस्तोत्रम्, श्लोक 6.

अविद्यामुन्मूल्य प्रथयति सुविद्यां जगति यः
सुखोपायाँल्लोकान्सरलसरलान्बोधयति च ।
चतुर्वर्गापेतां क्षमयति कुरीतिं सपदि तं
विहाय स्वाध्यायं जगति न सहायो विजयते ।।[1]

सदसद्कार्यों का ज्ञान -

श्रीस्वाध्याय पत्रिका के अध्ययन से मनुष्यों को सदसद् कार्यों का ज्ञान हो जाता है । आचार्यश्री लिखते हैं --

रमन्ते स्वर्लोके सुकृतपरिपाकेन सुजना-
श्च्यवन्ते दुष्कृत्या झटिति नरकान्तश्च कुजनाः ।
रहस्यं कृत्यानां सकलभवगन्तुं सदसता-
ममुं श्रीस्वाध्यायं विमलगुरुभावेन भजत ।।[2]

कल्याणकारी मार्गों का ज्ञान -

मनुष्य अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ही वस्तुओं का संग्रह करते हैं । श्रीस्वाध्याय के अनवरत अध्ययन से पाठक अपने लिए कल्याणकारी मार्गों का निश्चय करते हैं । आचार्यश्री का कथन है --

समर्प्य स्वान्तं स्वं विषयरुचये वस्तुनिचयं
नरः संगृह्णानः प्रकृति कृपणोऽमिवचित ।
अनर्हः कल्याणं कलयितुमयं चित्रमिह किं
विहाय स्वाध्यायं क इहसदुपायं कथयतु ।।[3]

आचार्यश्री का कथन तो यहां तक है कि श्रीस्वाध्याय का अध्ययन समस्त शास्त्रों के ज्ञान के साथ-साथ अखिल कल्याण-पथ की ओर अग्रसित करने वाला है । वे लिखते हैं --

---

1. श्रीस्वाध्यायमहिम्नस्तोत्रम्, श्लोक 7.
2. वही, श्लोक 11.
3. वही, श्लोक 14.

अबुधान्संबुधान्सहजमलिनान्निर्मलगुणान्,
प्रकृत्या वैधेयान्करकलितशास्त्रार्थनिकरान् ।
अशान्तान्संशान्तान्सपदि भजत: एवं विरचय-
न्नयं श्रीस्वाध्यायो नरमखिलभद्राणि नयतु ।।[1]

कवित्व भाव की जागृति -

श्रीस्वाध्याय पत्रिका में शास्त्रीय विवेचन के साथ-साथ मनोवेगों पर भी अनेक लेख प्रकाशित होते रहे हैं । इनके अध्ययन से कवित्व भाव की जागृति होती है । आचार्यश्री का कथन है --

सुखं वा दु:खं वा भवति यदधीनं तदुदितं
विचाराणां जातं हृदयमिति संगीतिरहितम् ।
पवित्री कर्तुं तत्स्वहित रचनायै समुदितं
भजन्तां स्वाध्यायं कविवृष निषेव्यं कृतिवरा: ।।[2]

श्रीस्वाध्याय का अध्ययन काव्य के समस्त रहस्यों को प्रकाशित करने वाला है ।

चमत्कारं कंचिद्रचयति कवे: कर्म परमं
बुधा: प्राहु: काव्यं रुचिररुचिशब्दार्थकलनम् ।
अतेवं तत्कर्म व्रजति खलु नो काव्यपदवी-
मिति श्रीस्वाध्याय: प्रभवति रहस्यं गमयितुम् ।।[3]

सद्प्रयत्नों का विकास -

"सतहितं साहित्यम्" के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो सर्वथा कल्याणकारी मार्गों के सद्प्रयत्नों का विकास कराये वही साहित्य है । श्रीस्वाध्याय ऐसी ही साहित्यिक पत्रिका है जो निरन्तर सद्प्रयत्नों का विकास करती है । आचार्यश्री ने लिखा है -

1. श्रीस्वाध्यायमहिमस्तोत्रम्, श्लोक 19.
2. वही, श्लोक 16.
3. वही, श्लोक 17.

अबुद्धान्संबुद्धान्सहजमलिनान्निर्मलगुणान्,
प्रकृत्यावैधेयान्करकलितशास्त्रार्थान्करान् ।
अशान्तान्संशान्तान्सपदि भजत: एवं विरचय-
न्नयं श्रीस्वाध्यायो नरमखिलभद्राणि नयतु ।।[1]

कवित्व भाव की जागृति -

श्रीस्वाध्याय पत्रिका में शास्त्रीय विवेचन के साथ-साथ मनोवेगों पर भी अनेक लेख प्रकाशित होते रहे हैं । इनके अध्ययन से कवित्व भाव की जागृति होती है । आचार्यश्री का कथन है --

सुखं वा दुःखं वा भवति यदधीनं तदुदितं
विचाराणां जातं हृदयमिति संशीतिरहितम् ।
पवित्री कर्तुं तत्स्वहित रचनायै समुदितं
भजन्तां स्वाध्यायं कविवृष निषेव्यं कृतिवरा: ।।[2]

श्रीस्वाध्याय का अध्ययन काव्य के समस्त रहस्यों को प्रकाशित करने वाला है ।

चमत्कारं कंचिद्रचयति कवे: कर्म परमं
बुधा: प्राहु: काव्यं रुचिररचिशब्दार्थकलनम् ।
अतेवं तत्कर्म व्रजति खलु नो काव्यपदवी-
मिति श्रीस्वाध्याय: प्रभवति रहस्यं गमयितुम् ।।[3]

सद्प्रयत्नों का विकास -

"सतहितं साहित्यम्" के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो सर्वथा कल्याणकारी मार्गों के सद्प्रयत्नों का विकास कराये वही साहित्य है । श्रीस्वाध्याय ऐसी ही साहित्यिक पत्रिका है जो निरन्तर सद्प्रयत्नों का विकास करती है । आचार्यश्री ने लिखा है -

---

1· श्रीस्वाध्यायमहिमस्तोत्रम्, श्लोक 19·
2· वही, श्लोक 16·
3· वही, श्लोक 17·

अबुद्धान्संबुद्धान्सहजमलिनान्निर्मलगुणान्,
प्रकृत्यावैधेयान्करकलितशास्त्रार्थनिकरान् ।
अशान्तान्संशान्तान्सपदि भजत: स्वं विरचय-
न्नयं श्रीस्वाध्यायो नरमखिलभद्राणि नयतु ।।[1]

कवित्व भाव की जागृति -

श्रीस्वाध्याय पत्रिका में शास्त्रीय विवेचन के साथ-साथ मनोवेगों पर भी अनेक लेख प्रकाशित होते रहे हैं । इनके अध्ययन से कवित्व भाव की जागृति होती है । आचार्यश्री का कथन है --

सुखं वा दु:खं वा भवति यदधीनं तदुदितं
विचाराणां जातं हृदयमिति संशीतिरहितम् ।
पवित्री कर्तुं तत्स्वहित रचनायै समुदितं
भजन्तां स्वाध्यायं कविवृष निषेव्यं कृतिवरा: ।।[2]

श्रीस्वाध्याय का अध्ययन काव्य के समस्त रहस्यों को प्रकाशित करने वाला है ।

चमत्कारं कंचिद्रचयति कवे: कर्म परमं
बुधा: प्राहु: काव्यं रुचिररुचिशब्दार्थकलनम् ।
अतेवं तत्कर्म व्रजति खलु नो काव्यपदवी-
मिति श्रीस्वाध्याय: प्रभवति रहस्यं गमयितुम् ।।[3]

सद्प्रयत्नों का विकास -

"सतहितं साहित्यम्" के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो सर्वथा कल्याणकारी मार्गों के सद्प्रयत्नों का विकास कराये वही साहित्य है । श्रीस्वाध्याय ऐसी ही साहित्यिक पत्रिका है जो निरन्तर सद्प्रयत्नों का विकास करती है । आचार्यश्री ने लिखा है -

---

1· श्रीस्वाध्यायमहिमस्तोत्रम्, श्लोक 19·
2· वही, श्लोक 16·
3· वही, श्लोक 17·

शान्तिप्राप्तौ स्वहृदभिमते भुक्तिमुक्ती उभे ते
वांछन्दृष्टौ जगति सकले जीवलोकः स्वभावात् ।
वांछापूर्त्तिः कथमिव भवेदन्तरासत्प्रयत्नं
स्वाध्यायो यं मनसि सुतरां स्फारयेत्तं प्रयत्नम् ।।[1]

रचना का भावगत महत्त्व -

इस रचना में श्रीस्वाध्याय पत्रिका की महिमा का गुणगान किया गया है । गुणों का महत्त्व यही है कि उनके अनुसरण से व्यक्ति अपने जीवन का उद्धार कर सके । गुण शाश्वत होते हैं । अतः शाश्वत सत्ता तक ले जाने वाले गुण ही महिमा से मण्डित हुआ करते हैं । इस रचना के अध्ययन से श्रीस्वाध्याय पत्रिका के प्रति निम्नलिखित भावों की जागृति होती है ।

मर्यादा भाव -

श्रीस्वाध्याय पत्रिका हमें मर्यादा बतलाती है । यह मर्यादा स्वत्व से लेकर परत्व तक, व्यष्टि से लेकर समष्टि तक व्याप्त है । कवि के अनुसार समाज, राष्ट्र और व्यक्तिगत जीवन यदि मर्यादा रहित हो जाते हैं तो उनका विनाश अवश्यंभावी है । उन्होंने लिखा है --

तत्तं द्राष्ट्रे मानवानां व्यवस्थां
शोभासम्पच्छालिनीमार्यरीत्या ।
प्रेम्णालोके स्थापयंस्तत्त्वदर्शी
श्रीस्वाध्यायः कल्पतां विश्वभूत्यै ।।[2]

श्रेष्ठ कर्मों के प्रति आस्था भाव -

कर्मों की क्रियान्विति एवं फल के आधार पर ही सज्जन और दुर्जन का भेद स्पष्ट होता है । श्रेष्ठ कर्म व्यक्ति को इह लोक में भी स्वार्गिक आनन्द की

---

1. श्रीस्वाध्यायमहिमस्तोत्रम्, श्लोक 2.

2. वही, श्लोक 1.

अनुभूति कराते हैं । कृत्याकृत्य कर्मों के निर्णय से ही श्रेष्ठ कर्म करने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है । कवि की इन पंक्तियों का भाव द्रष्टव्य है --

स्वतोने निदीयान्भवति नदवीयाननिचय:
स्वयं ज्योति: स्वात्मा रवहृदि निरपेक्षमनिवसति ।
सलभ्यो लभ्यो वा भवतिमदितकेन सुशको
विना श्रीस्वाध्यायं दलित भवभेदं बुधवरा: ।।"[1]

वस्तु-अवस्तु का बोध-भाव

इस रचना के माध्यम से यह भाव प्रस्तुत किया गया है कि संसार में क्या सार है, और क्या असार । व्यक्ति अपने कल्याण के लिए स्वयं प्रयत्न करता है । कभी-कभी उसका प्रयत्न इसलिए असफल हो जाता है कि उसे वस्तु-अवस्तु का बोध नहीं होता । कवि का कथन इस भाव को प्रस्तुत करता है --

"संसारं वा सारं जगदवितथं वा स्ति वितथं,
सदा येषामेवं तुदति हृदयं संशयगण: ।
भजन्तं नि:शकं कृतिशतसमीड्यं जगति ते
जना: श्रीस्वाध्यायं सपदि परमं निर्णयपदम् ।।"[2]

--

---

1· श्रीस्वाध्यायमहिमस्तोत्रम्, श्लोक 15·

2· वही, श्लोक 12·

## पिक-प्रत्युक्ति - रचना की समालोचना -

### रचना का स्रोत -

पिक-प्रत्युक्ति आचार्यश्री की अध्ययनकाल की रचना है। महामहोपाध्याय श्रीनारायणशास्त्री खिस्तेजी की समवयस्क मित्र-मण्डली ने एक "पिक" काव्य की शृंखला चलाई, जिसकी प्रथम रचना "पिकाभ्यर्थनम्" एक लघुकाव्य स्वयं खिस्ते जी ने लिखा। उसके बाद अन्य कवियों ने "पिकोत्तरम्", "पिकप्रत्युक्ति" इत्यादि नामों से छोटे-छोटे काव्य लिखे थे। इन सबों में वैद्यनाथ शास्त्री (श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य) अल्पवयस्क थे, उन्होंने भी एक "पिकप्रत्युत्तरम्" लिखा, जिसका प्रकाशन इस बालकवि के उत्साहार्थ काशी के एक सम्पन्न व्यक्ति रायबहादुर कुमार नन्दलाल ने किया था।

### रचना का प्रयोजन -

रचना का मुख्य प्रयोजन "पिक" काव्य की शृंखला में एक रचनात्मक सहयोग देना था। इस रचना से कवि की बचपन से ही साहित्य, छन्दःशास्त्र तथा काव्य रचना की ओर बलवती रुचि का आभास मिलता है। बालकवि का विचार है कि प्रबुद्ध कवि अपने ही परिवेश से काव्य संसार की सृष्टि हेतु कथावस्तु व रस को प्राप्त करता है। जीवों का संलाप, वनस्पति का उल्लास और प्रकृति का क्रमिक परिवर्तन सभी कुछ काव्य का विषय बन कर उभरते हैं। दोनों कोयलों का वार्तालाप इसी का प्रमाण है।

रचना की समालोचना -

यह रचना आचार्यश्री के कवि, जीवन का बाल प्रयास है । अतः कवि ने इसे गुरु कृपा ही कहा है । दो कोयलों के मनोभावों को प्रकट करने के उद्देश्य से कवि ने रचना के परिवेश की ओर इंगित किया है । प्रमुखतः निम्नलिखित आधार यहां प्रस्तुत किये गये हैं --

साहित्यरीति की प्रशंसा -

रचना से कवि के छन्दःशास्त्र का ज्ञान स्पष्ट झलकता है । साहित्यरीति की प्रशंसा में कवि का विचार है कि सुन्दरपदों से युक्त, साधुवर्ती तथा सुवर्णा, अनेक रसों से युक्त होकर अनेक भावों को प्रस्तुत करने वाली और रसिकों में मोद उत्पन्न करने वाली काव्यरीति ही साहित्यरीति कहलाने के योग्य है । कवि का कथन है --

सुललितपदयुक्ता साधुवृत्ता सुवर्णा,
बहुरसभरिता या नैकभावान्विता च ।
जनितरसिकमोदा: साधुसीमन्तिनीवत्,
जयति कृतिपराणां "सा हि साहित्यरीति:"[1]

कवि-गीतों में सरसता का रहस्य -

कवि का विश्वास है प्रकृति के चितेरे पक्षियों से ही कवि के गीतों में सरसता उत्पन्न होती है । द्वितीय कोयल के मुख से कवि ने इसी भावना को प्रकट किया है--

मच्छिक्षणप्राप्तपिकस्वराणां
विलासिनीनां खलु गीतिकासु ।
दत्तावधानश्चिरकालमुग्ध-
स्तिष्ठामि विस्मृत्य रसं मनोज्ञम् ।।[2]

---

1. पिकद्वयसूक्ति, श्लोक 4.
2. वही, श्लोक 10.

वाणी का महत्त्व - लोक-कल्याण

लोक-कल्याण-भावना का प्रचार व प्रसार करना ही वाणी का महत्त्वपूर्ण गुण है । सद्भावों से पूरित सुमधुरवाणी ही लोक-संताप को नष्ट कर सकती है । प्रथम कोयल ने अपने मौन का कारण बतलाते हुए कहा है --

मद्वाणीं बहुमधुरां प्रहर्षिणीं च
संगावां रसभरितां निशम्यलोकः ।
मां व्यर्थं क्वचिदपि बन्धने नियोक्तु-
मुद्योगं किल कुरुते त एव मौनम् ।।[1]

रचना का भावगत महत्त्व -

बालकवि की यह रचना यद्यपि प्रौढ रचना नहीं है तथापि इसमें कविहृदय को भाव-विभोर करने के गुण विद्यमान है । कविता से निम्नलिखित भाव उत्पन्न होते हैं --

भगवती सरस्वती के प्रति श्रद्धा -

परम्परानुसार कवि ने भी मां भारती की उपासना में दो श्लोकों की रचना की है । मां सरस्वती के स्वरूप-ध्यान का वर्णन कितना मर्मस्पर्शी है यह इस श्लोक से देखा जा सकता है --

बालार्कबाणकिरणारुणदेहकान्ति-
र्मालावराभयसुपुस्तकधारिणी च ।
या लाभदा विकचपंकजवासिनी सा
बाला दयार्दनयना स्तु मयि प्रसन्ना ।।[2]

---

1. पिकप्रत्युक्ति, श्लोक 12.
2. वही, श्लोक 3.

भगवती सरस्वती अपनी पवित्रता से जड़ता का हरण कर देती है । वह कविहृदय की इच्छाओं को निरन्तर पूर्ण करती है । बालकवि ने अपने हृदय में निरन्तर निवास करने हेतु उससे प्रार्थना की है --

कविकुलहृदयान्तर्वासिनी रुच्यवर्णा
कृतिजनमहनीया जाड्यहन्त्री पवित्रा ।
अविरतभजकानां कामनापूरयित्री
भवतु मम सदा सा भारती मंगलाय ।।[1]

पिक-माध्यम से कवि-भावना का उजागर -

शास्त्रों में कोयल को महत्त्वपूर्ण पक्षी माना है । वसन्त ऋतु वर्णन में उसकी मधुर वाणी सभी को रुचिकर लगती है । उसकी "पिउ । पिउं" की मधुर वाणी का कवियों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है। सज्जनों के हृदय-स्पर्शी वचनों की तुलना भी कोयल की वाणी से दी जाती है । मधुर कण्ठ तो कोकिल-कण्ठी ही कहलाते हैं । कोकिलों का यह संभाषण हृदय को बहुत अच्छा लगता है । कवि की मान्यता है कि कवियों को मधुर स्वरयुक्त गीत लिखने का प्रशिक्षण तो कोयल से ही प्राप्त हुआ है । इस प्रकार कविहृदय का यह भाव कि सुमधुर व ललित भावों से युक्त गीत ही लोक-कल्याण की भावना उपस्थित करते हैं, इस कविता से प्राप्त होता है ।

----

---

1. पिकप्रत्युक्ति, श्लोक 3.

श्रीआत्मचरितम् काव्य की समालोचना -

कथावस्तु की समालोचना -

कथास्रोत -, इस काव्य का रचना-स्रोत कवि का अपने जीवन के बारे में रहस्य उपस्थित करना है । इसके अतिरिक्त अपने वंश की वैदिक शाखा का वर्णन करना और वंश का संक्षिप्त परिचय देना है ।

काव्य का प्रयोजन -- काव्य का प्रमुख प्रयोजन अपने विविध जन्मों के रहस्यों का उद्घाटन करना है । अपने जीवन की मर्मान्तक घटनाओं को प्रस्तुत कर मन के भार से मुक्त होना भी इसका प्रयोजन है । विवाह के पश्चात् गृहत्याग करने के पीछे प्रमुख उद्देश्य क्या था, उसको भी कवि ने बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है । निर्धनता के कारण ससुराल वालों से अपमानित होने के कारण ही आचार्यश्री को गृह-त्याग करने के लिए विवश होना पड़ा ।

काव्य की समालोचना -- इस लघु काव्य में मूलतः अपने जीवन से सम्बन्धित निम्नलिखित बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है -

विविध जन्मों का विवरण - आचार्यश्री ने इस काव्य में अपने विविध जन्मों का वर्णन किया है । गुरु-शाप से विद्याधर लोक से उतर के कर वे इस पृथ्वी पर आये । वे विद्याधरलोक में भी तपस्वी जीवन ही व्यतीत कर रहे थे । कुछ अन्य विद्याधरों को उनके प्रति ईर्ष्या हो गई और उनके चरित्र पर झूंठा लांछन लगाते हुए उनके गुरु के मन में क्रोध का भाव उद्बुद्ध कर दिया । आचार्यश्री निरपराध थे, अतः उन्होंने गुरुजी की डाट-डपट को सहन नहीं किया । इस आपसी विवाद में कुछ अनुशासनहीनता की बातें भी हो गई जिसके कारण गुरु ने उन्हें शाप दे दिया और उन्हें मर्त्यलोक में जन्म लेना पड़ा । आचार्यश्री लिखते हैं --

सो ह विद्याधरनिवसनात्प्राप्य मानुष्यमेत-
च्छापाद्भ्रष्टो निजगुरुपदाद्गुर्ववज्ञाजदोषात् ।
राजाभूत्वा प्रथमजनने विप्रबालस्ततोद्वि-
स्तुर्ये जन्मन्यपि पुनरहो ! विप्रभाव गतो स्मि ।।

सबसे प्रथम जन्म में वे राजस्थान के राज्य के राजा थे । संवत् 1948 में उन्होंने राजा का शरीर त्यागा । तत्पश्चात् रावलपिंडी के पास किसी ब्राह्मण घर में जन्म लिया, वहाँ भी पाँच वर्ष की आयु में ही उनका देहान्त हो गया । इसके पश्चात् गुजरात के कूजास्थान में पुन: ब्राह्मण बालक बने । सात वर्ष की आयु में पुन: शरीर त्याग दिया । उसके पश्चात् अब पुन: उत्तम वंश वरकल वाले ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर विद्वान् बने हैं ।

भगवान् दुर्वासा का अनुग्रह - पूर्वजन्मों के संस्कारवश तथा विद्याधरलोक के निवासी होने के कारण भगवान् दुर्वासा का उन पर अनुग्रह हुआ । स्वयं साक्षात् दर्शन देकर उन्होंने उत्कृष्टतर "शाम्भवयोग" की दीक्षा दी । इस योग विद्या के निरन्तर अभ्यास से ऐसी स्थिति में पहुंचना चाहते हैं जहाँ से ऊर्ध्वलोकों की ओर संक्रमण करना आसान हो सके और इस मर्त्यलोक में पुन: जन्म लेना सम्भव न हो सके ।

सन्यास लेने का प्रण - अपनी इस कृति में सन्यास लेने से सम्बन्धित एक घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे एक बार गंगा-प्रवाह में डूबने लगे तो उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे आजीवन अपने आपको आराधना एवं साधना में लगा देंगे । इसके प्रतिज्ञा के तुरन्त बाद एक ऐसा झटका लगा कि वे तट पर आ लगे । उन्होंने तभी से सन्यास लेने का प्रण कर लिया ।

परिव्राजक बनने का कारण -- परिव्राजक बनने के कारण को स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री लिखते हैं कि श्वसुर गृह के अनेक सम्बन्धी उनकी निर्धनता के कारण उनका अनादर किया करते थे जिसके कारण उनका मन बहुत ही दु:खी रहता था । अन्त में उन्होंने इस बात से खीज कर गृह-त्याग करने का फैसला किया और गृहत्याग करके परिव्राजकता को अपनाना ही श्रेयस्कर समझा ।

रचना का भावगत महत्त्व -

यह रचना कवि के अपने व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं के आधार पर रची गई है । कवि की आन्तरिक भावनाएं इस काव्य के माध्यम से प्रकट होती है । प्रमुख रूप से कवि ने इन भावों को इस कविता में प्रस्तुत किया है --

<u>गुरु अवज्ञा के कारण दयनीय दशा की प्राप्ति</u> -- आचार्यश्री का कथन है कि विद्याधरलोक में निवासी तपोनिष्ठ प्राणी भी गुरु की अवज्ञा के कारण शाप को प्राप्त हो जाते हैं । अत: इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि गुरु का कभी भी अपमान नहीं करना चाहिए ।

<u>पवित्र साधना से ही श्रेष्ठ गुरु की प्राप्ति संभव</u> -- आचार्यश्री का कथन है कि यदि साधना पवित्र लक्ष्य को लेकर की जा रही है तो उसमें सहयोग देने के लिए श्रेष्ठ गुरु स्वयं प्रकट हो जाते हैं जैसे भगवान् दुर्वासा ने स्वयं उपस्थित होकर आचार्यश्री को शाम्भवी योग साधना की दीक्षा दी, जिसके कारण उन्हें जन्म-मरण के भाव से मुक्ति मिल सकी ।

----

गुरू अवज्ञा के कारण दयनीय दशा की प्राप्ति -- आचार्यश्री का कथन है कि विद्याधरलोक में निवासी तपोनिष्ठ प्राणी भी गुरू की अवज्ञा के कारण शाप को प्राप्त हो जाते हैं । अतः इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि गुरू का कभी भी अपमान नहीं करना चाहिए ।

पवित्र साधना से ही श्रेष्ठ गुरू की प्राप्ति सम्भव -- आचार्यश्री का कथन है कि यदि साधना पवित्र लक्ष्य को लेकर की जा रही है तो उसमें सहयोग देने के लिए श्रेष्ठ गुरू स्वयं प्रकट हो जाते हैं जैसे भगवान् दुर्वासा ने स्वयं उपस्थित होकर आचार्यश्री को शाम्भवी योग साधना की दीक्षा दी, जिसके कारण उन्हें जन्म-मरण के भाव से मुक्ति मिल सकी ।

----

# अष्टम - अध्याय

## रचनाओं का काव्य–शास्त्रीय अध्ययन

### कला पक्ष

1. गुण
2. रीति
3. मार्ग
4. पद लालित्य
5. शब्द–शक्ति
6. अलंकार–सौन्दर्य
7. छन्द–योजना

### भाव पक्ष

रस

1. भक्ति रस
2. वीर रस
3. शृंगार रस

कवि संसार का चैतन्य प्रधान व्यक्ति होता है । वह अपने परिसर से ही काव्य-जगत की सृष्टि के लिए विषय-वस्तु एकत्रित करता है । अपनी काव्य-प्रतिभा के सहयोग से वह ऐसी रचना को अभिव्यक्त करता है जो लोकरंजन के साथ-साथ लोककल्याण को भी प्रस्तुत करती है । रचना की यह अभिव्यक्ति कवि के मानसिक-संस्कार पर अधिक निर्भर रहती है । लोककल्याण की भावना से ओत-प्रोत कवि अपनी कविता को जनसाधारण की दृष्टि से सरल व सरस बनाने का प्रयत्न करता है । इस विशाल दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए भी कवि काव्य-शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह करने के लिए पूर्णतः सजग रहता है । उसकी कविता की कसौटी तो शास्त्रीय अध्ययन ही है जो उसे कवि की श्रेणी में लाकर खड़ी करती है ।

काव्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसमें पदार्थ ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कई स्थितियां होती हैं जिनमें स्थित होकर काव्य पूर्णता को प्राप्त होता है । काव्य में शब्द और अर्थ प्रमुख होते हैं । आचार्य मम्मट ने काव्य के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए लिखा है --"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावलंकृती पुनः क्वापि"।[1] वे शब्द और अर्थ जो अदोष, सगुण तथा अलंकार से युक्त और कभी-कभी अलंकार रहित भी हों, काव्य कहलाते हैं । आचार्यों ने काव्य के लिए गुण, रीति, मार्ग, पद-लालित्य आदि भाषा शैली की दृष्टि से, अलंकार-सौन्दर्य की दृष्टि

-----------------------------

1. काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, प्रथम उल्लास, कारिका पृ.

से, तथा छन्द-योजना काव्य निर्माण की दृष्टि से आवश्यक मानते हैं । इनके आधार पर काव्य का कलापक्ष उभरता है । तथा रस के आधार पर उसके भाव पक्ष का ज्ञान प्राप्त होता है । आचार्य श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य की रचनाओं का इन्हीं दोनों पक्षों की दृष्टि से अध्ययन इस अध्याय में किया जायेगा ।

कला-पक्ष -

गुण -

काव्य-गुण का स्वरूप निर्धारित करते हुए आचार्य मम्मट ने लिखा है--

ये रसस्यांगिनो धर्मा: शौर्यादयइवात्मन: ।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा: ।।[1]

अर्थात जिस प्रकार शूरता इत्यादि आत्मा के धर्म है, इसी प्रकार जो काव्य में प्रधानतया स्थित रस के धर्म हैं तथा रस के साथ नियत स्थित वाले हैं, ऐसे रसोत्कर्ष के हेतु गुण कहलाते हैं । गुण तीन प्रकार के होते है -- माधुर्य, ओज और प्रसाद ।

माधुर्य गुण -

"आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम् ।"[2]

चित्त की द्रुति का कारण जो आह्लादकता है वही माधुर्य गुण है । यह शृंगार रस में होता है । करुण, विप्रलम्भ शृंगार तथा शान्त रस में उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर हो जाता है ।

टवर्ग से भिन्न, अपने-अपने वर्ग के अंतिम वर्ण से युक्त समस्त स्पर्श वर्ण, लघु स्वर जिनके बीच में हों ऐसे "र" और "ण" अल्प समास या मध्य समास वृत्ति वाली रचना माधुर्य की व्यंजक हैं । आचार्यश्री की "मन्दाक्रान्तास्तोत्रम्" रचना

---

1· काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, अष्टम उल्लास, कारिका 66, पृ0 406·

2· वही, अष्टम उल्लास, कारिका 68, पृ0 417·

में भगवतीमां के स्वरूप-शृंगार-ध्यान का एक उदाहरण --

सद्यो जाग्रत्प्रहसितसिताम्भोरुहाभं स्वरूपं
कुन्दोदारं जननि । विहसच्चूर्णकर्पूरपूरम् ।
ध्यायं ध्यायं जितसुरगुरोर्विश्ववन्द्यस्यनूनं,
तस्याकल्पं प्रवहति महाकीर्तिपीयूषसिन्धुः ।।[1]

इस श्लोक में भगवती के खिले हुए श्वेत कमल, उज्ज्वल कुन्द पुष्प तथा पिसे हुए कर्पूर से भरपूर भगवती के स्वरूप ध्यान से चित्त द्रुत गति से आह्लादित हो जाता है अतः यहां माधुर्य गुण को काम में लिया है । रचना में "सिताम्भो" "कुन्द""वन्द्य" "विहच्चूर्ण" "कर्पूर" "कल्पाद्य" व्यंजक है ।

श्रीत्रिगुणेश्वर शिवस्तोत्रम् से एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है -

गौरीं गणेशसहितां दधतं निजांके
गौरं प्रसन्नमुखम्बुज-लोचनाद्यम् ।
गंगां स्वमूर्धनि जटापटले दधानं
ध्यायामि तं हृदि शिवं त्रिगुणेश्वरं स्वम् ।।[2]

इस श्लोक में भगवान् शिव का ध्यान चित्त को सहज आकर्षित करता है । माधुर्य भाव से परिपूर्ण यह रचना माधुर्य गुण का सुंदर उदाहरण है । "निजांक", "प्रसन्न", "मुखम्बुज", "गंगां", "हृदि" आदि पदों में स्पर्श वर्णों के पंचम वर्णों के साथ प्रथम और तृतीय वर्ण का योग होने से ये सभी पद माधुर्य गुण के व्यंजक हैं ।

"बालकं मां पाहि" रचना में मां भगवती के प्रति की गई अर्चना में माधुर्य गुण की स्पष्ट झलक दिखाई देती है -

"विलम्बं हेतुतः कस्मात् करोषि त्वं मुधा मातः ।
उपेक्षातो मदीयाया अधो धो जायते पातः ।।

---

1. श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, श्लोक 23, पृ० 20.

2. श्रीत्रिगुणेश्वरस्तोत्रम्, श्लोक 3, पृ० 40.

इस सम्पूर्ण रचना में ट वर्ग का परिहार किया गया है । संयुक्त वर्ण इतने सरल हैं कि न तो उनके उच्चारण में ही कठिनाई है न अर्थ ज्ञान में । दीर्घ सामासिक पदावली का अभाव है ।

ओज गुण -

"दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतु रोजो वीररसस्थिति ।"[1]

दीप्तरूप चित्त के विस्तार का हेतु ही ओजगुण है । उसकी स्थिति वीररस में होती है । वीररस से वीभत्स में तथा वीभत्स से रौद्र में ओज गुण बढ़कर होताहै ।

वर्गों के प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण का योग, रेफ से ऊपर-नीचे किसी वर्ण का संबंध, तुल्य वर्णों का योग, ट वर्ग, श, ष वर्ण, दीर्घ समास तथा विकट रचना ओज गुण के व्यंजक हैं ।

श्रीसंक्रान्तिपंचदशी रचना में संक्रान्ति की भावनाओं को प्रकट करते हुए आचार्य ने वर्णन किया है --

दुर्भिक्षं दृढदलतृप्तदस्युदत्तं
देशेषु प्रतिपलघस्मरं प्रसारि ।
दृष्ट्वा पि व्यथितमना: सदार्यजुष्टां
संक्रान्तिं जगतिभजेत को न विद्वान् ।।[2]

वीर रस से परिपूर्ण इस श्लोक में अनार्य आततायी लोगों के कुकृत्यों को समूल नष्ट करने हेतु ओजपूर्ण शब्दों को प्रयोग किया गया है जिससे दीप्तरूप चित्त का विस्तार होता है । "दृढदल", "दृप्तदस्युदत्त", "सदार्यजुष्टां" आदि व्यंजक ओजगुण के हैं ।

एक अन्य उदाहरण श्रीपरशुरामस्तोत्र से द्रष्टव्य है -

---

1· काव्यप्रकाश, आ·मम्मट, अष्टम उल्लास, कारिका 69, पृ0 418·

2· श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 12, पृ0 20·

मत्तक्षत्रियकृत्तकराठ विगलद्रक्तौघसम्प्लावितं,
भक्ता नुग्रहणं कठोरपरशुंधृत्वा वतीर्या धुना ।
दृप्तोद्दण्डदुरीहदुष्टदमनो दीना वलीपालको
धर्मोद्धारधुरन्धरो भृगुवरो राम: समुज्जृम्भताम् ।[1]

इस श्लोक में भगवान परशुराम के ओजस्वी स्वरूप का वर्णन है । दुष्टों का दमन करने वाले, धर्मोद्धार में धुरन्धर भृगुकुल श्रेष्ठश्री परशुराम के वीररस से परिपूर्ण व्यक्तित्व का स्मरण करके चित्त का विस्तार स्वत: ही विकसित होने लगता है ।

"दृप्तोद्दण्डदुरीहदुष्टदमनो" "धर्मोद्धारधुरन्धरो" तथा "समुज्जृम्भताम्" आदि पदों में दीर्घ सामासिक तथा विकट रचना के रचना में दर्शन होते हैं, "मत्त" "कृत्त" आदि पद तुल्य वर्णों के योग से बने हैं । "कराठ", "कठोर", "दण्ड", "दुष्ट" आदि पदों में ट वर्ग का बहुतायत से प्रयोग हुआ है । इस प्रकार अपने अनुकूल व्यंजकों के प्रयोग के कारण यह रचना ओज गुण की रचना है ।

प्रसाद -
-----

शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव य: ।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादो सौ सर्वत्र विहितस्थिति: ।।[1]

अर्थात् जिस प्रकार सूखे ब इन्धन में अग्नि तथा स्वच्छ वस्त्र में जल सहसा व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार जो गुण सहसा चित्त में व्याप्त होता है, वह प्रसाद गुण है । प्रसाद गुण समस्त रसों तथा समस्त रचनाओं में विद्यमान रहता है ।

जिस प्रसाद-व्यजक शब्दादि के द्वारा श्रवण मात्र से ही शब्द से अर्थ की प्रतीति हो जाती है, जो सब रसों तथा रचनाओं में समान रूप से हो सकता है वह प्रसाद का व्यंजक है । आचार्यश्री की भक्तिभावना से युक्त अधिकांश रचनाएं प्रसादमयी है । कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

---------------------
1. काव्यप्रकाश, आ. मम्मट, अष्टम उल्लास, का० 70, पृ० 419.

हर मे हर वाम लोचने,
सकलां त्वं मलयंक संहितम् ।
भवभूरि भयापहारिणी
भवसिंधौ भवभीति चेतसाम् ।।[1]

इस श्लोक में व्याप्त भक्तिभाव ही हृदय में व्याप्त हो जाते हैं । श्रवण (पठन) मात्र से ही शब्द से अर्थ की प्रतीति हो जाती है ।

एक अन्य उदाहरण श्रीपरशिवाष्टकम् से उद्धृत है -

दीननाथ, भगवन्, दयानिधे
पाहि पाहि शरणागतं प्रभो ।
क्षम्यतां मयि शिवेति चारटम्
भावये परशिवं शिवायुतम् ।।[2]

सरल, सुबोध, एवं सहज हृदयग्राह्य यह रचना प्रसाद गुण सम्पन्न रचना है । इसमें अपनी आत्मरक्षा के लिए की गई तीव्र रट सहज आकर्षणीय प्रतीत होती है ।

रीति --

रीति की पदसंघटना के रूप में प्रस्तुत करते हुए विश्वनाथ कवि का कथनहै--

पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनां सा पुनःस्याच्चतुर्विधा ।।
वैदर्भी चाथ गौडी च पांचाली लाटिका तथा ।[3]

---

1· श्रीदेव्यास्तोत्रम्, श्लोक 5, पृ० 2·

2· श्रीपरशिवाष्टकम्, श्लोक 6, पृ० 11·

3· साहित्यदर्पण, विश्वनाथ कविराज, परिच्छेद 9, का01, पृ0 498, सं0 2041·

अर्थात् शरीर के मुखादि अवयवों की तरह काव्य की पदसंघटना को रीति कहा जाता है। रीति काव्य में रसादि की पोषक होती है। यह चार प्रकार की है -- ‖1‖ वैदर्भी, ‖2‖ गौडी, ‖3‖ पांचाली तथा ‖4‖ लाटिका।

लाटी रीति वैदर्भी तथा पांचाली के अन्दर ही स्थित है अतः रीति तीन प्रकार की ही मानी जाती है।

वैदर्भी -

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्ति अल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ।।[1]

माधुर्य व्यंजक वर्णों से युक्त, समासरहिता या अल्प समास वाली रचना वैदर्भी रीति में होती है।

आचार्यश्री की रचनाएं हृदय को स्पर्श करने वाली है। उन्होंने शब्द और अर्थ की सहज बोधगम्यता को ध्यान में रखकर ही रचना की है। कुछ उदाहरण वैदर्भी रीति के द्रष्टव्य हैं --

शूराणां रणमरणेन या भराणां,
धीराणां जनशरणाय सादराणाम्।
वीराणां रणवरणे विभाकराणां
संक्रान्ति कलयत काम‌कल्पवल्लीम् ।।[2]

ट वर्ग से रहित "र" तथा "ण" वर्ण का सुन्दर प्रयोग, समास रहित "जनशरणाय", "रणवरणे" आदि पदों में अल्प समास होने के कारण यहां वैदर्भी रीति का प्रयोग हुआ है।

अन्य उदाहरण "बालकं मां पाहि" से भी द्रष्टव्य है --

मानसे त्वं मन्यसे किं महापापो यमस्तीति।
न माता होन्निर्वीरत्नं सुतं त्यक्तुं समर्था तः ।।[3]

---

1. साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, परि० 9, का० 2, पृ० 499.
2. श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 8, पृ० 17.
3. बालकं मां पाहि, श्लोक 2, पृ० 13.

माधुर्य गुण से परिपूर्ण इस श्लोक में वैदर्भी रीति को काम में लिया गया है । बालसुलभ कोमलचित्त में मां भवानी से अनुग्रह प्राप्ति का उपालम्भ पूर्ण भाव हृदय को बहुत स्पर्श करता है । रचना में टवर्ग का, कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है । "हीन चरित्रं", "महापाप:" आदि पदों में अल्प समास है । यह समास-बन्ध सहज ही बोधगम्य है ।

वैदर्भी रीति का बहुत सुन्दर उदाहरण इस रचना में देखा जा सकता है -

आदर्शचिक्कणकपोलतलं सुनासं
चंचद् वृहच्छ्रवयुगं स्वलिनीलकण्ठम् ।
भोगोपम-प्रथित-सुन्दर-दीर्घबाहुं
पद्मासने समुपविष्टमहं स्वतुष्टम् ।।[1]

इस रचना में पदों की ऐसी सुन्दर संघटना है कि ध्यानावस्थित भगवान् शिव का साकार स्वरूप स्वत: ही चित्रवत् प्रस्तुत हो उठता है । शिव-आराधना का कोमलभाव चित्त में सहज ही उदय होकर मन को आनन्दित करने लगता है ।

गौडी -
-----

ओज: प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्धआडम्बर: पुन: ।
समासबहुला गौडी .... ।[2]

अर्थात् ओज गुण को प्रकाशित करने वाले वर्णों के उद्भट बन्ध से युक्त तथा समास-बहुला रीति गौडी कहलाती है ।

आचार्यश्री देशभक्ति से परिपूर्ण रचना गौडीरीति में ही रचित है । संक्रान्तिपंचदशी से एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

राष्ट्राणामखिल पुमर्थहेतुभूतां
जन्तूनां पुरुहितकारिणीमचिन्त्याम् ।

---

1. श्रीत्रिगुणेश्वर शिवस्तोत्र, श्लोक 1, पृ0 39.
2. साहित्यदर्पण, कविराज विश्वनाथ, परि0 9, का0 3, पृ0 600.
3x श्री

विद्वांसो । निखिलजगत्सुशान्तिधानीं
संक्रान्तिं भजत निरन्तरं भवानीम् ।[1]

इस श्लोक में "राष्ट्राणामखिलपुमर्थहेतुभूतां", "पुरुहितकारिणीमचिन्त्याम्" तथा "निखिलजगत्सुशान्तिधानीं" पदों में दीर्घ समास हैं । "संक्रान्ति भजत निरन्तर भवानीम्" से ओजगुण की प्रस्तुति होती है । रचना में प्रयुक्त सभी वर्णों के बंध उद्भट हैं जो विश्वशान्ति की ओर उत्प्रेरित करने वाले हैं । श्रीपरशुराम के शौर्य का वर्णन भी देखने योग्य है --

श्रीमद्रेणुकया धृतं स्वजठरेभूभारनाशाय यत
श्रीमद्भार्गवजामदग्न्यमतुलं रामाभिधानं महः ।
दृप्यत्पार्थिववृन्दकाननलज्ज्वालादयवैश्वानर-
श्चण्डीप्राणमतिप्रियस्य परशोरादायि तत्तेस्तुमः ।।[2]

श्री परशुराम के वीरत्व भाव प्रकट करने वाले इस छन्द में ओज गुण का बाहुल्य है । दीर्घ सामासिक पदावली अर्थ गौरव की दृष्टि से सहज बोधगम्य होते हुए भी कविता में अपना विशिष्ट स्थान रखती है । "दृप्यत्पार्थिववृन्दकाननलज्ज्वालादयवैश्वानरश्चण्डीप्राणमतिप्रियस्य" सम्पूर्ण तृतीय चरण व चतुर्थ चरण का आधा भाग एक ही सामासिक पद से युक्त होने के कारण श्लाघनीय है ।

पांचाली -

- वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः ।
समस्तपंचषपदो बन्धः पांचालिका मता ।।[3]

---

1. श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 1, पृ० 11.
2. श्रीपरशुरामस्तोत्रम्, श्लोक 3, पृ० 9.
3. साहित्यदर्पण, कविराज विश्वनाथ, परि० 9, का० 4, पृ० 601.

प्रसाद गुण के व्यंजक वर्णों से युक्त समस्त समासों वाली पांच या छ: पद बन्धों वाली रचना पांचाली रीति की होती है । आचार्यपाद ने पांचाली रीति को भी अपने काव्य का माध्यम बनाया है । हृदय के सहज भाव से निकली हुई कविता श्रोता व पाठक के मन पर पूर्णत: छा जाती है । इसी प्रकार की प्रसाद गुण से सम्पन्न पांचाली रीति का एक छन्द प्रस्तुत है --

स्मारं स्मारं जितशतशरत्पार्वणेन्दु प्रकाशं
वारं वारं शिरसि च सुधासार बीजं सुबीजम् ।
वाचां द्राक्षामधुरिमधुरं विभ्रतीनां वदान्यं
मातर्नूनं कविकुलशिरोरत्नतामेत्ययत्यता ।।[1]

"स्मार", "स्मारं", "वारं", "वारं", "सुबीजम्", "कविकुलशिरोरत्न" आदि अनेक पदों का निर्माण सुकुमार वर्णों से हुआ है । "सुधासार बीज" {सो हम्} की उपासना को प्रस्तुत करने वाला यह छन्द सहज ही भगवती की भक्ति में तल्लीन करा देने वाला है । "जितशतशरत्पार्वणेन्दु", "द्राक्षामधुरिमधुरं" आदि पदों में दीर्घ समास हैं, किन्तु विग्रह की जटिलता नहीं है ।

महागुरुश्रीकृष्णस्तोत्रम् से भी एक छन्द द्रष्टव्य है -

वाणी-विलास-महिता तु यदीय-वंशी
राका-शशांक-धवला हरते सुकीर्तिम् ।
पौराणिकै: सततमेव सुगीत-वंशी
श्रीकृष्णमेव गुरुराजमहं नमामि ।।[2]

सुकुमार वर्णों के आधिक्य से युक्त इस छन्द में न तो दीर्घ समास हैं और न समास-हीनता । अपितु अत्यंत सरल व सरस वर्णों की संघटना है ।

---

1. श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, श्लोक 21, पृ0 19.

2. महागुरुश्रीकृष्णस्तोत्रम्, श्लोक 7, पृ0 19.

मार्ग -
====

मार्ग कवि की प्रवृत्ति के कारणभूत होते हैं । कवियों के अनन्त स्वभाव होने से मार्ग भी असंख्य प्रकार की भिन्नता से युक्त हो सकते हैं, फिर भी उनकी संख्या निर्धारित कर उन्हें तीन प्रकार का बतलाया गया है -- 1) सुकुमार, 2) विचित्र तथा 3) उभयात्मक मध्यम ।

सुकुमार मार्ग -
-----------

कवि की दोषहीन प्रतिभा से स्वतः स्फुरित नवीन शब्द तथा अर्थ से रमणीय, थोड़े से अलंकारों से युक्त तथा सहृदयाह्लादजनक मार्ग सुकुमार मार्ग कहलाता है ।[1]

आचार्यप्रवर ने इस मार्ग को अधिकांश रूप से अपनी कविता का माध्यम बनाया है । कुछ रचनाओं से उदाहरण द्रष्टव्य हैं -- यथा --

नव-पयोधर-मण्डल-मंजुलं
कनक-मंजुल-पीत-पटोज्ज्वलम् ।
चतुर-वल्लव-यौवन-वल्लभं
मम विराजति मानस-दैवतम् ।।[2]

इस श्लोक में भगवान्श्रीकृष्ण का स्वरूप नवीन बादलों के मण्डल के समान श्याम, कनक-मजुल के समान पीत वर्ण से युक्त, चतुर युवतियों के समूह को अलंकृत करने वाले के रूप में वर्णित किया है । कथन की रमणीयता व उपमा-रूपकादि अलंकारों के प्रयोग से यह रचना सहज ही हृदय को आनन्दित करती है ।

आवश्यकानि विविधानि गृहेत्वदीये,
वस्तूनि यानि गृहिणां सुखसाधनानि ।
तेषामहं समुदयं विरचय्य नूनं
त्वामात्मवल्लहितं सुखयामि शश्वत ।।[3]

---

1. वक्रोक्तिजीवितम्, कुंतक, प्रथमोन्मेष, का0 25-29, पृ0 102-103, सं0 1967.
2. श्रीबालकृष्णदशकम्, श्लोक 2, पृ0 26.
3. श्रीसप्तपदीहृदयम्, श्लोक 13, पृ0 48.

इस श्लोक में वधू के कथन को रमणीय शब्दार्थों से प्रस्तुत किया है । इस सरस पदावली में सुकुमार मार्ग है ।

विचित्र मार्ग -

कवि प्रतिभा से शब्द और अर्थ में उक्ति वैचित्र्य प्रस्तुत करने वाला, अनेक अलंकारों से युक्त, व्यंजना शक्ति के द्वारा पदार्थों को सरस बनाने वाला मार्ग विचित्र मार्ग है ।[1]

आचार्यश्री की अनेक रचनाओं में यह मार्ग विद्यमान है । यथा --

प्राक् सर्गतो ऽपि परतो ऽपि च मध्यदेशे,
सांसर्गिके ऽत्र सकले परिपूर्णरूपा ।
नैसर्गिकी परशिवाकृतिबिन्दुबीजं
वैसर्गिकी जयति शक्तिरनन्तवीर्या ।।[2]

इस श्लोक में उक्ति वैचित्र्य से मां भगवती की चित् शक्ति का वर्णन किया गया है । जिस प्रकार बीज से वृक्ष का निगम होता है और फल रूप मे भी बीज ही होता है तथा वृष के पश्चात भी बीज ही रहता है उसी प्रकार श्रीचक्र के मध्य जो बिन्दु है वही परशिवाकृति बिन्दु सृष्टि के आदि, मध्य और अवसान में विद्यमान है । इस उक्ति वैचित्र्य को विचित्र मार्ग से बतलाया गया है । बिन्दु को बीज रूप के में व्यक्त कर रूपक अलंकार के साथ अनुप्रासादि अलंकार भी प्रयुक्त हुए हैं । कथन वैचित्र्य से दार्शनिक विषय को सरस बनाया गया है । इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है --

श्रीराधिका-मुख-महोदधि-पूर्णचन्द्रं
श्रीरुक्मिणी-नयन-नीरज-मित्रमानम् ।

---

1· वक्रोक्तिजीवितम्, कुंतक, प्रथमोन्मेषः, श्लोक 34-43, पृ० 122-23·

2· श्रीमहानुभवशक्तिस्तवः, श्लोक 2, पृ० 13·

संसार-रोग-हरणोद्यत-वैद्यनाथा-

त्मानं महागुरुमहं प्रणमामि नित्यम् ।।[1]

इस श्लोक में उक्तिवैचित्र्य से कवि ने अपने स्वरूप में अपने पितृश्री को अवस्थित कर "वैद्यनाथ" इस अपने नाम की सार्थकता प्रमाणित की है । उपमा, रूपक, अनुप्रास तथा श्लेष अलंकारों से युक्त यह रचना वैचित्र्य मार्ग की रचना है ।

मध्यम मार्ग -

कवि प्रतिभाजन्य तथा कवि कौशलजन्य शब्द तथा अर्थ से रमणीय, सहृदयाह्लादकारक अलंकार एवं शब्द-शक्तियों से काव्य को मनोहर बनाने वाला, सुकुमार व विचित्र मार्ग उभयात्मक मार्ग मध्यम मार्ग कहलाता है ।[2]

आचार्यश्री ने अपनी अनेक रचनाओं में इस मार्ग को काम में लिया है । यथा --

उन्निद्राणामुषसि कमलासद्मनां शोणिमान

पिण्डीभूतं निजसुषमया शिक्षयन्तीत्वदीयाम् ।

भद्रां भद्रे ! सकलसमयं मूर्तिमम्ब ! स्मरन्तो

दारिद्र्योत्थां सकलविपदं तत्क्षणाद् द्रावयन्ति ।।[3]

कामराज बीज वर्णन के इस श्लोक में दारिद्र्य दुःखहारिणी भगवती की आराधना में कवि प्रतिभा व कौशल स्पष्ट झलकता है । सरस पदावली व उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति तथा संकर आदि अलंकारों से युक्त इस रचना में सुकुमार व विचित्र दोनों मार्गों को काम में लिया गया है । श्रीसंक्रान्तिपंचदशी से एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

दारिद्र्यं दलयति दुःखदानदक्षं

दौर्भाग्यं दहति दृढं च दौर्मनस्यम् ।

---

1. महागुरुश्रीकृष्णस्तोत्रम्, श्लोक 3, पृ0 17.
2. वक्रोक्तिजीवितम्, कुंतक, प्रथमोन्मेषः, श्लोक 49-52, पृ0 149-50.
3. श्रीभगवतीस्तवः, श्लोक 25, पृ0 11.

दौश्चित्त्यं शमयति दुष्टदुर्हृदोत्थं
संक्रान्ति प्रणयत तां परावरज्ञा: ।।[1]

दरिद्रता को दु:ख का मूल कारण बतलाने वाले इस श्लोक में कविप्रतिभा-जन्य कौशल से संक्रान्ति को दारिद्रय नष्ट करने वाला बतलाया है । "द" वर्ण की आवृत्ति व प्रयोग से युक्त इस छन्द में मध्यम भाग को अपनाया गया है । "दारिद्रय", "दु:ख", "दान", "दौर्भाग्य" "दौश्चित्त्यं" आदि वैचित्र्य पदों का बहुत सरस रूप से प्रयोग कर हृदयग्राह्य बनाया गया है ।

पद-लालित्य -
==========

गुण, रीति तथा मार्ग के अतिरिक्त काव्य में पदलालित्य की महत्त्व-पूर्ण भूमिका है । पठन व श्रवण मात्र से हृदयागम होने वाले शब्द और अर्थ की संघटना को विशेष क्रम से संघटित करके प्रस्तुत करना ही लालित्य भाव है । व्यंजक वर्णों के प्रचुर मात्रा में प्रयोग करने से ही काव्य प्रशंस्य नहीं होता, अपितु कवि प्रतिभा की प्रस्तुति पदों के लालित्य भाव से प्रयुक्त करने में है । सहज और सरल पदों में प्रवाहमान काव्य सर्वप्रशंस्य हुआ करता है । जिस काव्य के पठन या श्रवण मात्र से हृदय तरंगित होकर रसास्वादन में लयशील हो जाये और पाठक अथवा श्रोता को अपने भौतिकीय वातावरण का ध्यान ही न रहे, वही काव्य श्रेष्ठ काव्य होता है । इस प्रकार के काव्य का मूल आधार उसका पद-बन्ध है । यह पदबन्ध यदि काठिन्य के भाव से युक्त हो अथवा काव्य को चमत्कृत करने के लिए कवि-कौशल की प्रवीणता को प्रस्तुत करने वाला हो तो काव्य की रसानुभूति में बाधा उत्पन्न होती है । अत्यधिक अलंकारों के चमत्कार से रहित तथा अल्प समास युक्त काव्य ही सहज बोधगम्य होता है ।

---

1· श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 11, पृ० 19·

आचार्यश्री ने अपने काव्य को सुललित बनाये रखने में स्वाभाविक काव्य-कला का आश्रय लिया है । अल्प समास या समास रहित पदावली का एक उदाहरण प्रस्तुत है --

नमतां प्रियतां वहन्ति नो ते,
न च कुप्यन्त्यवजानतां कदापि ।
विचरन्ति महीतले वधूता:
समतायां हृदयं निधाय नित्यम् ।।[1]

इस श्लोक में "महीतले" पद में ही समास आया है शेष पद समासरहित है ।

कोमल वर्णों से संघटित रचना में पदलालित्य का रूप हृदय को भाव-विभोर कर देता है । एक उदाहरण प्रस्तुत है --

दीननाथ, भगवन्, दयानिधे,
पाहि पाहि शरणागतं प्रभो ।
क्षम्यतां मयि शिवेति चारटन्
भावये परशिवं शिवायुतम् ।।[2]

इस श्लोक में सभी कोमल पद काम में लिए हैं । भगवान् शिव की आराधना में प्रस्तुत ये पद अर्थबोध की दृष्टि से अत्यंत सरल है ।

रचना में सहज प्रवाह भी पदलालित्य की एक विशेषता है । यथा --

नरा: सन्तो दु:खं सुखमथ लभन्ते खलजना:
कृतघ्ना: सम्मानं सततमवमानं कृतकृत: ।
खलोल्लासो यस्यां भवति परिपुष्ट:प्रतिपलं
तवैषा निर्वाच्या परमशिवलीला विलसति ।।[3]

---

1· अवधूताभिवादनम्, श्लोक 3, पृ0 36·
2· श्रीपरशिवाष्टकम्, श्लोक
3· श्रीमदमृतसूक्तिपंचाशिका, श्लोक 31, पृ0 26·

रचना का मुख्य उद्देश्य को ध्यान में रखकर सहज उद्बोधित काव्य पद-लालित्य की विशेषता को प्रकट करता है । श्रीसंक्रान्तिपंचदशी का एक छन्द द्रष्टव्य है --

साधूनां ननु परिपालनाय लोके,
दुष्टानां खलु दमनाय दुर्भदानाम् ।
नाशार्थं कलिकलुषादय दुर्जनानां,
संक्रान्तिं सुकृतिपरा भजन्तु दुर्गाम् ।।[1]

स्वराष्ट्र प्रेम तथा अन्याय के प्रति संघर्ष करने के लिए एवं सत्पुरुषों की अक्षय कवच व दुष्टों के दमन हेतु अजेय दुर्गास्वरूपा भगवती की इस स्तुति में पद-लालित्य का सुन्दर रूप मिलता है ।

---

1. श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 10, पृ0 18.

## शब्द - शक्ति

आचार्यश्री ने अपनी रचनाओं को सर्वसुलभ बनाने के लिए प्राय: अभिधा का आश्रय लिया है, पर यथावसर उन्होंने लक्षणा और व्यंजना का भी प्रयोग किया है ।

### अभिधाशक्ति -

आचार्यश्री की रचनाएं त्रिविध तापहरण और भक्ति से परिपूर्ण है अत: उन्होंने अपने कथन को साक्षात् संकेतित शब्दों के माध्यम से ही प्रस्तुत किया है । आचार्य मम्मट ने अभिधा शक्ति की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है --

स मुख्यो र्थस्तत्र मुख्यो व्यापारो स्या भिधोच्यते ।[1]

अर्थात् मुख्य अर्थ को व्यक्त करने वाला मुख्य व्यापार ही अभिधा शक्ति कहलाती है । मुख्य अर्थ वाचक शब्दों से प्रस्तुत किया जाता है । साक्षात् संकेतित शब्द वाचक शब्द कहलाते हैं । सूक्तिलहरी का एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

नाचरति मित्रवृन्दे मित्रेण समं न रिपुषु रिपुवध: ।
पशुरेव स मन्तव्य: पशुपतिरथवा स लोके स्ति ।।[2]

इस श्लोक में सभी शब्द वाचक हैं जो साक्षात् संकेतों से अपना अर्थ प्रस्तुत करते हैं । यह अर्थ मुख्य अर्थ है ।

### लक्षणा शक्ति -

आचार्यश्री ने अपने काव्य में लाक्षणिक शब्दों का भी प्रयोग किया है जो कि मुख्य अर्थ को बाध कर उसके योग में दूसरा अर्थ प्रस्तुत करते हैं । लक्षणा शक्ति के स्वरूप का निरूपण करते हुए आचार्य मम्मट लिखते हैं --

---

1. काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, द्वितीय उल्लास, सूत्र 13, कारिका 7, पृ० 46.
2. सूक्तिलहरी, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, सूर्योदय पत्रिका, पृ० 44.

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितो थ प्रयोजनात् ।

अन्यो र्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणा रोपिता क्रिया ।।[1]

अर्थात् मुख्य अर्थ का बोध होने पर तथा उसी के योग में रूढ़ि से या प्रयोजन से जो अन्य अर्थ लक्षित होता है उस अर्थ को आरोपित करने वाली क्रिया लक्षणा है । उसे ही लक्षणा शक्ति कहते हैं । यथा --

ऐ श्रीमात्धर्मविरचितं सर्वदु:खापहारि
मन्दाक्रान्तास्तवनमतुलं ये पठिष्यन्ति भक्त्या ।
मन्दाक्रान्तास्तवशिशुरहं निश्चयेन ब्रवीमि
मन्दाक्रान्ताजगति न जनास्ते भविष्यन्ति नूनम् ।।[2]

यहाँ "मन्दाक्रान्ता" शब्द लाक्षणिक है जोकि कथन प्रयोजन से अन्य अर्थों को प्रकट करता है । मन्दाक्रान्ता छन्द को नहीं । एक मन्दाक्रान्ता का अर्थ धीरे-धीरे पदन्यास करने वाला और दूसरे का अर्थ मूढ़ता से आक्रान्त है । शिशु के साथ धीरे-धीरे पदन्यास अर्थ है क्योंकि बालक धीरे-धीरे चलता है तथा इस स्तोत्र को पढ़ने वाले कभी भी मन्दता से आक्रान्त न हों यह स्तोत्र के अध्येता को शुभ लाभ देने के अर्थ में है ।

व्यंजनाशक्ति -

आचार्यश्री ने व्यंग्यार्थ के कथन का प्रयोग अपनी रचनाओं में बहुत कम किया है, फिर भी वे कभी-कभी व्यंग्यात्मक रूप से अपना कथन कर ही दिया करते थे । व्यंजनाशक्ति की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए विश्वनाथ आचार्य ने लिखा है --

विरतास्वभिधाद्यासु यया र्थो बोध्यते पर: ।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।।[3]

1· काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, द्वितीय उल्लास, सूत्र 14, कारिका 8, पृ0 47·

2· श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, श्रीमदमृतवाग्भटाचार्य, श्लोक पृ0·

3· साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, द्वितीय परि0, कारिका 12, पृ0 39·

अर्थात् अभिधा से भिन्न अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति व्यंजना है । यथा--

चरन्तः स्वच्छन्द जनधनमिये नेतृचरणाः
स्वराष्ट्रं सेवाभिः सपदि सुखयामो वयामिति ।
पदैः श्वेतैः श्यामां तनुमनिशपवृत्य शमहो
स्वराष्ट्रस्येदानीं किमपि कलयन्ते परभृताः ।।[1]

सामयिक नेताओं पर एक सुन्दर व्यंग्य इस रचना में प्रस्तुत कियागया है । "चरन्तः" "स्वच्छन्द" "पदैः" "श्वेतैः" आदि शब्द व्यंग्य शब्द है जिनसे व्यंग्यार्थ प्रस्तुत होता है ।

इसी प्रकार सारस्वत बीज की फलश्रुति की कोमल व्यंजना से ओत-प्रोत माधुर्य व्यंजना का वर्णन स्तुत्य है --

स्मारं स्मारं जितशरशरत्पार्वणेन्दु प्रकाशं
वारं वारं किलक्ष शिरसिच सुधागार बीज सुबीजम् ।
वाचां द्राक्षा मधुरिमधुरं विभ्रतीनां वदान्यं
मातर्नूनं कविकुलशिरोरत्नतामेत्ययत्नात् ।।[2]

---

-------------------------

1. श्रीस्वाध्याय, अंक मास.
2.

# :: अलंकार ::

अलंकार सम्प्रदाय के अनुसार अलंकार तत्त्व काव्य का असाधारण तत्त्व है, वही काव्य की वास्तविक आत्मा है। अलंकार काव्य का अयुतसिद्ध, अपृथग्स्थित और वैसा ही धर्म है जैसा पृथिवी का गन्ध, जल का रस, अग्नि का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का शब्द। काव्यरूपी पंचभूत का तन्मात्र अलंकार ही है और अलंकार ही है काव्यरूपी अक्षय्य और महान् वट वृक्ष का अणिष्ठ बीज।[1]

अलंकार तत्त्व के इस महत्त्व को ध्यान में रखकर ही कवि श्रेष्ठ अपनी कविता को जीवन्त एवं रसानुभूति के योग्य बनाने हेतु काव्य में अलंकारों का प्रयोग करते हैं। शब्द और अर्थ दोनों को दृष्टिगत रखते हुए अलंकार भी दो प्रकार के होते हैं --1) शब्दालंकार, 2) अर्थालंकार। श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य महोदय ने भी इन दोनों अलंकारों का प्रयोग अपने काव्यों में किया है। जिनका विवरण इस प्रकार है -

अनुप्रास -

"वर्णसाम्यमनुप्रासः" वर्णों की आवृत्ति (समानता) का नाम अनुप्रास है।[2] यह अनुप्रास छेकगत और वृत्तिगत दो प्रकार का है।

छेकानुप्रास -

"संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः" संख्या यदि नियत हो तो छेकानुप्रास कहलाता है। यथा --

तेषु तेषु च पर्वसु पर्वमाहात्म्यकोविदाः।
पर्वेतिहासं सम्पूर्णं श्रावयेयुः स्वराष्ट्रियान ।।[3]

---

1. अलंकारसर्वस्व, भूमिका, डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ० 57-58.
2. काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, नवम उल्लास, सू० 103, पृ० 404.
3. श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 41, पृ० 17.

यहा "तेषु" तेषु", "पर्व, पर्व" में दो-दो व्यंजनों से बने पदों की संख्या नियत आवृत्ति होने के कारण छेकानुप्रास है । इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण मन्दाक्रान्ता स्तोत्रम् से द्रष्टव्य है --

सौधं सौधं तुहिनकिरणा कीर्णकोणान्तरालं
शौढं बोढं परमसदनं धौतमोढ्यान्धकारम् ।
नेधं बेधं प्रथमगणनापूजितं धाम कामं
सेढं सेढं जननि । सततं वासगेहं भजे हम् ।।"[1]

इस श्लोक में दो-दो व्यंजनों, "सौधं, सौधं", "सेढं, सेढं की नियत आवृत्ति होने के कारण छेकानुप्रास है ।

वृत्यानुप्रास -

"अन्यथा तु वृत्यानुप्रास:" यदि संख्या नियम न हो तो व्यंजनपौनरुक्त्य वृत्यानुप्रास कहलाता है । इसमें (1) केवल एक व्यंजन मात्र का सादृश्य, (2) केवल एक बार समुदाय सादृश्य तथा (3) तीन चार आदि संख्या वाले व्यंजनों का परस्पर सादृश्य होता है ।[2]

आचार्य पाद की रचनाओं में इसके अनेक उदाहरण हैं जिनमें कुछ प्रस्तुत किये जाते हैं - यथा --

विश्वेषां विनयविदो विदां वरिष्ठा:
पाप्मानं परवशतां परामृशन्त: ।
आमूलं तदुपशमाय पापहन्त्रीं
संक्रान्तिं प्रसरितं समाजयन्तु ।।[3]

इस श्लोक के प्रथम चरण में "व" व्यंजन की, द्वितीय चरण में "प" व्यंजन

---

1. श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, श्लोक 3, पृ० 2.
2. अलंकारसर्वस्वम्, राजानक रुय्यक, सूत्र 6, पृ० 61-62.
3. श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 5, पृ० 15.

की तथा चतुर्थ चरण में "स" व्यंजन की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्यानुप्रास अलंकार है ।

स्मारं स्मारं जितशतशरत्पार्वणेन्दुप्रकाशं
वारं वारं शिरसि च सुधासार बीजं सुबीजम् ।
वाचं प्राशामधुरिमधुरं विभ्रतीनां वदान्यं
मातर्नूनं कार्बकुलशिरोरत्नतामेत्ययत्नात् ।।[1]

यमक -

"स्वरव्यंजनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम्" स्वर और व्यंजन दोनों का पौनरुक्त्य यमक कहलाता है । इन पुनरुक्त पदों के अर्थ कहीं भिन्न-भिन्न होते हैं, कहीं अभिन्न और कहीं एक पद अर्थरहित तथा दूसरा सार्थक होता है ।[2] यथा-

आदौ ददौ जननमुत्तम-वंश-मध्ये
सावित्रिकां तदनु चित्कलया ददौ यः ।
तं ब्रह्मवित-पुरुष-सम्भव मूलहेतुं
श्रीकृष्णमेव गुरुराजमहं नमामि ।।[3]

इसमें प्रथम चरण के "ददौ" पद का अर्थ जन्म देने के साथ तथा द्वितीय चरण के "ददौ" पद का अर्थ दीक्षा देने के साथ प्रयुक्त होता है । अतः यहां भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त एक ही पद "ददौ" में यमकालंकार है । अभिन्न अर्थ वाले पदों का उदाहरण द्रष्टव्य है --

निर्मलं समलं वा पि हेम वह्नौ विलापितम् ।
पृथक्तया ज्ञायते किं निर्मलं समलं पुनः ।।[4]

पृथक्तया "निर्मलं" "समलं" ये दोनों पद पुनरुक्त हैं किन्तु अर्थ भिन्न नहीं है ।

---

1· मन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, श्लोक 21, पृ0 9·
2· अलंकारसर्वस्वम्, राजानक रुय्यक, सूत्र 7, पृ0 67·
3· महागुरु श्रीकृष्णस्तोत्रम्, श्लोक 6, पृ0 19·
4· श्रीआत्मविलासः, नैर्मल्यनिरूपणम्, श्लोक 13, पृ0 135·

व्यतिरेक -

"आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनता थवा व्यतिरेक: ।"[1]

जहां उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य या न्यूनत्व का वर्णन हो, वहां व्यतिरेक अलंकार होता है । यथा --

नाहों नासां तुलयितुमयं नासया कीरवीरो
नवाप्यर्ह तिलककुसुम ना पि चम्पाकलीयम् ।
तत्सादृश्यं भजतु कतमद्वस्तु नैतद्विजाने
नासा सा मे दुरितदलनी मानसे मातरास्ताम् ।।[2]

नासिका के उपमान वाचक शब्द कीरवीर, तिलका पुष्प और चम्पाकली से भी नासिका की उपमा नहीं दी जा सकती क्योंकि ये न्यून वस्तु हैं और भगवती की नायिका इनसे अधिक श्रेष्ठ । अत: यहां व्यतिरेक समास हुआ ।

उत्प्रेक्षा -

"अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा"[3]

अध्यवसाय में यदि व्यापार की प्रधानता हो तो उत्प्रेक्षा अलंकार होता है । यथा --

पापानि रोगांश्च नृणां प्रदाह्या
अस्माभिरेवात्र समूलदाहम् ।
इतीव तप्तानि विनि:सरन्ति
बहिर्महीत: सलिलानि मन्ये ।।[4]

इस उदाहरण में पापों और रोगों को जड़ों से समेत करने के विचार से

---

1· साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ, श्लोक 52, पृ0 769·

2· श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 54, पृ0 49·

3· अलंकारसर्वस्वम्, श्रीराजानक रुय्यक व मंख, सूत्र 22, पृ0 182·

4· श्रीसंजीवनीदर्शनम्, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 4, पृ0 5·

ही मणिकर्ण तीर्थ में पृथ्वी के गर्भ से गरम जल-प्रवाह का कथन अध्यवसाय में व्यापार की प्रधानता को प्रकट करता है ।

रूपक -

"अभेदप्राधान्ये आरोपे आरोपविषयानपह्नवे रूपकम्"[1]

अभेद की प्रधानता होने पर आरोप हो, किन्तु आरोप विषय छिपा न हो तो वहां "रूपक अलंकार" होता है । यथा --

तव सम्प्रति पाद-पंकजे,
शतशो यं प्रणिपत्य याचते ।
तनयस्तव सर्वथाऽस्म्यहं
दयया मां परिपालयाम्बिके ।।[2]

यहां भवानी के चरणों का कमल के साथ तुलना करके उपमान और उपमेय में अभेद की प्रतीति होने से रूपक अलंकार है ।

उपमा -

"साधर्म्यमुपमा भेदे"[3]

उपमान और उपमेय का भेद होने पर दोनों के गुण, क्रिया तथा धर्म की समानता का वर्णन उपमालंकार है । यथा --

स्फूर्जद्राकाहिमकरमुखी कुन्ददन्ताभिराभा ।
लाक्षापंकारुणिमचरणा पक्वबिम्बाधरा माम् ।
बाला बाला स्फटिकगुलिकामालिका पुस्तिकादया
त्रासत्राणा भिलषितकरा सन्ततं पात्वपायात् ।।[4]

यहां चन्द्र से मुख, कुन्द-कलिका से दन्त-पंक्ति, लाक्षाकर्दम से चरण-कमल, पक्वबिम्बफल से अधर की उपमा दी गई है ।

---

1· अलंकारसर्वस्वम्, श्रीराजानक रुय्यक व मंख, सूत्र 16, पृ० 115·
2· श्रीदेव्यास्तोत्रम्, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 8·
3· काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, सूत्र 125, पृ० 466·
4· श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 5, पृ० 6·

अन्योन्य -

"क्रियया तु परस्परम् वस्तुनोर्जनने न्योन्यम्"[1]

अन्योन्य वह अलंकार है जहां क्रिया के द्वारा दो वस्तुओं के परस्पर उत्पादन का वर्णन होता है । यथा --

मेधाकान्तिबला मदत्वरचनं गव्यं परं कारणं,
तन्मूतं पशुवृन्दपालनमतस्त्वां तद्व्यवस्थापने ।
वार्ताके । विनियोज्य राष्ट्रभरणे कुर्वन् प्रयत्नं सदा,
जानं लोकमहं त्वया सह पुनर्जेष्यामि शुभाशये ।[2]

यहां पशुवृन्दपालन व्यवस्थापने के द्वारा "गव्यं" (घी इत्यादि) की प्राप्ति और उस घी, दूधादि से मेधा, कान्ति तथा बलादि का उत्पादन है । अतः अन्योन्य अलंकार हुआ ।

कारणमाला -

"यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता तदाकारणमाला स्यात ।"[3]

कारणमाला अलंकार तब होता है यदि उत्तर अर्थ के प्रति पूर्व-पूर्व अर्थ की कारणता वर्णित की जाती है । यथा --

प्राप्तं मया मनुजदेहफलं समस्तं
यत्सख्यमुत्तममहं भवतागता च ।
सर्वं प्रतिश्रुतमिदं हृदये दधाना
त्वामेव पूर्णहृदयेन नु कामयिष्ये ।।[4]

यहां "यत्सख्यमुत्तममहं भवतागता च" इस पूर्वकथन कारण से ही "प्राप्तं मया मनुजदेहफलं समस्तं" इस उत्तर अर्थ के वर्णित किया गया है ।

---

1· काव्यप्रकाश, आ0 मम्मट, सूत्र 187, पृ0 571·
2· श्रीसप्तपदीहृदयम्, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 14, पृ0 48·
3· काव्यप्रकाश, आ0 मम्मट, सूत्र 186, पृ0 569·
4· श्रीसप्तपदीहृदयम्, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 22, पृ0 58·

पर्याय -

"एकमनेकस्मिन्ननेकमेकस्मिन् क्रमेण पर्याय: ।"[1]

एक का अनेक में तथा अनेक का एक में क्रम से रहना पर्याय कहलाता है ।

यथा - साधूनां ननु परिपालनाय लोके,
दुष्टानां खलु दमनाय दुर्मदानाम् ।
नाशार्थं कलिकलुषादयदुर्जनानां
संक्रान्तिं सुकृतिवरा भजन्तु दुर्गाम् ।।[2]

यहां संक्रान्तिरूपिणी भगवती दुर्गा को साधुओं की रक्षा के लिए, दुष्टों के दमन के लिए तथा कलिकाल के पालकों के नाश के लिए आधार मानने से पर्याय अलंकार हुआ ।

दृष्टान्त -

"तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्बभावतया निर्देशेदृष्टान्त:"[3]

यदि साधारण धर्म का निर्देश बिम्बप्रतिबिम्ब मात्र से हो तो दृष्टांत अलंकार होता है । यथा -

यस्मिन्राष्ट्रे न विद्यन्ते राष्ट्रयज्ञानुशिक्षका: ।
आशु नश्यति तद्राष्ट्रं भुजंगो निर्विषो यथा ।।[4]

परिकर -

"विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्ति: परिकरस्तु स:"[5]

जहां अभिप्राययुक्त विशेषणों से विशेष्य की परिपुष्टि होती है । यथा --

---

1· अलंकारसर्वस्व, श्रीराजानक रुय्यक एवं मंख, सूत्र 61, पृ0 565·

2· श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 10·

3· अलंकारसर्वस्व, श्री राजानकरुय्यक एवं मंख, सूत्र 27, पृ0 263·

4· श्रीराष्ट्रालोक, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 21·

5· काव्यप्रकाश, आ0 मम्मट, सूत्र 183, पृ0 564·

दीनानाथ, भगवन्, दयानिधे,

पाहि पाहि शरणागतं प्रभो ।

क्षम्यतां मयि शिवेति वारटन्,

भावये परशिवं शिवायुतम् ।।[1]

यहां भक्तकवि सांसारिक कष्टों से मुक्ति पाने के अभिप्राय से विशेष्य भगवान् शिव को दीननाथ, भगवन्, दयानिधि और शरणागत प्रभो के विशेषणों से सम्बोधित करता है अतः परिकर अलंकार हुआ ।

काव्यलिंग -

"हेतोर्वाक्यपदार्थता काव्यलिंगम्"[2]

हेतु के पदार्थरूप होने या वाक्यार्थरूप होने पर काव्यलिंग अलंकार होता है । यथा --

बालकं मां पाहि सद्यो निरालम्बं जगन्नाथ: ।

त्वमेवालम्बन मह्यमिदानीं सर्वमेकात: ।।[3]

यहां पदार्थ रूप में "पाहि"का अर्थ "रक्षा करना" है, किंतु मूलत: अनुपपन्न का अर्थ "मुक्ति करना" होने से काव्यलिंग अलंकार है ।

श्लेष -

वाच्यभेदेन भिन्ना यद्युगपद्भाषणस्पृश:

श्लिष्यन्ति शब्दा: श्लेषो सावक्षरादिभिरष्टधा ।।[4]

अर्थभेद के कारण भिन्न-भिन्न होकर भी जहां शब्द एक उच्चारण के विषय होते हुए श्लिष्ट प्रतीत होते हैं, वहां श्लेष अलंकार है । यथा --

---

1. श्रीपरशिवाष्टकम्, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 6.

2. अलंकारसर्वस्वम्, श्री राजानक रुय्यक एवं मंख, सूत्र 58, पृ0 538.

3. बालकं मां पाहि, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 1.

4. काव्यप्रकाश, आ0 मम्मट, सूत्र 119, पृ0 445.

गंगाधराद्य-गुरु-पाद-सरोज-पूजा-

सम्प्राप्त सांग-सरहस्यक-राज-विद्यम् ।

आनन्दानाथममरावलि-पूज्यमानं

श्रीकृष्णमेव गुरुराजमहं नमामि ।।[1]

यहां गंगाधर का भगवान् श्रीकृष्ण के साथ "शिव" अर्थ और श्रीकृष्णशास्त्री के साथ भट्ट गंगाधर जो उनके बड़े ताया थे अर्थ श्लिष्ट होने के कारण श्लेषालंकार है ।

यथासंख्य -

"उद्दिष्टानामर्थानां क्रमेणानुद्दिर्देशो यथासंख्यम् ।"[2]

पहले कहे गये अर्थों के क्रम से पुन: अन्य अर्थों का कथन यथासंख्य अलंकार होता है । यथा --

पतित-पावन, दु:खित-जीवन,

प्रणतपालन, पुण्यवदाश्रये ।

कुमतिनाशन, दीन-दया-निधे,

पवननन्दन पाहि निरन्तरम् ।।[3]

यहां पतित-पावन, दु:खितजीवन, प्रणतपालन, पुण्यवदाश्रये, कुमतिनाशन, दीन-दया-निधे ये सभी विशेष्य श्री हनुमान् जी के हैं, अत: यथासंख्य अलंकार है ।

विशेषोक्ति -

"कारणसामग्र्ये कार्यानुत्पत्तिविशेषोक्ति"[4]

कारण की समग्रता रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति बतलाई जाए, तो विशेषोक्ति अलंकार होता है । यथा --

नाहों नासां तुलयितुमयं नासया कीरवीरो

नैवाप्यह तिलककुसुम ना पि चम्पाकलीयम् ।

---

1· महागुरु श्रीकृष्णस्तोत्रम्, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 8·

2· अलंकारसर्वस्वम्, श्रीराजानक रुय्यक एवं मंख, सूत्र 60, पृ0 556·

3· श्रीपवननन्दनाष्टकम्, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 3·

4· अलंकारसर्वस्वम्, श्री राजानक रुय्यक एवं मंख, सूत्र 43, पृ0 476·

स्वाभावोक्ति -

"सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्ति"।[1]

वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव का यथावत् वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है ।

आदर्शचिक्कणकपोलतलं सुनासं,
चंचद् वृहच्छ्रवयुगं स्वलिनीलकण्ठम् ।
भोगोपम-प्रथित-सुन्दर-दीर्घबाहुं,
पद्मासने समुपविष्टमहं स्वतुष्टम् ।।[2]

यहां चिक्कणकपोलतलं, सुनासं, चंचद् वृहच्छ्रवयुगं, स्वलिनीलकण्ठम्, दीर्घबाहुं, पद्मासनं आदि के द्वारा अतिशय चमत्कार के साथ भगवान् शिव का यथावत् वर्णन किया गया है । अतः स्वभावोक्ति अलंकार हुआ ।

विरोध -

"विरुद्धाभासत्वं विरोधः"[3]

विरुद्धता का आभास विरोध अलंकार कहलाता है । यथा -

शिवाप्तिकारणं तापवारणं लालितं हृदि ।
द्वयं गुरोश्चरणयोरद्वयं स्फुरतान्ममा ।।[4]

---

1. अलंकारसर्वस्वम्, श्रीराजानक रुय्यक एवं मंख, सूत्र 79, पृ0 664.
2. श्री त्रिगुणेश्वर शिवस्तोत्रम्, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 1.
3. अलंकारसर्वस्वम्, श्रीराजानक रुय्यक एवं मंख, सूत्र 41, पृ0 452.
4. श्रीपरशिवस्तोत्रम्, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 1.

## छन्द - योजना

आचार्यपाद ने अपनी रचनाओं के अनुरूप ही छन्दों का चयन किया है। काव्यशास्त्र के प्रमुख छन्द उनके वाङ्मय में प्रयुक्त हुए हैं। ये हैं -- अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, द्रुतविलम्बित, बसन्ततिलका, पृथ्वी, रथोद्धता, मालिनी, शिखरिणी, प्रहर्षिणी, मन्दाक्रान्ता, अश्वधारी तथा शार्दूलविक्रीडितम्।

### अनुष्टुप् -

श्रीसंजीवनीदर्शनम्, श्रीमहानुभवशक्तिस्तव:, श्रीपरशुरामस्तोत्रम्, तथा श्रीसप्तपदीहृदयम् रचनाओं में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया गया है।

श्लोके षष्ठं गुरुज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम्।
द्विश्चतुष्पादयो ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययो: ।।

यथा -

कृष्णे नभासि वाष्टम्यामश्विन्यां भौमेवासरे
एको न विंशत्यधिकाब्दाद्वयसाम्मिते ।। -श्रीसंजीवनीदर्शनम्, 48·

### इन्द्रवज्रा -

श्रीसंजीवनीदर्शनम् के 18 श्लोकों की रचना इन्द्रवज्रा छन्द में की गई है।

स्यादिन्द्र वज्रा यदि तौ जगौ ग: ।

अर्थात् त, त, ज गणों तथा दो गुरु से युक्त इन्द्रवज्रा छन्द होता है। यथा-

सौम्यां चिदानन्दमयीं स्वभूति,
माणिक्य तुर्यामनुभूय दिव्याम्।
स्मृत्वा स्वमृत्युंजयमन्त्रलब्धि-
कथां प्रवक्ष्ये जनजागरायाम् ।। - श्रीसंजीवनीदर्शनम्, 2·

उपेन्द्रवज्रा -

श्रीसंजीवनीदर्शनम् तथा सप्तपदीहृदयम् में उपेन्द्रवज्रा छन्द प्रयुक्त हुआ है ।

"उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततौ गौ"

उपेन्द्रवज्रा छन्द में ज, त, ज गण तथा दो गुरु होते हैं ।

यथा

करेण दक्षेण पिधाय वक्षः
पिधाय वामेन च मेढ्रदेशम् ।
उत्तान आसं पतितस्तदानीं
विधाय पादौ किल पश्चिमायाम् ।। -श्रीसंजीवनीदर्शनम्, 20·

यथा बलं त्वद्द गृह पारिणाहयं
परीक्ष्य शौचादिविधिनतो हम् ।।
उर्जप्रदं रोगहरं त्वदर्थे,
कुटुम्बपुष्टयै परिसाधयामि ।। - श्रीसप्तपदीहृदयम्, 7·

उपजाति -

श्रीसंजीवनीदर्शनम् के 25 श्लोकों की रचना इस छन्द में कीगई है ।

उपजाति छन्द में दो चरण इन्द्रवज्रा के तथा दो चरण उपेन्द्रवज्रा के मिले होते हैं ।

यथा

पापानि रोगाश्च नृणां प्रदाह्या
अस्माभिरेवा त्र समूलदाहम् ।

इतीव तप्तानि पिनिःसरन्ती
बहिर्महीतः सलिलानि मन्ये

-- श्रीसंजीवनीदर्शनम्, 4·

द्रुतविलम्बित -

श्रीपवननन्दनाष्टकम् तथा श्रीबालकृष्णचरितम् - ये दोनों रचनाएं द्रुतविलम्बित छन्द में रची गई हैं ।

"द्रुतविलम्बितमाहनभौभरौ "

द्रुतविलम्बित छन्द में न, भ, भ तथा रगण होते हैं । यथा --

तव विहायपदाब्जयुगं प्रभो,
शरणमन्यदहं क्वनुयामि भो: ।
मयि दयां सपदि प्रविधीयतां
पवननन्दन पाहि निरन्तरम् ।। -- श्रीपवनानन्दनाष्टकम्, श्लोक 5.

वसन्ततिलका

श्रीत्रिगुणेश्वर शिवस्तोत्रम्, श्री आपूपिकेश्वरस्तोत्रम्, महागुरु श्रीकृष्णस्तोत्रम्, श्रीपरशुरामस्तोत्रम्, श्रीसप्तपदीहृदयम् तथा महानुभवशक्तिस्तव: -- इन रचनाओं में वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है ।

"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौग:"

वसन्ततिलका छन्द में तगण, भगण, जगण, जगण तथा दो गुरु होते हैं ।

यथा-

आदर्श बिम्बकनकपोलतलं सुवासं
चंचद् वृहच्छ्वयुगं स्वालिनीलकण्ठम् ।
भोगोपम-प्रथित-सुन्दर-दीर्घबाहुं
पद्मासने समुपविष्टमहं स्वतुष्टम् ।। -
-श्रीत्रिगुणेश्वरशिवस्तोत्रम्.

द्रुतविलम्बित -

श्रीपवननन्दनाष्टकम् तथा श्रीबालकृष्णचरितम् - ये दोनों रचनाएं द्रुतविलम्बित छन्द में रची गई हैं ।

"द्रुतविलम्बितमाहनभौभरौ "

द्रुतविलम्बित छन्द में न, भ, भ तथा रगण होते हैं । यथा --

तव विहायपदाब्जयुगं प्रभो,
शरणमन्यदहं क्वनुयामि भो: ।
मयि दयां सपदि प्रविधीयतां
पवननन्दन पाहि निरन्तरम् ।। -- श्रीपवनानन्दनाष्टकम्, श्लोक 5.

वसन्ततिलका

श्रीत्रिगुणेश्वर शिवस्तोत्रम्, श्री आपूपिकेश्वरस्तोत्रम्, महागुरु श्रीकृष्णस्तोत्रम्, श्रीपरशुरामस्तोत्रम्, श्रीसप्तपदीहृदयम् तथा महानुभवशक्तिस्तव: -- इन रचनाओं में वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है ।

"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौग:"

वसन्ततिलका छन्द में तगण, भगण, जगण, जगण तथा दो गुरु होते हैं । यथा-

आदर्शविक्वणकपोलतलं सुवासं
चंचद् वृहच्छवयुगं स्वालिनीलकण्ठम् ।
भोगोपम-प्रथित-सुन्दर-दीर्घबाहुं
पद्मासने समुपविष्टमहं स्वतुष्टम् ।। -

-श्रीत्रिगुणेश्वरशिवस्तोत्रम्.

आपूपिका विरचयन्तु पदार्थजातान् ।
लोकम्पृणान् बहुविधान् धृतपूरपूतान् ।।
तुभ्यं निवेद्य परितोष्य जनान् प्रभूतं ।
वित्तं महेश कृपया तव ते रमन्ताम् ।।

– श्रीआपूपिकेश्वरस्तोत्रम्,

<u>पृथ्वी</u> –

महानुभवशक्तिस्तव: का एक श्लोक इस छन्द में रचा गया है ।

"जसौ जसयलावसुग्रह यतिश्च पृथ्वी गुरु: ।"

पृथ्वी छन्द में जगण, सगण, जगण, सगण, यगण एक लघु और एक गुरु होता है ।

यथा–

महानुभव संस्तुतां महित बिन्दुमध्यस्थितां
महार्थमणिमेखला मदनसूदनानन्दिनीम् ।
महामृतमदं श्रयन् विजयते भुवनसम्मदाद्
महामहिममण्डितो प्यमृतवाग्भव: पण्डित: ।।

--श्रीमहानुभवशक्तिस्तव:, 8·

<u>रथोद्धता</u> –

श्रीपराशिवाष्टकस्तोत्र की रचना इस छन्द में की गई है ।

"रान्नराविह रथोद्धता लगौ"

रथोद्धता छन्द में रगण, नगण, रगण एक लघु व एक गुरु होता है ।

यथा –

मीलिताक्षिगलदश्रुधारया,
गद्गदाक्षरपदै: स्तुवन् गिरा ।

भक्तपालनकरं दयानिधिं,

भावये परशिवं शिवयुतम् ।। -श्रीपरशिवाष्टकम्स्तोत्रम्, 5.

मालिनी -

"श्रीसप्तपदीहृदयम्" रचना में इस छन्द का प्रयोग किया गया है ।

"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।"

मालिनी छन्द में नगण, नगण, मगण, यगण, यगण होते हैं । तथा आठ और सात पर यति होती है । यथा --

मद तिथि गुरु पुत्र भ्रातृ वर्ग समस्तं

विविधविधिविधानै साधितैरन्नपानैः ।।

इह हि परिचरन्ती माननीया स्वराष्ट्रे,

भवसि जयसि लोकं मद्गृहस्था सुधांशे ।।-श्रीसप्तपदीहृदयम्,2.

शिखरिणी -

"महानुभवशक्तिस्तवः" में इस छन्द को काम में लिया गया है ।

"रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणीः"

शिखरिणी छन्द में यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, एक लघु व एक गुरु होता है । नौ व आठ पर यति होती है । यथा -

प्रपूर्य स्वातन्त्र्यादनुपमानन्दसुधया,

मुहुर्नानाकारान् निजरचितसद्भाववपुषः ।

स्वमेव प्रीणानं निजललितघूर्णानमतुलं,

नमामो विश्वेषां विमलचरणं दैशिकपरम् ।।-श्रीमहानुभवशक्तिस्तवः, 1.

प्रहर्षिणी -

श्रीसंक्रान्तिपंचदशी की रचना इसी छन्द में की गई है ।

"म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयति प्रहर्षिणीयम्"

प्रहर्षिणी छन्द में मगण, नगण, जगण तथा रगण और एक गुरु होता है ।

यथा-

राष्ट्राणामखिल पुमर्थ हेतु भूतां,
जन्तूनां पुरुहित कारिणीमाचिन्त्याम् ।
विद्वान्सो । निखिलजगत्सुशान्तिधात्रीं,
संक्रान्ति भजत निरन्तरं भवानीम् ।। -श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, 1.

मन्दाक्रान्ता -

"श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्" की रचना इसी छन्द में की गई है ।

"मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भ्यौं न तौ ताद् गुरूचेत"

मन्दाक्रान्ता छन्द में मगण, भगण, नगण, तगण, तगण तथा दो गुरु होते हैं ।

यथा -

सेवायाताभिविव नगरी नागरी कामिनीनां,
सीभन्तेभ्यो विगलदमलेहैममन्दारपुष्पैः ।
चंचच्चामीकरकरशतैर्मंजुले पादपद्मे,
दारिद्रयाणां हरणनिपुणेते म्ब । नित्यं स्मरामि ।।

--श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, 34.

अश्वधाटी -

"श्रीरामाश्वधाटी चतुष्टयम्," रचना को इसी छन्द में रचा गया है। अश्वधाटी छन्द में तगण, भगण, यगण, जगण, सगण, रगण, नगण तथा एक गुरु होता है।

यथा -

वीराधिपं निजपदाराधनारत जनाराधनासु निरतं
धीराकृतिं परमुदाराशयं सुरजनाराधिताङ्घ्रियुगलम्।
सीराङ्गजा-पतिमुमाराधनीयहृदि सारायमाणमिह तं
श्रीरामचन्द्रमहमाराधये मनसि धाराधराभवपुषम्॥

--श्रीरामाश्वधाटीचतुष्टयम्·

शार्दूलविक्रीडितम् -

"श्रीसंजीवनीदर्शनम्", "श्रीसंक्रान्तिपंचदशी", "महागुरु श्रीकृष्णस्तोत्रम्", "श्री परशुरामस्तोत्रम्" तथा "श्रीसप्तपदीहृदयम्" आदि रचनाओं में इस छन्द को काम में लिया गया है।

"सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्"

शार्दूलविक्रीडितम् छन्द में मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण तथा एक गुरु होता है। यथा --

आधारादि-सहस्र-पत्र-कमलं यावच्चमत्कारकृत्
तेजो नील-पयोद-कोमल-रुचि श्रीराधिकाराधितम्।
योगाभ्यास-परायणैरपि महाकष्टेन यत् प्राप्यते
तद्वन्दे यदनुग्रहेण सहसं प्राप्तं गुरोः पद्युगम्॥"

--महागुरु श्रीकृष्णस्तोत्रम्, ॥·

---

भावपक्ष -

रस -

रस का स्वरूप -

काव्य के सुनने या पढ़ने से श्रोता या पाठक के चित्त में जो विलक्षण अलौकिक आनन्द आता है उसी का नाम "रस" है । "रस्यते अनेनइति रसः" रस का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए आचार्य भरत ने कहा है --

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।"[1]

विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों का स्थायिभावों के साथ संयोग होने से रस की निष्पत्ति होती है । आचार्य मम्मट ने का कथन है --

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ।।

---

1· काव्यप्रकाश, आ· मम्मट, चतुर्थ उल्लास, सूत्र 43, पृ0 95·

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ।।"

अर्थात् लोक में रति आदि रूप स्थायिभाव के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे यदि नाटक या काव्य में प्रयुक्त होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं और उन विभावादि से व्यक्त वह रति आदि रूप स्थायी भाव "रस" कहलाता है । स्थायिभाव मन के भीतर स्थिर रूप से रहने वाला प्रसुप्त संस्कार है जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपन रूप उद्बोधक सामग्री को प्राप्त कर अभिव्यक्त हो उठता है और हृदय में एक अपूर्व आनन्द का संचार कर देता है । इस स्थायिभाव की अभिव्यक्ति ही रसास्वादजनक या रस्यमान होने से रस शब्द से बोध्य होती है ।

स्थायिभाव -

नव्य मनोविज्ञान के अनुसार दस मनःसंवेग माने गये है । ये हैं -- भय, क्रोध, घृणा, करुणा या दुःख, काम, आश्चर्य, हास, दैन्य, आत्मगौरव या उत्साह और वात्सल्य या स्नेह । ये मनःसंवेग प्रसुप्त संस्कार हैं जो स्थायिभावों के रूप मे हमारे अन्दर विद्यमान रहते हैं । क्रमशः ये इस प्रकार हैं -- भय, क्रोध, जुगुप्सा, शोक, रति, विस्मय, हास, निर्वेद, उत्साह और वात्सल्य स्नेह । इन स्थायि-भावों से क्रमशः भयानक, रौद्र, वीभत्स, करुण, शृंगार, अद्भुत, हास्य, शान्त, वीर और वात्सल्य रस की निष्पत्ति होती है ।

विभाव -

रसानुभूति के कारणों को विभाव कहते हैं । ये दो प्रकार के हैं -- आलम्बन और उद्दीपन ।

अनुभाव -

अनुभाव आन्तर रसानुभूति से उत्पन्न उसकी बाह्याभिव्यक्ति के प्रयोजक शारीरिक व्यापार हैं । आचार्य विश्वनाथ का कथन है --

उद्बुद्धं कारणैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।

लोके यः कार्यरूपः सो ऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ।।[1]

व्यभिचारिभाव -

उद्बुद्ध हुए स्थायिभावों की पुष्टि तथा उपचय में जो उनके सहकारी होते हैं उनको व्यभिचारिभाव कहते हैं । इनकी संख्या 33 है --

निर्वेदग्लानिशंकाख्यास्तथा सयामदश्रमाः ।

आलस्यं चैवदैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ।।

क्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जड़ता तथा ।

गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रा पस्मार एव च ।

सुप्तं प्रबोधो मर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।

मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ।।

त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।

भयस्त्रियशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ।।[2]

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य ने अपनी काव्यरचनाओं में मुख्यतः तीन रसों का आश्रय लिया है । भक्ति विषय समस्त रचनाएं भक्तिरस से परिपूर्ण हैं । राष्ट्रवादी रचनाएं देशभक्ति का परिचय देती हैं । भगवान् श्रीपरशुराम का अलौकिक शौर्य गुण सम्पन्न व्यक्तित्व का वर्णन वीर रस से परिपूर्ण है, तथा जगदम्बे माँ के रूप-सौन्दर्य का वर्णन शृंगार रस की उत्कृष्ट साधना को प्रस्तुत करता है । इनका विस्तृत परिचय देना ही यहां हमारा लक्ष्य है ।

भक्ति रस -

गौडीय वैष्णवों ने भक्ति रस को सर्वश्रेष्ठ आदिरस माना है । भक्ति रस

---

1. साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद, श्लोक 132, पृ0 200.

2. काव्यप्रकाश, आ. मम्मट, चतुर्थ उल्लास, सूत्र 46, पृ0 136.

का स्थायिभाव "रति" होता है । शृंगार रस की तरह यहां कान्ता-विषयक रति नहीं होती, अपितु दिव्यारति या साकार देवविषयक रति ही हुआ करती है । कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं --

शिवभक्ति -

नाथ, सम्प्रति दयार्द्र - चक्षुषा
पश्य मां झटिति दीनजीवितम् ।
मन्तुमन्तमपि रक्ष गारटम्
भावये परशिवं शिवाम्ययम् ।।[1]

इस श्लोक में आलम्बन भगवान् शिव हैं । भक्त का दीनजीवन उद्दीपन, भगवान् की दयार्द्र दृष्टि अनुभाव, भक्त की बिलबिलाहट और रक्षा के लिए प्रार्थना करना - ये व्यभिचारिभाव हैं जो दैन्य, विषाद आदि से युक्त हैं । यहां शिवविषयक रति स्थायिभाव है । इन सबके संयोग से शिव भक्ति रस की मधुरता का अलौकिक आनन्द भक्त को परमानन्द की प्राप्ति कराता है ।

देवीभक्ति -

हर मे हर वामलोचने
सकलां त्वं मलपंक संहतिम् ।
भव भूरि भयापहारिणी
भवसिंधौ भवभीतिचेतसाम् ।।[2]

इस श्लोक में दी देवीभक्ति का वर्णन है । भगवती देवी इसमें आलम्बन है । भक्त के पाप-समूह तथा भय-भाव उद्दीपन । भक्त का भयाक्रान्त मन अनुभाव । दैन्य, त्रासादि व्यभिचारिभाव । भगवती मां-विषयक रति इसका स्थायिभाव है । अभयदान प्राप्ति के लिए मधुर आह्वान से ही भक्ति रस प्रवाहित होकर भक्त को आह्लादित कर देता है ।

---

1. श्रीपरशिवाष्टकम्, श्लोक 7, पृ० 11.
2. श्रीदेव्यास्तोत्रम्, श्लोक 5, आचार्यश्रीअमृतवाग्भव : दर्शन स्मारिका में पृ० 2-3 पर प्रकाशित.

कृष्णभक्ति -

> वैरस्यमस्ति विषयेषु समस्तमेव
> हृद्यं न किंचिदपि भाति जगच्छरण्य ।
> नामैव ते लमघनिर्हरणाय शोक-
> पाथोधिशोषणनुति कुरुते बलस्ते ।।[1]

यह श्लोक कृष्णभक्ति से परिपूर्ण है । यहां कृष्णविषयक रति स्थायिभाव है । आलम्बन भगवान् श्रीकृष्ण तथा उद्दीपन भगवान् का नाम जपना औरसंकीर्तन । विरक्त भाव, बलहीनता आदि अनुभाव तथा असूया, निर्वेद, दैन्य तथा धृति आदि व्यभिचारिभाव है । स्थायिभाव कृष्णविषयक रति के साथ इनका संयोग हो जाने से भक्त को परमानन्द की प्राप्ति होने लगती है । यही भक्ति रस है ।

राम-भक्ति -

> भीराशि-नाश-करमारात-करं
> विपदपारार्णवस्य महत:
> इवीराहता किल यदाराधने
> तु भव-कारालयं वितमुते ।
> श्रीरायता भवति ना -
> राधये च इह नारायणं तमतुलं
> श्रीरामचन्द्रमहमाराधये
> मनसि धाराधराभवपुषम् ।।[2]

राम भक्ति से आनन्दित करने वाले इस मधुर श्लोक में भगवान् राम आलम्बन है । भयसमूह, विपत्तियों के अपार समुद्र आदि उद्दीपन । आराधना के विषय में अपनाई गई लज्जा अनुभाव और दैन्य, मति, हर्ष, प्रबोध आदि

---

1· श्रीकृष्णस्तोत्रम्, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 1, पृ० 16·

2· श्रीरामाश्ववाटी चतुष्टयम्, श्लोक 3, पृ० 33·

व्यभिचारि भाव हैं । रामविषयक रति ही स्थायिभाव है । इन सबके संयोग से रामभक्ति की सरसता से भक्त सराबोर होकर अलौकिक आनन्द की प्राप्ति करने लगता है ।

हनुमान् भक्ति -

भवभयानक-पाप-गणावृतं
कलिकराल-कला-कलनाकुलम् ।
तव पदाब्ज-युगे शरणागतं
पवननन्दन पाहि निरन्तरम् ।।[1]

इस भक्ति रचना मे हनुमतविषयक रति स्थायिभाव है । श्री हनुमानजी इसके आलम्बन हैं । संसार के भयानक पापसमूह तथा कलियुग देवता की भयानक कलाएं उद्दीपन हैं । हनुमान् जी की शक्ति का आभास व उनके चरणकमलों की शरण अनुभाव और व्याकुलता, दैन्य, मति आदि व्यभिचारिभाव है । श्रीहनुमान् जी की कलिमल नाशक शक्ति के भक्तिभाव से युक्त होकर भक्त आनन्द से आह्लादित हो जाता है ।

गुरु-भक्ति -

श्रीविद्यासमुपासनां प्रथयितुं सत्सम्प्रदायक्रमात्,
शिष्टानुग्रहणाय दुष्टनिकरोच्छेदाय योग्यातरत् ।
साक्षाद् दर्शयितुं समस्तजगतामात्मानमात्यप्रथं
दुर्वासा भगवान् सदा विजयतां श्रीमान् स्वरूपोगुरुः ।।[2]

यह रचना गुरुभक्ति से परिपूर्ण है । भगवान् श्रीदुर्वासा मुनीश्वर इसके आलम्बन हैं । श्रीविद्या की उपासना-प्रचार-भावना, सज्जनों पर अनुग्रह तथा दुर्जनों का उच्छेद इसका उद्दीपन है । अपने ही चित् प्रकाश से प्रकाशित रहना तथा आत्मसाक्षात्कार इसके अनुभाव हैं । निर्वेद, प्रबुद्ध आदि व्यभिचारिभाव

---

1. श्रीपवननन्दनाष्टकम्, श्रीमद्मृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 2, पृ0 5.
2. श्रीदेशिकदर्शनम्, श्रीमद्मृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 12, पृ0 114.

है । श्रीदुर्वासाविषयक गुरुभक्ति भाव ही इसका स्थायिभाव है । इन सबके संयोग से इस स्तुति में गुरु-भक्ति भावना की अविरल आनन्दधारा प्रवाहित होती रहती है ।

देशभक्ति -

पुमर्थसाधनं तद्वत् पुमर्थफलदायकम् ।
यदि स्वतन्त्रं स्वं राष्ट्रं नान्यथा मंगलप्रदम् ।।[1]

यह रचना देशभक्ति की पराकाष्ठा को स्पर्श करती है । देशविषयक भक्ति-भावना इसका स्थायिभाव है । देश (राष्ट्र) इसका आलम्बन है । पुरुषार्थचतुष्टय इसका उद्दीपन । स्वतंत्रता की भावना का जागरण इसका अनुभाव और श्रम, गर्व, प्रबोध आदि व्यभिचारिभाव है । सुखकर राष्ट्र की प्रबल भक्ति भावना के परम आनन्द से आह्लादित होकर राष्ट्रभक्त पाठक में राष्ट्रीयता के भाव ओत-प्रोत होकर उसे परमसुख व आनन्द प्रदान करने लगते हैं ।

वीररस -

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य ने अपनी रचनाओं में वीर रस का समावेश भी किया है । "श्रीपरशुरामस्तोत्रम्", "श्रीसंक्रान्तिपंचदशी" तथा "श्रीक्रान्तिकौमुदी" उनकी वीर रस प्रधान रचनाएं हैं । ओजगुण से युक्त पदावली द्वारा गुम्फित इन रचनाओं में देशभक्ति की अविरल धारा प्रवाहित होकर अन्याय व अत्याचारों से लड़ने की प्रेरणा प्राप्त होती है । यथा --

स्फूर्जन्मदोज्ज्वलनृपावलिकाननाली-
र्दग्ध्वा, महीसुरगणान्परिरक्ष्य बन्धून् ।
त्रातं भुवस्तलमिदं भवता समस्तं
सम्प्राप्य खण्डपरशोः परशुं प्रसन्नात् ।।[2]

---

1· श्रीराष्ट्रालोक, श्लोक 6, पृ० 8·

2· श्रीपरशुरामस्तोत्रम्, श्लोक 9, पृ० 12·

इस श्लोक में परमवीर भगवान् परशुराम आलम्बन, उन्मत्त शासकों का झुण्डरूप जंगल उद्दीपन, ब्राह्मणों को संरक्षण देने हेतु क्रोध-प्रदर्शन, भ्रू प्रचालन, भ्रुकुटी चढ़ना आदि अनुभाव तथा ब्राह्मणों का दीन-भाव से पुकारना आदि व्यभिचारिभाव हैं । भगवान् शम्भु से परशु को प्राप्त करने का उत्साह इसका स्थायिभाव है । पृथ्वीतल को संरक्षण देना ही उत्साह भाव की क्रियान्विति है । इस प्रकार यह वीर रस प्रधान रचना है ।

श्रीसंक्रान्तिपंचदशी से भी एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

वीराणां ननु हृदयानि धारयन्ती
दुष्टानां दरदलितानि दारयन्तीः ।
भिन्दानां भयभरितानि कातराणां
संक्रान्ति प्रणमत मानवाः । परांम्बाम् ।।[1]

इस छन्द में जगन्माता संक्रान्ति आलम्बन, वीरों के हृदय में अविरल स्रोत प्रवाह तथा अविचल धैर्य उद्दीपन, भयमुक्ति की दृढ़ता से नेत्रों की ओजस्विता तथा मुखमण्डल का शौर्यत्व अनुभाव और धृति, गर्व, मति, प्रबुद्धता, उग्रतादि व्यभिचारिभाव हैं । दुष्टों के भय से भयातुर हृदयों के भय को भगाने तथा कायरों के हृदयों की कायरता को छिन्न-भिन्न करने का उत्साह ही वीर रस स्थायिभाव है । इस प्रकार इन सभी रसांगों के मिलने पर यहां वीर रस के परमानन्द की प्राप्ति होकर पाठक या श्रोता का मन जगन्माता संक्रान्ति के वीर भाव में आनन्दित होने लगता है ।

शृंगार रस -
========

आचार्यश्री ने मां भगवती एवं भगवान् श्रीकृष्ण के शृंगारिक रूप का वर्णन अत्यन्त मनोहारी मधुर शब्दावली में किया है । उनका यह शृंगार मां के रूप-वर्णन का है । क्रमशः उदाहरण द्रष्टव्य हैं --

---

1. श्रीसंक्रान्तिपंचदशी, श्लोक 7, पृ० 16.

राकाचन्द्रो जननि सततं त्वत्पदम्भोरुहाणां
नित्यं कुर्वन्नपचितिचयं कान्तिमत्तं प्रपेदे ।
सो यं प्राप्तुं कथमनुपमस्त्वन्मुखस्योपमानं
शक्तो लोके तदवनतरामाननं पावनं माम् ।।[1]

इस श्लोक में मां भगवती का मुखमण्डल आलम्बन, भक्तहृदय उद्दीपन, मुखकान्ति व अनुपम पवित्र भाव अनुभाव तथा हर्ष, मति आदि व्यभिचारिभाव हैं । भक्त के हृदय में विद्यमान रति भाव ही इसका स्थायि भाव है जो मां के मुख-मण्डल की शोभा का रसास्वाद करता है ।

नव-पयोधर-मण्डल-मंजुलं
कनक-मंजुल-पीत-पटीज्ज्वलम् ।
चतुर-वल्लव-यौवन-बल्लभं
मम विराजति मानस-दैवतम् ।।[2]

इस श्लोक में बाल श्रीकृष्ण आलम्बन हैं । उनके पीतवस्त्र तथा गोपिकाओं का समूह उद्दीपन । निरन्तर उन्हें देखने की और शोभा की अनुभूति करने की प्रबल इच्छा अनुभाव तथा धृति, औत्सुक्यादि व्यभिचारिभाव हैं । भक्त कवि के हृदय में विद्यमान रति भाव ही इसका स्थायिभाव है । उनके इस प्रकार के रूप सौन्दर्य की सहज रसानुभूति अलौकिक आनन्द को प्राप्त कराने वाली है ।

---

1· श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्, श्रे· श्लोक 53, पृ0 48·

2· श्रीबालकृष्णदशकम्, श्लोक 2, पृ0 26·

# नवम-अध्याय

## उपसंहार

1. राजनैतिक देन
2. साहित्यिक देन
3. सांस्कृतिक देन

## :: उ प सं हा र ::

कविप्रवर श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य ने अपनी आध्यात्मिक एवं सारस्वत धारा से जनजीवन को आप्लावित किया । आचार्यश्री के व्यक्तित्व, व्यवहार, उपदेश और सर्वोपरि निश्छल, निर्भीक और सुस्पष्ट कृतित्व से संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य सामाजिक, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक स्तर पर उत्कृष्ट कोटि का साहित्य माना जाता है । उनके साहित्य के चिन्तन-मनन से उनका संस्कृत-भाषा, साहित्य, व्याकरण और दर्शन के गहन अध्ययन तथा साधना का प्रौढत्व स्पष्ट झलकता है ।

कवि प्रतिभा के धनी आचार्यश्री जिस किसी भीघटना या विषय के प्रति सहृदय भाव से परिपूरित हो जाते उसी पर तत्काल सुन्दर, सरस और प्रभावपूर्ण छन्द रच दिया करते थे । समाजशास्त्र एवं धर्मशास्त्र के अद्वितीय विद्वान् आचार्य ने अपनी लौह-लेखिनी से राष्ट्रालोक की रचना करके आदर्श शासन-पद्धति का मार्ग निर्देशित किया । उनकी राष्ट्रिय भावनाओं से ओत-प्रोत रचनाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे आधुनिक शासन, शासक एवं राजनैतिक दलों की प्रशासन पद्धति से असंतुष्ट थे । धर्म, वर्णाश्रम व्यवस्था, सामाजिक मर्यादा और नीतिशास्त्र के प्रति अनभिज्ञता प्रकट करने वाले व्यक्तियों के प्रति तथा भ्रष्टाचार, अत्याचार, अनाचार, पापाचार तथा गोवंश हत्या में प्रवृत्त होने वाले लोगों की आचार्यश्री खुलेशब्दों में निन्दा करते थे ।

आचार्यश्री के स्तोत्रात्मक काव्यों का सौन्दर्य अप्रतिम है । उनके प्रत्येक पद में लालित्य और प्रसाद सर्वत्र एक समान दृष्टिगोचर होता है । तान्त्रिक विषयों में उनकी गति अबाध थी । वे स्वतंत्र चिन्तन करते थे और चिन्तन-मनन के पश्चात् जो भी लोक-कल्याण के लिए आवश्यक समझते थे, वही अपने भक्तों या शिष्यों की इच्छानुसार काव्य में वर्णित कर देते । उनकी काव्य-रचना सरस व सहजगम्य होते

हुए भी विस्तृत विषयों का संक्षिप्त व सारगर्भित वर्णन करने में अपनी सानी नहीं रखती । उनके दार्शनिक विचार तो "बिन्दु में सिन्धु" की कहावत को चरितार्थ करते हैं ।

आचार्यश्री ने लोककल्याण की भावना को दृष्टिगत रखते हुए अपनी साहित्यिक संरचनाओं के माध्यम से साहित्यिक, राजनैतिक, सांस्कृति और दार्शनिक दृष्टि से सार्वभौम देन देकर अपने साधुत्व को कृतार्थ किया । उनकी रचनाएं स्वान्तःसुखाय मात्र न होकर परसुखाय अधिक हैं । इस प्रकार "काय: परहिते यस्य सफलं तस्य जीवितम्" के आदर्श की वे प्रतिमूर्ति ही थे ।

राजनैतिक देन -

वीतराग, परमसिद्ध, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र एवं ब्रह्मनिष्ठ होकर भी आचार्यश्री घोर राष्ट्रनिष्ठ विभूति थे । उनकी मान्यता थी कि जिस व्यक्ति में राष्ट्रीयता और राष्ट्रनिष्ठा नहीं है, वह आध्यात्मिक पथ पर कभी भी प्रगति नहीं कर सकता । भारत की पराधीनता के उन दिनों में जब राष्ट्रीयता की बात करना या स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करना घोर अपराध माना जाता था, उस समय आचार्यश्री अपनी वाणी, कर्म और साहित्य संरचना के द्वारा निरन्तर निर्भीक होकर देशभक्ति के प्रचार में तल्लीन रहते थे ।

राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रनिष्ठा के अभिवर्धन हेतु आचार्यश्री ने "श्रीराष्ट्रालोक" नामक अद्वितीय आर्ष कृति की रचना की । उसमें विद्यमान भावों को उजागर करने हेतु स्वयं उस पर "राष्ट्रसंजीवनभाष्य" भी लिखा । सार्वभौमिक राष्ट्रीयता का संदेश देने वाली यह कृति परतन्त्रता को मानव-जीवन का अभिशाप मानती है ।

आचार्यश्री ने स्वराष्ट्र को चत्वार पुरुषार्थ का साधन कहा है । परतन्त्र राष्ट्र के निवासी न तो अपना कोई व्यक्तित्व रखते हैं और न उनके ज्ञान-विज्ञान को कहीं आदर मिलता है । मनुष्य अपने जीवन के पुण्य-प्रताप से ही

स्वतन्त्र राष्ट्र में जन्म लेता है । ऐसे राष्ट्र को स्वतन्त्र रखने का संकल्प और उसकी सांस्कृतिक धरोहर में वृद्धि करना प्रत्येक राष्ट्रिय का कर्त्तव्य है । मंगलाचरण के रूप में आचार्यश्री का कथन है --

चतुर्णां पुरुषार्थानां हेतवे वृण केतवे ।
पितृ पुण्यभूवे तस्मै स्वराष्ट्राय नमो नमः ।।[1]

इस श्लोक में "पितृभूमि" अधिकार सत्ता का ज्ञान कराती है और "पुण्यभूमि" स्नेहसत्ता का प्रादुर्भाव करती है । "स्व"शब्द आत्मसत्ता प्रदान करता है । ये ही तीन सत्ताएं हैं जिनकी त्रिवेणी राष्ट्रीयता के भावों को निरन्तर प्रवाहित करती है ।

आचार्यश्री ने राष्ट्रदृष्टि को नमन करते हुए यह उद्‌बोध कराया कि मंगलकारिणी राष्ट्रदृष्टि से ही राष्ट्र का हित हो सकता है । राष्ट्र के निवासियों में इसकी जागृति परमावश्यक है । आचार्यश्री का उद्‌बोधन इस कारिका में स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है --

राष्ट्रदृष्टि नमस्यामो राष्ट्रमंगलकारिणीम् ।
ययां विना न पश्यन्ति राष्ट्र स्वनिकटस्थितम् ।।[2]

राष्ट्रवादी भावनाएं जिन्हें राजनीति के उपक्रम में जोड़कर नेताओं ने विद्रूप बना दिया है वे आध्यात्मिक धारणाओं से परिपुष्ट है । आचार्यश्री के नवीनतम विचार राष्ट्रनायकों एवं राष्ट्रनिवासियों के लिए सदैव मार्ग निर्देशित करते रहेंगे । उनके मतानुसार राष्ट्रपुरुष और आत्मपुरुष अद्वैत हैं । अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में सम्पूर्ण सृष्टि आत्मा की ही विलास लीला है । इस "विराट" का विलास जिस प्रकार "ऋत" और "सत्य" पर आरूढ होकर अपनी लीला कर

---

1· श्रीराष्ट्रालोक, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, श्लोक 1·
2· वही, श्लोक 2·

रहा है, वही ऋत और सत्य राष्ट्ररूपी विलास के लिए भी आवश्यक है। जिसने "विराट" के इस लीलाविलास को समझ लिया है, वास्तव में वही आर्य है। उसे देखने वाली दृष्टि राष्ट्रदृष्टि है। इसी दृष्टि से "राष्ट्र पुरुष" का साक्षात्कार हो सकता है। "राष्ट्रवाद" का इस प्रकार का स्वरूप विवेचन अपने आप में नवीनतम एवं अनूठा है।

परतन्त्र राष्ट्र की निन्दा करते हुए आचार्यश्री ने उससे छुटकारा पाने के लिए "श्रीक्रान्तिकौमुदी" और "श्रीसंक्रान्तिपंचदशी" जैसे ग्रन्थों की रचना करके स्पष्ट कर दिया है कि स्वतन्त्रता ही आध्यात्मिक साधना का परमलक्ष्य है वही मोक्ष है। वही ब्रह्मानन्द का केन्द्र है।

इस प्रकार आचार्यश्री ने आध्यात्मिक परिवेश में राष्ट्रीयता की मौलिकता को स्पष्ट करते हुए भारत की राष्ट्रिय एकता, अखण्डता और स्वतन्त्रता का पुनर्जागरण किया है। उन्होंने राष्ट्र की सर्वतोमुखी समुन्नति के लिए राष्ट्रोचित शिक्षा की अनिवार्यता को परमावश्यक माना है।

साहित्यिक देन -

भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का प्रतिपादन करने के लिए तथा संसार के समस्त प्राणियों को जीवन के धर्म, अर्थ और मोक्ष - इन तीनों प्रयोजनों को प्राप्त करने के सद्मार्ग निर्देशन हेतु आचार्यश्री ने समय-समय पर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनकी साहित्यिक देन संस्कृत वाङ्मय के लिए विशिष्ट देन है।

आचार्यश्री ने संवत् 1998 में सोलन (हिमाचल प्रदेश) में श्रीस्वाध्याय सदन नाम से एक संस्थान की स्थापना की। इस संस्थान द्वारा एक त्रैमासिक पत्र "श्रीस्वाध्याय" का प्रकाशन भी होता रहा। इस पत्रिका में भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों पर अनेक विद्वानों की रचनाएं प्रकाशित होती थीं। ज्योतिष-सम्बन्धी गम्भीर निबन्ध भी इसमें प्रकाशित होते थे। आचार्यश्री इसके संस्थापक तो थे ही, साथ ही वे प्रत्येक पत्र में अपनी कोई न कोई नूतन रचना अवश्य देते थे।

मंगलाचरण के रूप में तो उनके छन्द अवश्य ही प्रकाशित होते रहे । यह पत्र 16 वर्ष तक निरन्तर प्रकाशित होता रहा । पराधीनता के समय में देश की स्वाधीनता के लिए इस पत्र ने अपना स्वर ऊंचा किया । आचार्यश्री ने स्वातन्त्र्य प्रेम को ध्यान में रखकर "संक्रान्ति" जैसे काव्य का भी प्रकाशन भी इसके माध्यम से कराया । पत्र के प्रथम पृष्ठ पर मुद्रित "निवेदन" में विनति, भक्ति, नीति, राष्ट्रप्रेम, गुरु प्रणाम, राजनीति तथा शासन-व्यवस्था सम्बन्धी उद्बोधन स्वर भी आचार्यश्री की लेखनी से प्रसूत हुए हैं । अंकों में ऋतु, पर्व, त्योहार तथा सदाचार आदि पर अनेक श्लोक हैं । इनमें से पचास श्लोकों का चयन कर एक पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित कराया गया है ।

इस संस्थान के अतिरिक्त निम्नलिखित चार और संस्थानों की स्थापना भी आचार्यश्री ने की । इनमें तीन संस्थान इस समय भी आचार्यश्री की मनोकामनाओं के अनुरूप संस्कृत व संस्कृति की सेवा कर रहे हैं । "श्रीस्वाध्याय सदन, भरतपुर" के संचालक आचार्यश्री के अभिन्न अंग श्रीयुत पण्डित गोविन्द मिश्र के शिवलोक प्रस्थान के पश्चात निष्क्रिय हो गया है । ये संस्थान इस प्रकार हैं --

1. श्रीपीठम् सैद्ध दर्शन शोध संस्थान, जम्मू (कश्मीर)
2. श्रीस्वाध्याय सदन, भरतपुर (राजस्थान)
3. श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान, जयपुर
4. विद्वद्वरकल श्रीराधाकृष्ण धार्मिक संस्थान, नई दिल्ली

आचार्यश्री साहित्यिक और धार्मिक गोष्ठियों में अपना सक्रिय सहयोग देते थे । अपनी ही रचनाओं के सस्वर पाठ से वे श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर दिया करते थे । उन्होंने अपनी कई रचनाएं अपने शिष्यों के विनयपूर्वक आग्रह पर लिखीं । "श्रीविंशतिकाशास्त्रम्" की रचना भरतपुर निवासी पंडित गोविन्द मिश्र की प्रार्थना पर की गई --

अत्रिगोत्र समुद्भूतमिश्रगोविन्दशर्मण: ।
बोधार्थं निर्मितं शास्त्रमेतज्जानन्तु पण्डित: ।।[1]

आचार्यश्री ने "छन्दशास्त्र" पर भी एक पुस्तक का निर्माण किया । यह रचना अभी तक अप्रकाशित है । विविध वृत्तों में लगभग स्वयं के द्वारा रचित छन्द ही उदाहरण के लिए चुने गए हैं ।

सरल सुबोध प्रसाद शैली में काव्य-रचना करना ही आचार्यश्री की विशेषता है । लम्बे-छन्दों में रचना करना उन्हें उतना अच्छा नहीं लगता था, जितना छोटे छन्दों में । इसी कारण विद्वान् उनकी कविता को "बिन्दु में सिन्धु" की उपाधि देते रहे हैं । अनुष्टुप जैसे छोटे से छन्द में बहुत गम्भीर बात कह डालते हैं ।

"साधोलाल रिसर्च स्कॉलरशिप" नामक अनुसन्धान वृत्ति के अन्तर्गत कार्य करते हुए आचार्यश्री (वैद्यनाथ शास्त्री) ने "वृत्तरत्नाकर" की नारायणभट्टकृत "टीका" का वैदुष्यपूर्ण सम्पादन किया था । नन्दपण्डित धर्माधिकारी कृत "नवरात्रप्रदीप" ग्रन्थ का भी सम्पादन "सरस्वती भवन" सीरिज टैक्स्ट्स में किया था, जिसकी भूमिका इनके प्रतिभा तथा व्यापक ज्ञान का निदर्शन है । नन्दपण्डित के दूसरे ग्रन्थ "शुद्धिचन्द्रिका" का भी सम्पादन उनके द्वारा हुआ था । "पंचस्तवी" का भी स्वानुभूति के आधार पर विवेचनात्मक सम्पादन अद्वितीय कार्य है ।

इस प्रकार अपने छात्र जीवन से लेकर साधनामय अन्तिम जीवन तक की दीर्घकालीन यात्रा में आचार्यश्री निरन्तर साहित्यिक सेवा करके संस्कृत वाङ्मय में वृद्धि करते रहे । संस्कृत जगत् उनके इस प्रकार के सहयोग के लिए सर्वदा ऋणी रहेगा और स्तोत्र रचना की दृष्टि से उन्हें पुष्पदन्ताचार्य, शंकराचार्य और पण्डितराज जगन्नाथ आदि की कोटि में स्मरण करता रहेगा ।

---

1. श्रीविंशतिकाशास्त्रम्, श्लोक 23, पृ0 174.

सांस्कृतिक देन -

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य भारतीय संस्कृति के परम उपासक थे । श्रेष्ठ साधक जीवन को धारण करने वाले कविमनीषी ने अपनी काव्य साधना से सांस्कृतिक-मूल्यों में अभिवृद्धि की । उन्होंने संस्कृति के दोनों आधार सामाजिक व्यवस्था एवं धार्मिक व्यवस्था पर अपने मौलिक विचार लिखे । स्वान्तःसुखाय रचनाएं समाज एवं धर्म की दृष्टि से अद्वितीय हैं । उनके सिद्धान्त विश्व-कल्याणकारी और सार्वजनीन थे । आर्ष परम्पराओं के जाज्वल्यमान रत्न आचार्यश्री विश्व हितचिन्तक महर्षि थे । भारतीय संस्कृति की सुरक्षा और सम्वर्धन हेतु आचार्यश्री सतत जागरूक रहे । वर्णाश्रम मर्यादा के वे प्रबल समर्थक थे । उनका कथनानुसार हिन्दु समाज मे वर्ण-व्यवस्था का वही स्थान है जो मानव शरीर में मेरुदण्ड का । जाति अथवा वर्ण केवल जन्म से ही मान्य है । ऐसी मान्यता ही व्यावहारिक, वैज्ञानिक एवं न्याय्य है । कर्म से जाति निश्चित नहीं हो सकती । श्रीमद्गीता में वर्णित "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः" की व्याख्या में आचार्यश्री ने बताया कि चारों वर्ण और उनके गुण और कर्मों की सृष्टि परमेश्वर ने स्वयं की है । जन्म और कर्म में सामंजस्य की दृष्टि से चारों वर्णों को आचार्यश्री ने निम्नलिखित चार विभागों में विभक्त किया हैं -

1· ब्राह्मण - ब्राह्मण, ब्राह्मण-क्षत्रिय, ब्राह्मण-वैश्य और ब्राह्मण-शूद्र

2· क्षत्रिय-ब्राह्मण, क्षत्रिय-क्षत्रिय, क्षत्रिय-वैश्य और क्षत्रिय-शूद्र·

3· वैश्य-ब्राह्मण, वैश्य-क्षत्रिय, वैश्य-वैश्य और वैश्य-शूद्र·

4· शूद्र-ब्राह्मण, शूद्र-क्षत्रिय, शूद्र-वैश्य और शूद्र-शूद्र·

"हरिजनोद्धार" के विषय में आचार्यश्री का कथन है कि यह एक बहुत महान और पवित्र कर्म है, यदि वर्णाश्रम की परिधि में रहकर किया जाये । हरिजनों का तिरस्कार अथवा अपमान करना किसी प्रकार भी क्षम्य नहीं ।

भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ चतुष्टय का महत्त्वपूर्ण स्थान है । आचार्यश्री ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति हेतु अपनी रचनाओं

में पर्याप्त वर्णन किया है । उनके मतानुसार पुरुष सर्वदा आत्मतृप्ति चाहता है और उसी की कामना से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुष के अर्थनीय होते हैं । जितने ही अंश में पुरुष इनकी सुव्यवस्था कर सकेगा उतना ही वह उन्नतहोगा । उन्नति में ही तृप्ति का मूल निहित है ।

आश्रम-व्यवस्था भारतीय संस्कृति की एक विशेष व्यवस्था है । इस व्यवस्था में गृहस्थ-आश्रम अपना विशेष महत्त्व रखता है । इस गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करते समय पाणिग्रहण संस्कार का होना आवश्यक है । धर्म-विधियों के अनुसार आचरण करना प्रत्येक गृहस्थी का प्रमुख कर्त्तव्य है । आचार्यश्री ने "सप्तपदीहृदयम्" जैसे अभूतपूर्व रचना देकर भारतीय समाज व संस्कृति को अत्यंत लाभान्वित किया है । श्रीमती सुमति नारलीकर के शब्दों में --

"वधू-वर के शुभ विवाह के समय मंगलकामना करने वाले इष्ट मित्रों और गुरुजनों को चाहिए कि वे सप्तपदीहृदयम् (पुस्तक) को पहले उपहार के रूप में अवश्य दिया करें । सप्तपदीहृदय के श्रवण, मनन और निदिध्यासन के बाद वधू-वर के गृहस्थ आश्रम का शुभ आरंभ होगा, कल्याण होगा और जीवन में सफलता मिलकर रहेगी । सप्तपदीहृदय की सृष्टि करके पूज्यपाद श्रीमान् अमृतवाग्भवाचार्य ने भारत की सचमुच बहुत बड़ी सेवा की है ।"[1]

धार्मिक रचनाओं का बहुमूल्य साहित्य देकरआचार्यश्री ने समाज की विशेष सेवा की । स्तोत्र-साहित्य के नित्य पठन मात्र से मानव मात्र का कल्याण हो सकता है । श्रीपरशिवप्रार्थना (प्रभो । शम्भो ) का नित्य जाप करने वाले व्यक्ति पर भगवान् शिव की अपार कृपा रहती है । बुद्धि-शुद्धि का तो यह सिद्ध महामन्त्र है ।

इस प्रकार आचार्यश्री ने इहलोक और परलोक दोनों के उद्धार के लिए ही अपनी रचनाएं करके साधुजीवन को सार्थक किया है ।

---

1. श्रीसप्तपदीहृदयम्, सम्मति, पृ० 4.

## दार्शनिक देन -

आचार्यश्री ने सिद्ध-दर्शन की दृष्टि से दार्शनिक विचारधारा में अपना अभूतपूर्व सहयोग देकर सिद्ध-दर्शन परम्परा को बलवती बनाया । सिद्ध-दर्शन में शैव और शाक्त ये दो परम्पराएं प्रचलित हैं । ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में परमशिव और वाग्म्भृणीय सूक्त में आद्या शक्ति के दर्शन होते हैं । आचार्यश्री ने अपने तपस्वी-जीवन में साक्षात् अनुभूति से इन दर्शनों की मूल भावनाओं को जाना और उन्हें काव्यात्मक रूप देकर साधकों के लिए प्रस्तुत किया ।

अद्वैत वेदान्त के सम्बन्ध में आचार्यश्री शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्तों के विपरीत अपना मत रखते थे । आचार्य गौडपाद और आचार्य शंकर ने परब्रह्म में परमेश्वरता को न मानते हुए उसके एकमात्र विश्वोत्तीर्ण और अवाङ्‌मनस-गोचर स्वरूप को ही ठहराया है । उन्होंने परब्रह्म से अतिरिक्त एक अविद्या/माया नाम की प्रातिभासिक सत्ता की भी कल्पना की है । उन्होंने ब्रह्म को प्रकाशमान होने के कारण ज्ञानरूप तो माना है । किन्तु शान्त होने के कारण उसे क्रियाशक्ति से रहित स्वीकारा है । मायारूपिनी उपाधि से कल्पित ही क्रिया-शक्ति है । ब्रह्म को सच्चिदानन्द-स्वरूप तो माना गया है किन्तु उसकी आनन्दरूपता क्या है इस बात का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है । आचार्यश्री इस सिद्धान्त से सहमत नहीं थे । "आत्मविलास" में उन्होंने उसकी आलोचना की है । उन्होंने स्पष्ट किया कि आचार्य शंकर ने विवर्त्तवाद पर स्थित सिद्धान्त का प्रतिपादन बौद्धों के विज्ञानवाद से टक्कर लेने के प्रयोजन से किया था । वास्तविक अद्वैत औपनिषद् वेदान्त पर ही आधारित है । भगवान् मुनीश्वर दुर्वासा से प्राप्त शाम्भव योग विद्या के अभ्यास से आगमिक दर्शन विद्या के सिद्धान्तों का साक्षात् अनुभव करके आचार्यश्री ने "श्रीआत्मविलास:" "श्रीविंशतिकाशास्त्रम्", "श्रीसिद्धमहारहस्यम्" तथा "श्रीपरमशिवस्तोत्र" जैसे अद्भुत दर्शन-ग्रन्थों का निर्माण किया । "महानुभवशक्तिस्तव" में भी उनके अनुभव द्रष्टव्य हैं ।

वैष्णवों और दक्षिण के शैवों की वेदान्त विद्या को भी आचार्यश्री साधारण विद्या समझते थे । इसका प्रमुख कारण उनकी दृष्टि में ऐश्वर्यवाद की प्रधानता और विवर्त्तवाद है । इस कारण में परमेश्वर और उसकी शक्ति एक न होकर दो पदार्थ हो जाते हैं । आचार्यश्री का कथन है था कि परमेश्वर और उसकी शक्ति वस्तुत: कोई दो पदार्थ नहीं है । एक ही परतत्त्व के स्वभाव और स्वरूप को समझने और समझाने के लिए उसे ये दो नाम दिए गए हैं । वैष्णव और दक्षिण के शैव परमेश्वर के विश्वोत्तीर्ण शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप को विशेष महत्त्व नहीं देते, जबकि आचार्यश्री के स्वात्म परमेश्वर की सर्वथा असीम तथा सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त शुद्ध चिन्मात्र का साक्षात् अनुभव हो चुका था ।

आचार्यश्री ने "श्रीआत्मविलास" के माध्यम से जिन दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत किया है वे इस प्रकार हैं --

"यह समस्त संसार तथा जीवों का बन्ध-मोक्ष वैचित्र्य सर्वथा आकाशपुष्प तुल्य या शशविषाण तुल्य नहीं है, न ही यह मूल तत्त्व के सम्मुख ठहरी हुई किसी अविद्या जैसी उपाधि के आधार पर चल रहा है, अपितु परमेश्वर के स्वतंत्र लीला-विलास का अभिनयमात्र ही सारे का सारा प्रपंच है । यह समस्त प्रपंच आत्मदेव का विलास है ।"

शाक्त दर्शन की परम्परा अत्यन्त पुरातन और वेदानुकूल है । यह मुक्ति प्राप्ति का एक विशिष्ट राजमार्ग है । शाक्तदर्शन में शक्ति को ही परम तत्त्व माना गया है । आचार्यश्री ने अपनी शाम्भव योग विधा से इस शक्ति का अनुभव किया । उनका कथन है --"शाक्त दर्शन में जिस शक्ति का विवेचन हुआ है, वह शक्ति जड शक्ति नहीं है । वह चित् शक्ति है । वह शिव से अभिन्न है । जगत् की सृष्टि की मूलाभूता यही शक्ति है । शिव को प्रकाश और शक्ति को विमर्श कहते हैं । ये दोनों अभिन्न हैं । उभय सामरस्य ही महाशक्ति है । एक से दूसरे को अलग करना असम्भव है । विशाल विश्व में समस्त शक्तियां महाशक्ति के ही

भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न रूप हैं जैसे इच्छा शक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्ति । शक्ति की उपासना ब्रह्म-विद्या की उपासना है । उसे जिस किसी भी रूप में किया जाय, उससे इस लोक में अभ्युदय और अन्त में निःश्रेयस की प्राप्ति होती है ।

माँ भगवती महाशक्ति के परम उपासक आचार्यश्री ने अपने ग्रन्थ रत्नों में इस परम तत्त्व का प्रकाशन स्वानुभूति के आधार पर करके साधकजनों के नित्यमंगलार्थ प्रस्तुत किया है ।

----

# परिशिष्ट

(क) कतिपय शिष्यों के संस्मरण

(ख) हस्त-लिखित पुस्तकों की फोटो-स्टेट प्रति

(ग) संदर्भित ग्रन्थ-सूची

## प्रशस्ति एवं संस्मरण

श्रीयुक्त: प्रतिभायुत: सुललितो यो नैष्ठिको भास्वर:
नैपुण्यं वहतीह योगकरणो नैकेषु शास्त्रेषु च ।
वाग्देवीतनयो बुध: सुरगवीसेवाव्रती साधक:
आचार्यो मृतवाग्भव: विजयते सिद्धो महामानव: ।।

--डॉ० शिवसागर त्रिपाठी

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रो य: पदवाक्य प्रमाणवित् ।
सिद्धविद्याधरो योगी शिव: साक्षात् कवीश्वर: ।। । ।।
सर्वोपकारनिरत आचार्यो मृतवाग्भव: ।
पूज्यपादाय गुरवे तस्मै नित्यं नुमा वयम् ।। 2 ।।

-- डॉ० भवानीशंकर त्रिवेदी

भारत्या भुवनांगणं निरूपमं द्वेधा मृतं नि:सृतम्,
भ्रान्त्वा सो मृतवाग्भवश्च सकलं चन्द्रं विजित्यावनौ ।
दीप्त्या रवं महतो नुगं प्रतिदिशन् भाति स्वलोकोत्तरम्,
नाम्नान्वर्थतया विभूषितवपु: सिद्ध: परिव्राजक: ।।

-- रामदेव: साहू

वैद्यनाथशास्त्री शैशव से ही तीव्र बुद्धि से सम्पन्न थे, जन्मान्तर संस्कार से इनकी प्रज्ञा अतिशीघ्र अनेक शास्त्रों में अवगाहन करती थी ।

-- प्रो॰ बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते॰

श्री अमृतवाग्भवाचार्य स्वाभिमानी, दयालु, विद्वान्, उपासक, विरागी, सहृदय संस्कृत कवि एवं परशुराम प्रिय राजस ब्राह्मण थे ।

-- कविपुण्डरीक सम्पूर्णदत्त मिश्र॰

उनके व्यक्तित्व में चुम्बकत्व था, आकर्षण शक्ति किंवा दिव्यसम्मोहन शक्ति थी । -- डॉ० रघुनाथ शर्मा

शूद्रों को कुएं पर पानी भरने का अधिकार -- उन दिनों शूद्रों को कुएं से पानी भरने दिया जाये या नहीं, इस विषय पर विद्वानों में शास्त्रार्थ होते रहते थे । एक बार पानी भरने देने के पक्षधर विद्वानों का पक्ष कुछ कमजोर पड़ते देख श्री महाराज जी ने पाणिनि के --

"शूद्राणामनिर्वासितानाम्"

इस सूत्र तथा अन्यान्य शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर दृढ़तापूर्वक यह सिद्ध कर दिखाया कि शूद्रों के को कुओं से जल भरने देने का अधिकार देने में कोई शास्त्र विरोध नहीं है ।

इस पर सभा में उपस्थित महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तथा अन्य अनेक विद्या वयोवृद्ध विख्यात विद्वानों ने श्री महाराज जी की पीठ ठोकी और कहा कि हां, अपने पक्ष का समर्थन इसी प्रकार किया जाना चाहिए ।

--/डॉ० भवानीशंकर त्रिपाठी.

---

अमुद्रित



शिष्टाऽनुग्रहदुष्टनिग्रहमिषात् कल्याणमातन्वती
विश्वस्य क्रमविक्रमाऽक्रममयी धर्मस्वरूपा शिवा ।
आनन्दाऽमृतवर्षिणी शिवमहासत्ता चिदम्भोनिधि-
दैवी क्रान्तिरुदारधीर्विजयतामार्या परा भैरवी ॥१

अथाऽतः क्रान्तिं व्याख्यास्यामः । पूर्वाऽपरत्यागग्रहौ क्रान्तिः । पूर्वं चाऽपरं च
तयोस्त्यागग्रहौ च क्रान्तिरित्युच्यते । यदत्यक्तं तत्पूर्वं यदगृहीतं तदपर-
मिति सम्बध्येयम् । परस्पराऽवलम्बिनौ परस्परानिरूपाविव भासमानौ
वस्तुतः समानरूपाविमौ त्यागग्रहौ अन्यतरोपादानेनाऽपि निर्वाह्यौ
भवतस्तथाऽपि रुचिभेदमूलगौणमुख्यभेदभिन्नव्यवहारमवलम्ब्य
द्वावपि समुपात्तौ । अथवा परिणामः क्रान्तिः । प्रकारान्तरेण भासितस्य वस्तु-
नः प्रकारान्तरेण भासनमिति तात्पर्यम् । अथवा परिभ्रान्तिः क्रान्तिः । क्रमुः
पादविक्षेपे ततो भावे स्त्रियां क्तिन् । भ्रान्तिरिति भावः । सर्वथाऽपि
समरसीभूतनिग्रहाऽनुग्रहाऽपरपर्यायसङ्कोचविकासनिदानभूता
चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियास्वभावा षट्त्रिंशत्तत्त्वप्रणालिकोत्तमा शिवा-
दिक्षित्यन्ताऽनन्तवस्तुजातस्य सृष्टिस्थितिसंहारतिरोधानाऽनुग्रह-
रूपपञ्चविधकृत्यैः प्रतिष्ठापयित्री भैरवीभैरवाऽपरपर्याया ऽहम्म-
हेरूपा आत्मविलासरूपिणी आर्या परा भैरव्येव भगवती क्रान्तिः
समाप्ता । असौ किल देवाऽदेवी स्वोरनुग्रहनिग्रहाभ्यां कल्याणायाऽनन्त-
रूपैराविर्भवन्ती तिरोभवन्ती च विजयतेतरां देवी । अत एव ज्ञा-
नाविज्ञानसम्पन्नाः समदृष्टयस्तत्त्वदर्शिनः समरसानुभवधारि-
णोऽमी इमां सनातनधर्मस्वरूपां जगज्जननीं च निपुणं निरूपयन्ति ।
तस्मात् क्रमेण अक्रमेण विक्रमेण च दीव्यन्तीयमार्या यथाविधि स-
र्वैः समुपासिता स्वोपासकाय सर्वमपि कल्याणमातनोति सम्प्रसद्य
ते इति तु निश्चप्रचम् । एतस्या आध्यात्मिकं रूपं सनातनोऽयं
[illegible] ज्ञानेश्वरतत्त्व-
[illegible] आत्म [illegible]

राष्ट्रस्योत्तमं लक्षणं :— कौटिल्यानुसारेण राष्ट्रस्य स्वरूपं … ।।
न्यो । केचित्तु आचार्याः कौटिल्याः — आर्थिकसम्पन्नेन सर्वतोभद्रनामक-
साम्राज्यार्थं, एकतोभद्रनयाऽन्यान्येषां आर्याः । तत्र स्वराष्ट्रं …
स्वसाध्यस्य सम्बर्धयन्तः परराष्ट्रं गुप्तचरैः गुप्तशौर्यैः" इत्येवं मर्यादा
स्थापयन्तो मान्या आर्याः राष्ट्रद्रष्टारः । यतो हि "सर्वोपायैः … …
… तां परराष्ट्राणि न कामान्न पीडयन्तु" इति सूत्रमुक्तवन्तो ।
अथ च ते निराहु — "राष्ट्रसञ्चालकाः स्वराष्ट्रमपि सर्वतोभद्रनीत्या
शासयन्तु "एकतोभद्रनयेन" राष्ट्रं राष्ट्रेण परिरक्षन्तु" इत्याहुरिति
भावः । सर्वतोभद्रैकतोभद्रप्रकारौ वर्ण्येते ऽत्र । अथापि पुनरपि
मर्यादां भिन्दन्तो वदन्ति — "साम्प्रतं विजयिना मम्राट् राष्ट्रं परिपन्थि-
सञ्चालनमूलं अन्यानि राष्ट्राणि येन केनापि उपायेन भक्षयि-
तुं प्रयत्नं कुर्यात्" "आक्रान्तुमशक्यानि राष्ट्राणि परराष्ट्रे कूट-
नीत्या ऽतिनिगृह्य ग्रसितव्यं" इति च प्रकाशते । अन्यदपि तेषां मते —
"परराष्ट्रेषु तु नैव सर्वतोभद्रनयेन शासनीयानि स्वराष्ट्रमपि सर्वतो-
भद्रनयेन न शासनीयम्" इति । एवं कौटिल्याः अपि राष्ट्रद्रष्टारः द्विप्रकार
कौटिल्या भवन्ति उत्तमाधममध्यमभेदेन । एवं षड्विधा राष्ट्रद्रष्टारः ।
राज्यद्रष्टारोऽपि कौटिल्याः आर्याश्च भेदेन । तत्र पूर्वपक्ष —
'स्वं स्वं राष्ट्रं राजा राजपरतन्त्रसर्वतोभद्रनयेन सञ्चालयतु गुप्तचरैश्च
च परराष्ट्रं समनुगृह्णातु" इति वदन्तो मान्या राज्यद्रष्टार आर्याः ।
अन्यश्च वदन्ति — 'राजा राष्ट्रकल्याणाय स्वप्राणानपि त्यजेत्
राष्ट्रं च राजकल्याणाय" एतेषां मतमान्यतमानि — राजा परराष्ट्रमप-
ि तदीयकल्याणाय विजित्य पूर्वोक्तनयेनैव राज्यं शासयतु" इति ।
अन्ये आचार्याः पुनरेतामपि मर्यादां भिन्दन्तो वदन्ति — "राजा निज
… … स्वराष्ट्रं परराष्ट्रं वा यथाकथञ्चित् नीत्या शासयेत्
… … तोभद्र नयैरतिक्रम्य … … … अपि …
… … … इति … … … … … …

[illegible] तु [illegible] [illegible] तेषां [illegible]
[illegible] निर्दिष्टा [illegible] षाड्गुण्यं राज्यहृदयम्।
एते षाड्गुण्यं [illegible] अनुशासनात् प्रत्येकं षाड्गुण्याः सन्तो ७२ द्वा-
सप्ततिभेदभिन्ना तारतम्यभावतो गौणमुख्यतया भवन्ति। एतेऽपि
नयद्वयोपयोगतारतम्येन तु परःशता भवन्ति। अस्तु।

इदं तु रहस्यम् — शिथिलमेवार्यशासनमनार्यशासनायते। शि-
थिलं चानार्यशासनमार्यशासनायते। तत्र — एकतोभद्रनयेन
शासनमनार्यशासनं तद्राजपरतन्त्रं राष्ट्रपरतन्त्रं वा भवतु द्वयमप्य-
नार्यशासनमेव। एवमेव राष्ट्रपरतन्त्रं राजपरतन्त्रं वा भवतु
सर्वतोभद्रनयेन शासनमार्याणाम्। अनार्याणां निग्रहसापे-
क्षतया निग्रहरूपेणैव प्रसीदति भगवती क्रान्तिः। आर्याणां चाऽनु-
ग्रहरुचितया अनुग्रहरूपेणैव प्रसीदति सा। अयं भावः —
अनार्याः किल निग्रहरूपां भगवतीं समुपासते अत एव
तत्प्रसादान्निगृह्णन्ति परान् अन्ते च तेऽपि भगवत्यैव परै-
र्निगृह्यन्ते। अयमेव प्रसादो भगवत्याः क्रान्तिदेव्याः। एव-
मेव आर्याः पुनः अनुग्रहरूपां भगवतीं समुपासते। अत ए-
व ते पराननुगृह्णन्ति। अन्ते च भगवत्यैव परैरनुगृह्यन्ते। अयमे-
व प्रसादो भगवत्याः क्रान्तिदेव्याः। अत्रेदं तत्त्वम् — सर्वतोभ-
द्रनीतिरनुग्रहः एकतोभद्रनीतिश्च निग्रहः। आर्याननुगृह्णन्ती नि-
गृह्णन्ती चानार्यान् सर्वदैव सनातनीयं प्रकृतिर्विलसति इति।
एतावता विवेचनेन क्रान्तिस्वरूपमभिहितम्। अथ क्रान्ति-
प्रकाराऽऽख्यानं विधीयते — द्विप्रकारा प्रथमतः सा —

आर्याऽनार्यभ्रान्तिभेदेन आर्याभ्रान्तिः सदुद्देश्यतया साऽऽरुपादीयते। अनार्या च असदुद्देश्यतया असाऽऽरुपादीयते। किं बहुना यावन्तो मानवभेदाः पूर्वं निरूपितास्तावन्तः भ्रान्तिभेदा अपि भवितुमर्हन्ति। आर्याऽनार्यलक्षणं भ्रान्त्युद्देश्यनिरूपणादिकमस्माभिः स्वप्रणीते 'राष्ट्रालोके' प्रणीतमस्तीति तत्रैव समवलोकनीयम्। अथेदं विचार्यं भ्रान्तिः कुतो भवतीति भ्रान्तिकारणं किमिति भावः। अत्रेदं समासतो रहस्यम् — भ्रान्तिः किल परशिवरूपे स्वस्वरूपे कुड्मम्। सा सनातन्येवेति च सिद्धान्तितचरम्। अतः सुस्पष्टमेवेदं भवति यत् भ्रान्तिः किल समस्तसंसारस्य मूलभित्तिस्वरूपम्। संसारप्रतिपत्तिमूलम्। यथा घटशरावाद्याकारधारिणी मृद् यथा च कटककुण्डलाद्याकारधारि सुवर्णं भवति। तत्र यथा — घटाद्याकारेषूत्पद्यमानेषु नश्यत्सु वा न मृदा मुच्यते नच नश्यति। मृदादिरेव विवर्तमानं समास्ति। "अधिष्ठानातिरिक्तं सर्वमपि भ्रमः" इति भ्रमार्थः। "अधिष्ठानातिरिक्तस्य प्रतीतिरणुमात्राऽपि न सम्भवतीति" इति रहस्यविदः। एतत्सर्वं भ्रान्तिलासे तद्व्याख्यायां च सुनिरूपितमस्माभिः। एवं च भ्रान्तिः स्वभाव इति सुतरां सिद्धान्तः। परमिदमप्यत्राऽवधेयं भवति — भ्रमवादिनां भ्रम एवाऽयं तान् भ्रामयन् संसारयति। अतस्ते भ्रान्ताः कथं सत्यं निर्धारयेयुरिति निर्भ्रान्तैः रहस्यविद्भिः शिक्षणीया एव। रहस्यविदां रहस्यवित्त्वमेव तान् रहस्यं विज्ञापयत् परिपूर्णयति। अतस्ते परिपूर्णाः कथं सत्यं न निर्धारयेयुरिति भ्रान्तिमद्भिरपि शरणीकरणीया एव। रहस्यविदो वदन्ति — चिदानन्देच्छाज्ञानक्रिया स्वभावा आत्मविलासरूपिणी भ्रान्तिः किल स्वभावभूतेन नानाभावोद्भासनेन दीप्यति। इदं चाऽस्माभिः स्वप्रणीतात्मविलासस्य स्वानेमिनाथां सुषमाख्यायां व्याख्यायां वर्णितमस्ति — "भावाऽभावोद्भासितकान्तं विन्दुगं निजमन्दिरे। दीप्यति स्वाऽवबोधं तन्महो वैसत" आर्याभ्रान्तिः कथमुपासनीयेति निरूपणीयमधुना। तथाहि —

गिकं सदा" इत्येवं रूपेण। तदेवं क्रान्तिरेव सर्वत्र प्रार्थ्यते इति तु
शोभनतममेव। एवं च तेषां मते सापेक्षा उत्पद्यमानास्ताः नश्य-
मानते कल्पिते एव स्वाऽऽनन्दाय स्वमप्यवच्छेदयतः। नाऽत्र
चाऽनेन काऽपि हानिः। प्रत्युत स्वाऽऽनन्दलाभ एवेत्यपि निरूपित-
मात्माभिजासेऽस्माभिः। ततश्च स्वकल्पितमुत्पादं विनाशं च
स्वाभिलाषेणाऽवगाहमाना शिवमहासत्तेयं सर्वदा सर्वथा-
ऽपि मोदमानैवास्ते। तस्मात् आर्याननुग्रहीतुमनार्यांश्च नि-
ग्रहीतुं कल्याणाय समस्तस्य सापेक्षप्रकाशमानताऽप्रका-
शमानतयोः समरसाऽधिष्ठानभूमेः क्रान्तेः स्वभाव एव।
तस्मात् क्रान्तिः स्वाभाविकी। अस्या नानारूपाणि विस्त-
रेण वर्णयितुमशक्यान्यपि समासतो वर्ण्यन्ते — तत्रैकाऽपी-
यं प्रथमं द्वैविध्यमवगाहते एका सर्वतोभद्रा अन्या चैकतोभद्रा। सर्वतोभ-
द्रां क्रान्तिमुपासमाना आर्या भवन्ति तैश्चोपासितेयमार्या भवति। एक-
तोभद्रां क्रान्तिमुपासमाना अनार्या भवन्ति तैश्चोपासितेयमना-
र्या भवति। द्वैविध्यमिदं निरूपितचरमानन्दोपासनाभेदेनानन्ततामव-
गाहते। एवं क्रान्तिकारणं तद्भेदाश्च समासतो निरूपिताः। प्रयोजन-
मिदानीं निरूपणीयम् — सर्वविधाया अपि क्रान्तेरुद्देश्यं स्वपूर्णा-
नन्दोपभोगः। पूर्णानन्दश्च अत्र पूर्णस्वातन्त्र्यं नैवाहुं शक्यः। पूर्णा-
नन्दः पूर्णशान्तिश्चेत्युभयं पर्यायान्तरमात्रम्। पूर्णस्वातन्त्र्यं च क्रान्ति-
मन्तरा नैवोपभोक्तुं शक्यम्। अध्यात्मदृष्ट्याऽपि स्वपूर्णानन्दोपभोग एव
मुक्तिः पूर्णा, स्वात्माऽवस्थितिः, परब्रह्मभावः, इत्यादि तैस्तैर्दर्शनिकैरेक-
मेव क्रान्तितत्त्वं वर्ण्यते — इमां क्रान्तिमेव समाराध्य वस्तुभावमभि-
[illegible]ति। अतश्च क्रान्तिरेव परमपुरुषार्थः इति कथितम्। अस्या लौकिक
उद्देशः — अनार्यनिग्रहणमार्यानुग्रहणं च। इयमपीदं पूर्णानन्दोप-
भोगायैव भवति इति तु निरूपितचरम्। निरूपितः क्रान्तेरुद्देशः।
इदानीं क्रान्तिः कथमुपासनीया इति निरूपणीयम्। तत्र सर्वतो-
भद्रनीतिप्रधाना आर्याः सर्वेषामनुग्रहायैव क्रान्तिमुपासते इ-

लिलत एवाऽवलोकनीयम् । परमेश्वरप्रतिरूपाणां आत्मसमर्पितानां
कल्याणसौगन्धिकव्याख्यायां कलाख्यायां टीकायां तेतामिति तत ए-
वाऽवलोकनीयम् । अस्तु ।
विचक्षणः को नु किल न विजानाति यत् आर्यजातिः विश्व
विश्वस्मै जनाय हितेति । अतः सा उपादेयतया निरूपणीया भवति अत्र
अनार्याश्च सा विश्वस्मा अपि जनाय अहितेति हेयत्वेन सतोऽपि
निरूपणीयैवाऽत्र अन्यतरज्ञानमात्रेणाऽनिर्वाहः स्फुट एव ।
उभयज्ञानमन्तरेण पूर्णता न कापि दृष्टा श्रुता वा पण्डितैः । अस्तु ।
स्वातन्त्र्यविकासतारतम्याऽवस्थिते जडाऽजडारामण्डलमण्डितेऽ-
स्मिन् विश्वस्मिन्नपि विश्वचक्रे आत्मदर्शिभिः सर्वतोभद्रतया
निर्धारिते क्रमेण अक्रमेण विक्रमेण च त्रिमूर्तिस्वरूपा सर्व-
भाऽसि दरीदृश्यते महाशक्तिः श्रीदेवी । अनन्तरूपाऽपि स्वतन्त्रमा
इयमेव सद्भावदृशा निर्णीता निग्रहाऽनुग्रहेति द्विरूपा,
कारणदृशा च निरोधितैकमा स्वरूपाऽनुग्रहात्मिकेति दर्शकम् ।
समदर्शिभिस्तु समरूपा सर्वैरनुगम्यते । तत्र क्रमाऽभिमानिनी
ब्रह्माणी शान्तिका भवति । अक्रमाऽभिमानिनी वैष्णवी पालिका, विक्रमाऽ-
भिमानिनी रौद्री संहारिका च भवति । इमा एव राष्ट्रदृष्ट्या मन्त्रोत्साह-
प्रभावाऽभिमानिन्यो राष्ट्रसरस्वती राष्ट्रलक्ष्मी राष्ट्रकाली रूपा भवन्ति ।
तिस्रोऽप्येमा निग्रहाऽनुग्रहमूलतया द्विविधा भवन्ति । तत्र निग्रहप्रधाना
भोगप्रदात्री ईश्वरीत्यभिधीयते, अनुग्रहप्रधाना मोक्षदा मोक्षभवा
अम्बा इत्यभिधीयते । तत्र भोगदा ईश्वरी किल पारतन्त्र्यप्रदतया
अनार्यैरुपासनीया अनार्या भवति । मोक्षदा अम्बा तु स्वातन्त्र्यप्र-
दतया आर्योपासनीया आर्या भवति । शाक्तदर्शनमिदं समादिष्टं गतैकलक्षणात्र
न सद्दर्शनमिव नैकत्वं भिन्नभिन्नावस्थानामेवाभिमते । समदर्शिनः
... ततस्तद्दृष्टयः सर्वेषामपि यथाभिलाषाः पूर्णकामा भवन्ति ।

पत्नी के नाम
सन्देश।
अनुमित श्री:

① पत्युः श्रेयः प्रतिहितपरां प्रार्थयन्तीं परेशं
प्रेम्णा पूतां मतिमसिमतीं पालयन्तीं स्वशीलम् ।
चित्ते चञ्चत्तव पतिचरणौ चर्चितौ चिन्तयन्तीं ।
साध्वीं पत्नीं महितमुनयो वन्दनीयां वदन्ति ॥१॥

*

② नित्यानन्दे महति महसां वासने वर्तमानं
गौरीकान्तं दहरकुहरे संस्थितं भावयन्तम् ।
संसारेऽस्मिन्कलुषमसृणे मङ्गलेभ्यः प्रतीपे ।
मोहावर्ते पुनरपि न मां पातयेथाः सुशीले ॥२॥

*

③ भोगाः केचिल्ललितललिता घोरघोराश्च केचि-
त्सर्वे काला क्षणपरिणता नाशमेव व्रजन्ति ।
वित्तं विद्या वपुरनुपमं वास्तवं वस्तु नैत-
त्किंचित्तस्मात्प्रियमे चिरसासासनाविरिश्वस्वम् ॥३॥

*

④ स्थाने स्थाने ललितकलनं निर्गमं सङ्गमं वा ।
लोकाः स्वान्ते ह्यायतियथा बालुकायां कणानाम् ।
कामं वाञ्छा विविधरुचि नव्या लालिता लालसा स्वार्थ
लोकाचारलेशं घटयति गुरुः स्वामिनः प्रीतिनाम ॥

(५) कल्याणानां वसतिं हृदये कामना चेत्त्वदीये
तां कल्याणीं परममहिषीं मानसे भावयेथाः।
दुःखं दैन्यं दुरितदहनी दूरये देवतानां
या सा सूते सपदि सकलाः सम्पदः सुप्रसन्ना॥५॥

*

(६) आलिस्वान्तो यदि मयि परं प्रेम कल्याणशीले
शीलं वंशो रुचिरमणुमप्यपि प्रापयेथा न कांचित्।
कांचित्क्रियां रसयं महितां शाम्भवीं नाथिभूतिं
भूतिर्यस्याः परकरुणया प्रापणीया समस्ता॥६॥

*

(७) बद्धापत्र क्लेन मालिधेनऽहमोहं भावयेथ
स्वादुस्वादे ललितललिताऽभिन्नबिम्बौ स्वरूपे।
आनन्दानां जयिनि महतामुत्तमानां निधाने
सर्वभावं रसयितुमहो शीलवत्यहर्निशम्॥७

*

(८) आस्मिन्गात्रे जननमरणक्लेशचक्रेऽपवित्रे
हित्वा मोहं विमलहृदये मां सतीं पश्यतेत्थम्।
मुक्तिर्दासी भवति सकला यद्भुपादद्वयात्त-
दासीं भार्यां स्मरदमार्गीं नाथां सुमाले भजेथाः॥८

*

वैराग्यं ते वितरतु महद् विश्वनाथः स एव
पाथःप्रीतिं चरणकमले भक्तिरानन्दसारम् ॥
मान्यो धीमान् भवति मनुजो यस्य साक्षान्निषेव्य:
चक्षो लब्धुं प्रभवति पदं शाश्वतं केवलः स्वम् ॥९

(१) कामरूपयो राहे लालितया साधु कामेश्वरं तं
स्वान्ते ध्याने प्रतिदिनमभिध्यायतो विश्वरूपम् ।
निर्द्वन्द्वे प्रतिगततनुम् सम्यगाप्नोति कल्याणा:
कल्याणाय प्रभवतु चिरं चारुसन्देश एषः ॥१०॥
२०.७।७०

ज्ञाननामभिते वर्षे पौर्णमास्यां शुचौ रवौ ।
निरमाच्चारुसन्देशं विद्वानमृतवाग्भवः ॥११॥

* * *

१ भवतान्तरेष्वाहो के पुराणेषु प्रसिद्धयोः ।
२ एरावतीचन्द्रभागानद्योर्मध्ये स्थिते पुण्ययोः ॥
३ स्थिते श्री लायलपुर महाविद्यालये शुभे ।
४ पुण्यश्लोके ऋषिकुले ब्रह्मचर्याश्रमस्थिते ॥
५ [illegible] ~~[illegible]~~ प्रसन्नरेह ।
~~[illegible]~~
[illegible]
[illegible]

# स्वाध्याय महिमस्तोत्रम्

अनुदित

(१)

तत्तं द्राष्ट्रे मानवानां व्यवस्थां।
शोभासम्पच्छालिनी मार्य रीत्या।
प्रेम्णा लोके स्थापयँ सात्त्व दर्शी।
श्री स्वाध्यायः कल्पतां विश्व भूत्यै॥

(२)

शान्ति प्राप्तौ स हृदभिमते भुक्ति मुक्ती उभे ते।
वाञ्छन्त्येौ जगति सकलो जीवलोकः स्वभावात्।
वाञ्छापूर्तिः कथमिव भवेदन्तरा सत्प्रयत्नं।
स्वाध्यायोऽयं मनसि सुतरां स्फारयेत्तं प्रयत्नम्॥

(३)

राष्ट्राऽऽन्दोलके प्रसृमरस्तु चौ सर्वतन्त्र स्वतन्त्रे।
शान्ते स्वान्ते प्रसरति गतेऽनार्य भावे विनाशम्।
आनन्दाप्तिर्भवति नियतं वैरि वर्गे विलीने।
स्वाध्यायोऽयं प्रथयति जने तत्त्वमेतत्समस्तम्॥

(४)

स्वाराध्यानां दिशति सरलं मार्गमाराधनाया।
स्वाराज्यस्य प्रथयति नाधिप्रस्थितानां प्रतिष्ठाम् ।
स्वापं तापं शमयति च यो राष्ट्रियाणां समं स
स्वाध्यायोऽयं रचयति नवातु भवतां भूतये भूतलेऽस्मिन् ॥

(५)

राष्ट्रं राज्यं रचयति रसो रंहसो रक्षणानां
प्रज्ञानाय प्रभवति पुनः ज्ञानिनां सम्प्रदायात् ।
सीतारेऽस्मिन्सपदि सकलाः सम्पदः सम्प्रसूते
स स्वाध्यायो जयतु जगतां जागरूको जयाय ॥

(६)

कृतघ्नानां दुःशासननिपतितानामनिदुषां
घृणामीक्षामात्राद्द्रि दलयति गाढां कुधिषणाम् ।
धृतिं स्वातन्त्र्यस्य प्रत्यमररुचिं स्फारयति तं
कृताय स्वाध्यायं भरत जगतीं जागरयतु ॥

(७)

अविद्यामुन्मूल्य प्रथयति सुविद्यां जगति यः
सुखोपायाँल्लोकान्सरलसरलान्बोधयति च ।
चतुर्वर्गोऽपेतां क्षपयति कुरीतिं सपदि तं
विहाय स्वाध्यायं जगति न सहायो विजयते ॥

(८)

जिज्ञासासक्तु नारीणां समुदयति चित्ते क्षिति मते ।
समाम्नायं श्रान्त्या ननु कतिपये मूढमतयः ।
अहिंसां भावन्ते सुरजनहितां पद्धतिमिमा-
मितीनं स्वाध्यायं सदयमनताः स्पृहयत ॥

(९)

वेन तानां वन्ध्या प्रसभ मति नीतै रपटुभिर्-
र्हीना दुष्टा नाम ह ह पतिता सा परतले।
तदन्मा को शक्ती प्रति दिन महिंसाऽच्च भवतो॥
सहायं स्वाध्यायं सपदि बुध सङ्घेन वृणुताम्।

(१०)

अहन्ता का कांवा भवति ममता दुःख जननी
चिरं चिन्ता येषां हृदय मिय मालम्बितवती।
विहायाऽनास्थासं सकृदपि गत भ्रान्ति मनसा
जना स्तौ स्वाध्यायं विदधतु सहायं सुरव रम्॥

(११)

रमन्ते स्वर्लोके सुकृत परिपाकेन सुजना
श्चयवन्ते दुष्कृत्या झटिति नरकान्तश्च कुजनाः।
रहस्यं कृत्यानां सकल भवगन्तुं सदसतां
भजे श्री स्वाध्यायं विमलगुरु भावेन भजत॥

(१२)

संसारे वाऽसारं जगदवितथं वाऽस्ति वितथं
सदा येषामेवं तुदति हृदयं संशय गराः।
भजन्तां निःशङ्कं कृति शत समीड्यं जगतिते
जनाः श्री स्वाध्यायं सपदि परमं निर्णयपदम्।

(१३)

समर्थं स्यादन्नं जगति नु महर्घं तदथवा
करैवं जिज्ञासा वसति हृदि येषां बलवती।
जे॰स कृते तेषां प्रशमनचरं धन्यमतुलं
विहाय स्वाध्यायं न किमपि परं साधनमिह॥

(१४) २०

स्वतन्त्राणां वार्तां अय [illegible] वृत्तौः परवतां।
सरवीन्स्वान्साकं ते [illegible] योग्यां कुच कारताम्।
प्रचारं चारित्रं गमनमति [illegible]
तेनः श्री स्वाध्यायः [illegible] भवतारं गमनतु॥

(२५)
१५

समन्तीं रचनां त्वां विषय रुचये वस्तु मिच्चयं ।
नूर: सीद हान: प्रकृति कुमरों कित मिन चेत् ।
अनर्ह: कल्याणं कलायितु मनी चित्र मिह किं
विहाय स्वाध्यायं क इह सादुपायी कथयतु ॥

(२६) २१
तम: लोके नेतुं शम मतुल मन्त हृदि ततं ।
सुधांशुर्य: साक्षान्मति कुमुदिनी प्राणनिकर: ।
ततो लोके नित्यं भवति गरान्तातीत महिमा
महान् श्री स्वाध्याय: [illegible] मितनुं तन्वन् विजयताम् ॥ सत्य

(२७) १९
अ बुद्धानां बुद्धा न्तहज मलिना न्निर्मल गुणान्
अकुर्वो वैधेमान्कर कलित शास्त्रार्थ निकरान् ।
आ शालान्ती शालान्सपदि भजत: स्वं विरचय-
न्न मे श्री स्वाध्यायो नरमखिल भद्राणि नमतु ॥

(२८) १५
स्वतो नौ ने रीयन्भवति न रचो या जनि च य:
स्वयं ज्योति: स्वात्मा स्व हृदि निरे[illegible] वसति ।
स लम्भो ऽलम्भो वा भवति गदितुं केन सुशको
विना श्री स्वाध्यायं दलित भव भेदं बुधवरा: ॥

(२९) १७
चमत्कारं कञ्चिद्रचयति कवे: कर्म परमं ।
बुधा: प्राहु: काव्यं रुचिर रुचि शब्दार्थ कलनम् ॥
अतो नित्कर्म व्रजति खलु नो काव्य पदवी-
मिति श्री स्वाध्याय: प्रभवति रहस्यं गमयितुम् ॥

(३०) १५
सुखी ना दु: खी वा भवति यदधीनं तदुदितं ।
विचाराणां जातं हृदय मिति सीशीति [illegible]तम् ।
पवित्री कर्तुं तत्त्व हित रचनायै समुदितं
भजन्तो स्वाध्यायं कविकुल निषेव्यं कृतिवरा: ॥

(३१) १८
भजन्ते ये भोगान् कृपण [illegible] तिरयिता-
नमन्तो [illegible] भोगा [illegible] विदधाताम् ।
[illegible] मरण [illegible] भोगनिपुणा-
[illegible]

स्थानम् — ब्राह्मणग्रामः श्रीः वि. सं. १९९२

आरुद्धा

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं गुरुं स्वस्य ततो जपुम् ॥
त्रिवर्गशक्तिसुभगं पूर्णबिन्दुं शिवं नुमः ॥ १
तिरुवं योगतं पुण्यं पिबन् शिवमहामृतम् ॥
धन्यो निखिलभारं ग्रन्थं करोत्यंभ तवागमः ॥ २
पूर्णाम: कामदजया कृतितः सरलश्च सन्
गौरवं लाघवं विन्दन् शिवो जयाति स ध्रुवः ॥ ३
वैखरीकी बिन्दु शक्तिः प्रसन्नाख्या त्रिकोणगा ॥
अनुग्रहाय नक्तं गौरवं प्रतिपद्यते ॥ ४ ॥
सैव मध्याऽविकासेन पशु भावाऽवलम्बिनी ॥
सरजा निग्रहायैव लाघवं प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥
पूर्णया निजया शक्त्या पूर्णबिन्दुर्विभर्ति सौ ॥
ज्योतिर्मयं वाङ्मयं च समस्ताऽऽलोकलोकनम् ॥ ६ ॥
शिवस्य ज्योतिषो नित्यसम्बद्धं वाङ्मयं शिवा ॥
वाचिका लक्षिका शक्तिर्व्यञ्जिकाऽनन्यरूपिणी ॥ ७
यदा ज्योतिः शिवो वाक्स्यात्तदा शक्तिर्निजं वपुः ॥
यदा ज्योतिः शिवा वाक्स्या तदा कित शिवो वपुः ॥ ८ ॥
तदेवं शिववेदस्य रूपद्वयमुदाहृतम् ॥
ज्योतिर्लिङ्गं सर्वमुख्यं वाङ्मयं शब्दपुङ्गवम् ॥ ९ ॥
वेदविद्भिः षडङ्गानि समाम्नातानि पण्डितैः ॥
वेदसारोः स्फटरस्य विविक्ता स्युप योगतः ॥ १० ॥
शिक्षाऽऽख्या ... छन्दस्त्वसं नक्षत्रसेवकम् ॥
... गौतोषं कल्पः ... [illegible] त्रयम् ॥ ११

साङ्गवेदविदां मुख्यैः सर्वैरपि महर्षिभिः ।
वेदानां चरणत्वेन छन्दस्तत्र निरूपितम् ॥ १२ ॥
छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥ १३ ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणम् स्मृतम् ।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥ १४ ॥

पृ. दर्शितत्वात् —

"सौ जौ गश्चिलनृत्यति: स सोम:"(१) "नन्दप्रज्ञयती रसौ ग्रौ रासलीला गौ" (४)

(१) उदाहरणान्तरं यथा ममैव —

म. स. ज. गु. गु.

राधाया हरिसङ्गमोत्सुकाया
S S S, I I S, I S I, S, S,

गानैर्या यमुनातटे निशीथे ॥
चित्तानन्दिनि राणि गार्गी दीपो
जातो यः स सुखं ददातु सोम:" ॥ १ ॥
(त्रिष्टुब्भेदेषु ३४५ तमोऽयं भेद:)

"वसुधा गदिता ससौ जगौ ग:" (२)

(२) उदाहरणान्तरं यथा ममैव —

स. स. ज. गु. गु.

मनुजा निजधर्मकर्मशीला:
I I S, I I S, I S I, S, S,

सुखसाधनराष्ट्रनीतिविज्ञा: ॥
गतलैकमता भवन्ति यस्यां
वसुधा सुरराजधाम सा स्यात् ॥
(त्रिष्टुब्भेदेषु ३४८ तमोऽयं भेद:)

"रासलैर्गुरुणा भ्रमरावलि:" (३)

(३) उदाहरणान्तरं यथा ममैव —

स. स. स. गु.

तिमिरेऽपगते क्षणदासा-
I I S, I I S, I I S, S

स्तणावुदितेऽरुणरश्मौ ॥
अयते तरसा कलशना
कमलात् कमलात् भ्रमरावलि: ॥ ३ ॥

(४) उदाहरणान्तरं यथा ममैव —

र. स. य. र. गु. गु.

यामुने पुलिने सुरम्ये गोपरामाणां
S I S, I I S, I S S, S I S, S, S,

वासुदेवमुखारविन्दं प्रेक्षमाणानाम् ॥
सालिकै: समभावभङ्गैर्मण्डिता स्तुत्या
जायतां सुखदुर्लभा सा रासलीलानः ॥ ४ ॥
(शक्वरीभेदेषु ११९५ तमो भेदोऽयम्)

"वाग्देवी मनयययैरु रामबाणाश्वयसा" (५)

(५) उदाहरणान्तरं यथा ममैव —

म. न. य. य. य.

सत्काव्यं ललितपदं रम्यवर्णोज्ज्वलाढ्यं
S S S, I I I, I S S, I S S, I S S

स्पष्टार्थप्रसकलनं भावरत्नैरुपेतम् ॥
सामर्थ्यं निरचयितुं सर्वदा सुप्रसन्ना
वाग्देवी ननु कृपया भक्तिमद्भ्यो ददाति ॥ ५ ॥
(अतिशक्वरीभेदेषु ४७२९ तमो भेदोऽयम्)

छन्दोविसम्मरे —
अथ बृहती — (९ अक्षरजातिः) — छन्दः शास्त्र

"भद्रिका भवति रन्नरैः" (१)
(१) उदाहरणान्तरं यथा मामैव —
र. न. र.
शम्भुनाथचरणाब्जयो-
S IS, I I I, S I S,
रर्पिता सकरणा तनुः ॥
लोकसङ्ग्रहपरायणा
भद्रिका भवति सर्वतः ॥१
(

"कामिनी विभाति रजरैः" (२)
(२) उदाहरणान्तरं यथा मामैव —
र. ज. र.
प्रेमभाजिनं प्रियैर्गुणैः
S I S, I S I, S I S,
कान्त येतरस्योऽस्ति या सदा ॥
चेतसाऽपि नाऽन्यमीक्षते
कामिनी वदन्ति तां बुधाः ॥ २ ॥
(

(३) "रन्नसैः [illegible] हलमुखी" (३)
(३) उदाहरणान्तरं यथा मामैव —
र. न. स.
भारतं प्रपीडितं पतिभिः
S I S I I I S I S
[illegible] गुणैः ॥
[illegible]
[illegible]

"भुजगशिशुभृता नौमः" (४)
(४) उदाहरणान्तरं यथा मामैव —
न. न. म.
पतितजनसमुद्धारे
I I I, I I I, S S S
तरणिरभवाम्भोधौ ॥
विलसति सुतनुर्नित्यं
भुजगशिशुभृता रम्भोः ॥ ४ ॥
(बृहतीभेदेषु ४९ तमो भेदोऽयम्)

"सा मणिमध्या स्याद्भमसैः" (५)
(५) उदाहरणान्तरं यथा मामैव —
भ. म. स.
सन्ततमान्ता हेमगुणा
S I I, S S S, I I S,
मौक्तिकयुक्ता हारलता ॥
या भगवत्याः कण्ठगता
सन्मणिमध्या राजति सा ॥ ५ ॥
(

"राजसैर्भुजङ्गसङ्गता" (६)
(६) उदाहरणान्तरं यथा मामैव —
स. ज. र.
गरलोऽद्रिकण्ठरम्भिनी
I I S, I S I, S I S,
करुणार्द्रचित्तमण्डिता ॥
[illegible] मूर्तिरञ्जिता
[illegible] भुजङ्गसङ्गता ॥ ६ ॥

छन्दोविरचनमार्गे—

अथाऽतिजगती—(१३ अक्षरा जातिः) छ० र० ३: ६७१२९ (६)

"म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणी स्यात्" (१)

(१) उदाहरणान्तरं यथा ममैव—

म: न: ज: र: ग:
धीराणां गिरिकुहरेषु योगभाजां
S S S, I I I, I S I, S I S, S
रम्यानां निजहृदयेषु सर्वदैव ॥
कामिभिः सुकृतीनि मानसे शरीरे
दृष्पन्त्या पतति मनः प्रहर्षिणी सा ॥ १॥

"सजसा जगौ यदि तदा तु नन्दिनी" (२)

(२) उदाहरणान्तरं यथा ममैव—

स: ज: स: ज: ग:
नृपभानुजाकलित चारुमानसा
I I S, I S I, I I S, I S I, S
वृषभानुचार निगृहीत दानवा ॥
वृषभानुजाकलित निश्वभावना
प्रतिमा हरेर्जयति नन्दनन्दिनी ॥ २॥

"अक्षा बुधैस्तभसजगाः प्रभावती" (३)

(३) उदाहरणान्तरं यथा ममैव—

त: भ: स: ज: ग:
मा सर्वदा निजपति पादपङ्कजे
S S I, S I I, I I S, I S I, S
मुग्धं मनो भ्रमरवरं नियोजयेत् ॥
संसारिणां निजवचनप्रभावत:
कर्तुं समं प्रभवति सा प्रभावती ॥ ३॥

"भवति मृगेन्द्रमुखं नजौ जरौ गः" (४)

(४) उदाहरणान्तरं यथा ममैव—

न: ज: ज: र: ग:
दुरधिगमं गहनं द्रुमालिशालि
I I I, I S I, I S I, S I S, S
व्रततिचितं गिरिगह्वराकुलं च ॥
न किल कदाऽपि रमणाय वृन्दगोप्यं
जयति मृगेन्द्रमुखं प्रमाणि यत्र ॥ ४॥

"द्व यदि ननससगाः [illegible] चण्डी" (५)

(५) उदाहरणान्तरं यथा ममैव—

न: न: स: स: ग:
चरणपतितजनदुःखनिहन्त्री
I I I, I I I, I I S, I I S, S
भवजलनिधिगत तारणकर्त्री ॥
अविदितनयजनवृन्दनियन्त्री
जयति जगति ननु मा मम चण्डी ॥ ५॥

"रुत हयशतिर्विषुद्रसौ तौ गयदि" (६)

(६) उदाहरणान्तरं यथा ममैव—

न: स: त: त: ग:
गरलकलितैः प्रमोगेरोनाऽस्य यो
I I I, I I S, S S I, S S I, S,
नमारवसिता भूमसुतादोर्जता ॥
मदनन्दपते! भ्रान्तोऽसि काले धने
धवलांकिरणाविपुलास्ते ऽपुनः
क्लिलेयं घने

## सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची


### वैदिक-साहित्य -

1· ऋग्वेद, निगम शास्त्र·

2· यजुर्वेद, निगम शास्त्र; गीताप्रेस, गोरखपुर·

3· कठोपनिषद्, निगमशास्त्र; गीताप्रेस, गोरखपुर·

4· तैत्तिरियोपनिषद्, निगमशास्त्र; गीताप्रेस, गोरखपुर·

5· पारस्करगृह्यसूत्र, निगमशास्त्र, चौखम्भा, संस्कृत, वाराणसी·

6· श्वेताश्वतरोपनिषद्, निगमशास्त्र, गीताप्रेस, गोरखपुर·

### पौराणिक साहित्य -

1· श्रीमद्भागवत महापुराण, महर्षि वेदव्यास, गीताप्रेस, गोरखपुर·

2· श्रीमद्भगवद्गीता, महर्षि वेदव्यास, गीताप्रेस, गोरखपुर·

3· श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, महर्षि वाल्मीकि, गीताप्रेस, गोरखपुर·

4· श्रीशिवमहापुराण, महर्षि वेदव्यास, गीताप्रेस, गोरखपुर·

### साहित्यशास्त्र -

1· अलंकारसर्वस्वम्, आचार्य रुय्यक·

2· काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी·

3· काव्यालंकार, आचार्य भामह·

4· वक्रोक्तिजीवितम्, आचार्य कुन्तक·

5· साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ, चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी·

### दर्शनशास्त्र -

1· ब्रह्मसूत्र·

2· वेदान्त; आचार्य शंकर·

3· योगदर्शन, महर्षि पतंजलि·

4· सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य·

5· सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण·

तान्त्रिक वाङ्मय

1. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, आचार्य उत्पलदेव.
2. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवेचनी, आचार्य अभिनवगुप्त.
3. कल्पवृक्ष प्रबन्ध, आचार्य साहिब कौल.
4. काश्मीरशैव-दर्शन, डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित.
5. गौडपादकारिका, आचार्य गौडपाद.
6. चित्तसन्तोष त्रिंशिका, नागार्जुन.
7. तन्त्रालोक, आचार्य अभिनवगुप्त.
8. तन्त्रसार, आचार्य अभिनवगुप्त.
9. परमार्थसार, आचार्य अभिनवगुप्त.
10. पराप्रवेशिका, आचार्य क्षेमराज.
11. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, आचार्य क्षेमराज.
12. बोधपंचदशिका, आचार्य अभिनवगुप्त.
13. बोधविलास, आचार्य क्षेमराज.
14. मालिनीविजयवार्तिक, आचार्य अभिनवगुप्त.
15. शिवदृष्टि, आचार्य सोमानन्द.
16. शिवसूत्र, आचार्य वसुगुप्त.
17. शिवसूत्रवार्तिक, भट्ट भास्कर.
18. शिवसूत्र वृत्ति, भट्ट कल्लट.
19. शिवसूत्रविमर्शिनी, आचार्य क्षेमराज.
20. श्रीविद्या, आ. शिवोपाध्याय.
21. स्पन्दविवृत्ति, आ. रामकण्ठ.
22. स्पन्दकारिका, भट्ट कल्लट.
23. स्पन्दनिर्णय, आ. क्षेमराज.
24. स्पन्दप्रदीपिका, उत्पल वैष्णव.
25. स्तवचिन्तामणि, भट्ट नारायण.

संस्कृत महाकाव्य -

1· रघुवंश महाकाव्यम्, कालिदास·

संस्कृत नाटक -

1· उत्तररामचरितम्, भवभूति·

अन्य ग्रन्थ -

1· संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय·

2· श्रीमदमृतवाङ्·मय परिचायिका, डा॰ बलजिन्नाथ पण्डित, श्रीविद्याप्रकाशन, नई दिल्ली·

पत्रिका -

1· आचार्य श्रीअमृतवाग्भवदर्शन, सं0 पं· दुर्गादत्त शर्मा, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध-संस्थान, जयपुर;

2· परमपूज्य श्री बाबा महाराज, सं0 पं0 दुर्गादत्त शर्मा, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान, जयपुर ।

3· श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य स्मृति-ग्रंथ, सं0 पं0 दुर्गादत्त शर्मा, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध-संस्थान, जयपुर ।

4· श्रेयः·

5· श्री स्वाध्याय पत्रिका·

6· सूर्योदय: पत्रिका, श्री भारत धर्म महामण्डल, जगतगंज, वाराणसी कैंट·

हिन्दी रचना -

1· रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर·